Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

L-5
Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

L-5
Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेखक के अन्य ग्रंथ—

१. पन्त का काव्य और युग—किताब महल, इलाहाबाद, १९५१
२. मनस्तत्व—हिन्दोस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, १९५८।
३. अनुभववाद (सम्पादित)—अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९६०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

लेखक—

यश देव शल्य

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकाशक :
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्,
फरीदकोट (पंजाब)।
अगस्त १९६१

प्रथमावृत्ति १०००
मूल्य —
पुस्तकालय संस्करण रु० १०–००
साधारण संस्करण रु० ६–००

मुद्रक :
गुर अमृत प्रिंटिंग प्रैस,
फरीदकोट (पंजाब)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समर्पण

स्वर्गीय पिता जी
(श्रीयुत् देवी दयाल जी)
की
स्मृति में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकाशकीय

श्री यश देव शल्य की "दार्शनिक विश्लेषण" पुस्तक दर्शन की इस विशेष प्रणाली पर हिन्दी में दूसरी पुस्तक है, प्रथम पुस्तक उन्हीं द्वारा सम्पादित "अनुभववाद" थी, जिसका प्रकाशन परिषद् ने गत वर्ष किया था। ये पुस्तकें इस लिये तो महत्वपूर्ण हैं ही कि ये इस प्रकार की प्रथम दो पुस्तकें हैं किन्तु इस लिये भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये हिन्दी में मौलिक तथा उच्चस्तर के दार्शनिक विचार की परम्परा को आगे बढ़ाती हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि हमारे इस प्रकाशन का दार्शनिक विद्वानों द्वारा उचित स्वागत होगा।

डा॰ भी॰ ला॰ आत्रेय
प्रधान, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वाराणसी
१५-८-६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

हम सामान्यतः आन्तरिक या बाह्य घटनाओं अथवा वस्तुस्थितियों को एक परम्परागत और सुविधाजनक ढंग से देखते हैं और उनके साथ अभ्यासेन सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह सब इतना सहज, इतना प्राकृतिक और इतना उपयोगी होता है कि इस के सम्बन्ध में किसी अन्य प्रकार से सोचना, इसके सम्बन्ध में सन्देह करना विचित्रता, मूर्खता और कल्पनाधिक्य प्रतीत होता है। किन्तु फिर भी कभी कभी कुछ लोगों ने इस सहज, सामान्य संसार के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं।

प्रश्न अनेक प्रकार से किये गये हैं। प्रश्नों का एक प्रकार है– "मैं उत्पन्न हुआ, आखिर क्यों उत्पन्न हुआ ?" "यह संसार है, यह क्यों ऐसा है ?" ये प्रश्न अपनी वस्तु (कांटेंट) में इस प्रकार के हैं– "राम ने रावण को मारा, आखिर उसने उसे क्यों मारा ?" "तारे रात्री को दिखाई देते हैं, ये दिन में क्यों दिखाई नहीं देते ?" हमारे ये दूसरे प्रश्न पहले प्रश्नों से इस बात में भिन्न हैं कि पहले प्रश्नों में एक रहस्यात्मकता है और भय-मिश्रित विस्मय है, जबकि दूसरे प्रश्न घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध से (उद्देश्य को भी कारण मानते हुए) अपरिचय के परिणाम हैं। पहले प्रश्न इन अतिरिक्त विशेषताओं, तथा एक अन्य विशेषता–अज्ञेयता– के कारण दार्शनिक प्रश्न समझ लिये गये। किन्तु कुछ दूसरी प्रकार के प्रश्न हैं, जो इस श्रेणी के प्रश्नों में नहीं रखे जा सकते जैसे – "मैं जब मेज़ को देखता हूँ तब यह एक प्रकार का प्रतीत होता है, जब मैं इसका स्पर्श करता हूँ तब यह दूसरे प्रकार का प्रतीत होता है, किन्तु यह वास्तव में किस प्रकार का है ! और जब मैं न इसे देखता हूँ, न स्पर्श करता हूं तब यह किस प्रकार का होता है ?" इसी प्रकार, "मैं स्वप्न में मेज़ देखता हूँ, जागने पर वह नहीं देखता, अब इस स्वप्न के मेज़ का क्या अस्तित्वमूल्य है ! क्या स्वप्न का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मेज़ वास्तव मेज़ न होकर केवल मानसिक कल्पना थी, तब इस का क्या भरोसा कि यह सभी कुछ स्वप्न नहीं है?" ये प्रश्न किसी कारण-कार्य के सम्बन्ध में नहीं हैं, ये एक तथ्य या घटना के दूसरे उसी प्रकार के तथ्य या घटना से विरोध, अथवा संगति के अभाव, (अथवा कहें, संगति और व्याघात) अथवा परिणाम के सम्बन्ध में हैं। स्थूलरूप से ऐसे प्रश्नों को हम दार्शनिक प्रश्न कह सकते हैं।

मनुष्य तर्कशील या विचारशील प्राणी कहा जाता है। विचार की यह प्रकृति है कि यह एक संस्थान, एक नियमित समवाय में घटित होता है; दूसरे शब्दों में, प्रत्येक विचार अन्य अनेक विचारों को लागू करता है और कुछ अन्य विचारों का बाध करता है। विचार के विना संसार (बाहरी या भीतरी) केवल असंबद्ध, या इन संबन्धों से भिन्न प्रकार के सम्बन्धों (जिन्हें हम तथ्यात्मक सम्बन्ध कहते हैं) से सम्बद्ध, घटनाओं की भीड़ है। सामान्यतः मनुष्य का संसार भी घटनाओं की भीड़ का संसार ही है जिनमें सम्बन्ध केवल शरीर वैज्ञानिक (अभ्यास जनित) सम्बन्ध हैं। विचारशीलता के नाते वह इस नियमितता को कभी कभी घटनाओं से पृथक् भी कल्पित कर लेता है, किन्तु वह ऐसे प्रश्नों तक नहीं पहुंचता जो विचार की अपनी विशेषताएं हैं। 'मैं क्यों उत्पन्न हुआ?' प्रश्न ही लें। यह प्रश्न इस विश्वास से जनित है कि "सब घटनाओं का कारण होता है," जोकि विश्वास हमारे सामान्य व्यवहार में अर्जित अभ्यास पर आधारित है। विचार के स्तर पर (स्थूलरूप से) यह प्रश्न तब आता है जब हम पूछते हैं, 'जितनी भौतिक घटनाएं हमने देखी हैं उन सब का कोई कारण था, जितनी मानसिक घटनाएं हम ने देखी हैं उनका कुछ उद्देश्य था, अब यदि उत्पत्ति भौतिक घटना है तो इस का क्या कारण है, और यदि मानसिक घटना है तो इस का क्या उद्देश्य है (किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मेरी उत्पत्ति हुई?), अथवा क्या यह आवश्यक है कि सब घटनाओं का कुछ कारण हो? और क्या यह आवश्यक है कि सब मानसिक घटनाओं का कुछ उद्देश्य हो? अन्यथा इस विश्वास के लिये मेरे पास क्या आधार है?'

अब विचार के क्षेत्र में जो संगति और व्याघात के नियम हैं उनसे संसार (अथवा कहें, हमारा घटनाओं का संसार) कितना शासित है, यह कहना अनावश्यक है। संभवतः संसार तर्क के नियमों से शासित नहीं है, किन्तु जो कुछ विचार के क्षेत्र में है, वह अवश्य विचार के नियमों से शासित है। इसीलिये जब हम खाना खाते हैं, अथवा जब हम अपनी कुर्सी पर बैठते हैं, अथवा जब हम अपने साथियों से वार्तालाप करते हैं तब हमें उनके सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं होता, होना चाहिये भी नहीं, क्योंकि बैठक में पड़ी कुर्सी बैठने के लिये है, बैठना हमारे जीवन के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

अनेक व्यापारों में से एक व्यापार है, और जीवन के व्यापार तार्किक नियमों से नहीं, व्यावहारिक सुविधाओं से शासित होते हैं।

इस का यह अर्थ नहीं है कि जीवन के व्यापारों का विचार से (जोकि स्वयं एक व्यापार है) कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विचार का जीवन-संघर्ष में सहायक होना एक बात है और विचार का स्वयं अपने ही क्षेत्र को अध्ययन का विषय बनाना दूसरी बात है। विचार की यह विशेषता है कि वह जैसे ही अपनी वर्गणा के नियमों को क्रियान्वित करता है वह एक संस्थान को तनता है। यह संस्थान एक पूर्ण संसार है। यदि हमारे संसार की सृष्टि विचार से हुई है तो अवश्य यह भी एक ताना है जो इस ताने के किसी भी एक सूत्र से तथा संस्थानीकरण के नियमों से निर्धारित होता है। यदि विश्व-विचारक ने किसी अन्य दिशा में तर्क आरंभ किया होता तो यह संसार भिन्न होता। इस विश्व-विचारक के सम्बन्ध में हम आगे भी कल्पना कर सकते हैं– उसने अपने संसार की रचना (अथवा अपने वितान का तनना) सारी एक साथ नहीं करली होगी और न शायद वह अपना ताना कभी पूरा कर पायेगा, किन्तु यदि वह अपने विचार के नियमों को ठीक प्रकार से समझता है तो वह ऐसी कोई रचना नहीं करेगा जो उस की शेष रचना से असंगत हो।

इसी प्रकार दार्शनिक एक ताना तनता है और यह ताना उसका संसार है। विभिन्न दार्शनिक या तो पृथक् पृथक् ताना तनते हैं और वे विभिन्न संसारों की सृष्टि करते हैं, अथवा एक दार्शनिक दिखाता है कि दूसरे दार्शनिक ने अपने ताने के नियमों को ठीक प्रकार के नहीं समझा और कुछ असंगत रचनाएं कर डालीं। इसके अतिरिक्त, दार्शनिक अपने संसार की रचना में जब प्रवृत्त होता है तो उसे अपने ताने की रूपरेखा, केवल एक ब्लू प्रिंट, तैयार करने में ही बहुत समय और परिश्रम की आवश्यकता होती है, एक पर्याप्त पूर्ण मानचित्र की रचना तो बहुत बड़ी बात है।

किन्तु क्या यह दार्शनिक का ही भाग्य (अथवा दुर्भाग्य) है कि वह एक निजी, और इस प्रकार काल्पनिक (?), संसार की रचना करने को बाध्य है?

दो कुत्तों को लें, जिनमें एक बहुत बलिष्ठ और दूसरा निर्बल है। क्या उनका संसार एक ही है? एक कुत्ते और एक मनुष्य को लें। कुत्ते का संसार गन्ध-प्रधान संसार है और मनुष्य का संसार चित्र-प्रधान है। एक अन्धे मनुष्य का संसार स्पर्श और पेशीय-अभ्यास-प्रधान संसार है। एक आशावादी और एक निराशावादी के संसार क्रमशः करुणामय और हर्ष-पूर्ण संसार हैं। न्यूटोनियन विज्ञान तथा आईंस्टीनियन विज्ञान के संसारों में भी गंभीर अन्तर है। डलस और स्टालिन के संसार कितने भिन्न थे, यह सब जानते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने संसार में रहता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

दार्शनिक केवल इस बात में भिन्न है कि वह देख सकता है कि ये संसार भिन्न-भिन्न संसार हैं, वह हमारे प्रदत्त संसार या संसारों के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर देता है और हमारी एक ऐसी इन्द्रिय को जगाता है जो इन विभिन्न संसारों के पीछे झांक कर इनके अर्थ को देखने में समर्थ होती है। आप कुर्सी देखते हैं? यदि आपके आंखें न होतीं तब? आपका मित्र दुखी है? शायद वह केवल मशीन ही हो! सामने बैठा मनुष्य सिर काटने पर अवश्य मर जायगा? किन्तु शायद वह अमर हो! आखिर, इस विश्वास के लिये आपके पास क्या आधार है? संसार असत्य है? तब आप 'सत्य' से क्या अर्थ समझते हैं? "य" सत्य है? किन्तु देखें आपकी ही सत्य की कसौटी से वह असत्य है। जीवन का क्या उद्देश्य है? आपका 'जीवन' और 'उद्देश्य' से क्या अभिप्राय है? अमुक-अमुक अभिप्राय है? तब (१) जीवन का उद्देश्य पूछना अर्थहीन प्रश्न है, अथवा (२) जीवन का उद्देश्य आपके अर्थानुसार तर्कतः अमुक है, अथवा (३) आपकी जीवन की परिभाषा ग़लत है क्योंकि इस से अमुक-अमुक प्रतिज्ञाएं लागू होती हैं, क्या आप इन्हें स्वीकार करने को तैयार हैं? ..... आदि-आदि।

किन्तु दार्शनिक स्वयं एक ताना तनने को बाध्य है। वास्तव में ताना तने बिना कुछ बात बनती भी नहीं, आप केवल ताने तोड़ते नहीं रह सकते, उस कार्य के लिये भी पहले आपको ताना तनना होगा। किन्तु दार्शनिक के कार्य की उपयोगिता हमें सन्देह-शील बनाने, अर्थों को अधिक गहराई से देख पाने और अर्थों को समझ कर सज्ञान ताना तनने में है।

प्रस्तुत पुस्तक दार्शनिक पुस्तक है और इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ताना तनने का प्रयास है। ताना पूर्ण होने का तो प्रश्न नहीं, किन्तु कितना अधिक यह तना गया है, इसके तनने में कितनी सुचारुता और सुष्ठुता है, और जितना यह नहीं तना गया है (जिन समस्याओं पर विचार नहीं किया गया है) उसे इसी विधि और इसी पदार्थ से कितनी योग्यता के साथ तना जा सकता है, और क्या यह इस प्रकार तना जा सकता है कि पहले के साथ इस का सामंजस्य स्थापित हो सके?, ये महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

इस पुस्तक के प्रथम निबन्ध में हमने ताने के उस पदार्थ और तनने की उस विधि पर विचार किया है जिससे हम भौतिक संसार की रचना करते हैं। दूसरे शब्दों में, उन प्रश्नों पर विचार किया गया है जो भौतिक वस्तुओं सम्बन्धी हमारे ज्ञान की समस्याओं के बारे में हैं, द्वितीय और तृतीय निबन्धों में हमने ताने के पदार्थ के चुनाव के औचित्य पर विचार किया है। ये निबन्ध हमारी अस्तित्व की सीमा और उस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमा के सम्बन्ध में हैं। ताने की ही भाषा में, इन निबन्धों में ताने के लिये जो सूत्र प्रयुक्त किये गये हैं क्यों वही उचित सूत्र हैं, इस समस्या पर विचार है। द्वितीय निबन्ध में मूलवाक्य किस वस्तु (अस्तित्व) का निर्देश करते हैं, यह समस्या है और तृतीय निबन्ध की समस्या है कि ताना क्या है और सूत्र क्या हैं। कुछ दार्शनिक उस ताने को भी सूत्र (पदार्थ-अस्तित्ववस्तु) समझते हैं जिसे हमने समवाय दिखाया है। इस प्रकार हम पूर्णतः विशिष्टतावादी (नोमिनलिस्ट) हैं।

चतुर्थ निबन्ध में उस ताने के पदार्थ और तनने की विधि पर विचार किया गया है जिसे हम मानसिक संसार कहते हैं। इसके पदार्थ के चुनाव का औचित्य भी वही है जो भौतिक संसार के ताने के पदार्थ के चुनाव का औचित्य है। यह निबन्ध भी प्रथम तीन निबन्धों के समान सूत्र और तनने की विधि से ही सम्बन्धित है।

अधिकांश भाववादी ज्ञानमीमांसात्मक व्यवहारवादी (इपिस्टिमेलोजीकल विहेव्यरिस्ट्स) हैं। किन्तु हमें वह स्थिति सन्तोषजनक प्रतीत नहीं हुई। इस प्रकार, जबकि हमारे ताने के सूत्र मानसिक और भौतिक विश्व के लिये समान रूप के हैं, ये अभिन्न नहीं हैं। हमने ज्ञानमीमांसात्मक विश्लेषण अथवा विघटन के लिये मानसिकता की वर्गणा को समाप्त करने, अथवा कहें, भौतिकता की वर्गणा में इसका समाहार करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की, और यह हमारे सामान्य विश्वास के अनुरूप भी है।

अध्याय ५,६,७, में अर्थ सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया है। अध्याय ५ में हमने इस समस्या पर विचार किया है कि जब हम पूछते हैं "आपका अमुक-अमुक कहने से क्या अभिप्राय है?" तब हम 'अर्थ' को किस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, अथवा कहें तब 'अर्थ' से हमारा क्या अर्थ होता है? अध्याय ६ में हमारी समस्या सत्य सम्बन्धी है। दार्शनिक पुस्तकों में हम 'सत्य शब्द के एक विशेष अर्थ पर ही विचार करते हैं। उदाहरणतः यदि कोई कहता है 'ब्रह्म सत्य है' तब या तो वह कहता है कि 'ब्रह्म है' अथवा वह कहता है कि 'अमुक-अमुक विशेषताओं से युक्त वस्तु ब्रह्म है'। इन में केवल दूसरा वाक्य ही उचितरूप से निर्मित वाक्य है। अब यह वाक्य सत्य है यदि कोई वस्तु वास्तव में कथित विशेषताओं से युक्त है, अन्यथा नहीं। हमने अध्याय ६ में 'सत्य' के केवल इस अर्थ में ही इस समस्या पर विचार किया है। दर्शन में अर्थ और सत्य की समस्याएं अन्य सब समस्याओं की आधारभूत हैं क्योंकि जब भी कोई कुछ कहना चाहता है तब उसका क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न प्रासंगिक है। किन्तु हम कैसे देखें कि उसका अभिप्राय क्या है? इसी प्रकार, प्रत्येक प्रकथन इस प्रकार प्रकथित होता है कि यह प्रश्न उस में प्रासंगिक है कि वह सत्य है या असत्य है? अब किसी प्रकथन की सत्यता किस बात में निहित है? यह जाने विना हम उसकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्यता के सम्बन्ध में जानने के अधिकारी नहीं होते।

अध्याय ७ में भी इन्हीं दो समस्याओं पर विचार किया गया है, किन्तु कुछ भिन्न प्रकार से। वाक्य के अर्थ का वाक्य से क्या सम्बन्ध है ? क्या अर्थ वाक्य में रहता है ? अथवा क्या एक वाक्य या पद का अर्थ दूसरे समानार्थक वाक्य या पद में निहित है ? इस निबन्ध की दूसरी समस्या है: सामान्यतः एक वाक्य दूसरे वाक्य को लागू करता है– 'राम मनुष्य है' वाक्य लागू करता है कि 'राम प्राणी है'; किन्तु 'मुझे ज्ञात है कि राम मनुष्य है' वाक्य क्या यह लागू करता है कि 'मुझे ज्ञात है कि राम प्राणी है?' हम यह स्वीकार करके चले हैं कि यह लागू नहीं करता, ऐसा मानने का औचित्य निबन्ध ४ से गृहीत होता है, साथ ही यह समानार्थकता की विस्तारात्मक भाषा में व्याख्याओं की अनर्हता से स्थापित होता है। इस प्रकार, समानार्थकता की समस्या और उस भाषा की समस्या, जिसे हम भावात्मक कहते हैं, परस्पराश्रित हैं। इसी निबन्ध में एक तीसरी समस्या पर भी विचार किया गया है, वह है ऐसे वाक्यों के सत्य की समस्या जो केवल अपने अर्थ अथवा तार्किक रूप के कारण सत्य समझे जाते हैं। इस श्रेणी के अधिकांश वाक्यों को स्वतः सत्यता इन में प्रयुक्त पदों की समानार्थकता से गृहीत होती है। इस प्रकार ये तीनों समस्याएं परस्पराश्रित हैं।

८ वें निबन्ध में हमने दार्शनिक प्रविधि, ताना तनने की कला के रूप, इस के औचित्य और इसकी सीमाओं पर विचार किया है। हमने जिस विधि को अपनाया है उसे 'दार्शनिक विश्लेषण' नाम दिया जाता है। हमारी तत्वमीमांसा, अथवा कहें, हमारे विश्लेषण की प्रतिज्ञा अनुभववादी है। अनुभववादी प्रतिज्ञा को हम तत्वमीमांसात्मक (मेटाफिज़ीकल) प्रतिज्ञा मानते हैं, इस अर्थ में कि इसे विश्लेषण और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह केवल एक विश्वास है जिसका कोई औचित्य नहीं। इसका औचित्य वास्तव में स्वतः स्पष्ट है, केवल इसे देखने की आवश्यकता है।

यहां दो शब्द भारतीय दार्शनिक परम्परा के सम्बन्ध में भी। हमारे विचार में हमारे दार्शनिक तर्क और तत्वमीमांसात्मक कल्पनाओं का उतना ही सहारा लेते थे जितना यूरोप के तत्कालीन दार्शनिक लेते थे। निश्चितरूप से ये लोग साधक नहीं थे। शंकराचार्य, धर्म कीर्ति, नागार्जुन, गौडपाद, मंडन मिश्र तथा उदयनाचार्य आदि कोई भी दार्शनिक साधक नहीं था। इन्होंने साधना को ज्ञान का साधन माना, यह एकदम दूसरी बात है क्योंकि इसका औचित्य सिद्ध करते हुए वे केवल तर्कशास्त्री या तत्वमीमांसक थे।

इसलिये आधुनिक दर्शन प्रणाली को मैं भारतीय प्रणाली का विरोधी नहीं मानता, इससे इसे उतना ही भिन्न मानता हूं जितना हेगल की प्रणाली से मानता हूं। अतः मैं उन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

विचारकों से सहमत नहीं हूँ जो इन दो प्रणालियों में कोई सामान्य आधार नहीं देखते। हमारे यहां एक दूसरी प्रणाली भी रही है, जिसे हम साधना अथवा रहस्यवाद की प्रणाली कह सकते हैं। यूरोप में इस प्रणाली के समानान्तर आजकल अस्तित्ववादी दार्शनिकों की प्रणाली है या पहले कुछ धार्मिक और आध्यात्मिक रहस्यवादियों की प्रणालियां रही हैं। किन्तु न किसी उपनिषद् के ऋषि ने शंकराचार्य की प्रणाली को अपनाया था और न शंकराचार्य ने उपनिषद् की प्रणाली को अपनाया था। हमारे विचार में इस अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

× × × × × ×

प्रस्तुत पुस्तक की एक विशेषता (कहें दोष) यह है कि यह हिन्दी में है, अथवा कहें कि, यह इंगलिश में नहीं है। हमारे कुछ अध्यापक यह समझते हैं कि दर्शन आदि विषयों पर केवल इंगलिश में ही विचार हो सकता है, हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में अधिक से अधिक अनुवाद या नकल हो सकती है। जब मैंने "अनुभववाद" पुस्तक में लिखने के सम्बन्ध में कुछ प्रोफेसर्ज़ को लिखा तो उन्होंने नकारात्मक उत्तर के साथ यह भी लिखा कि हिन्दी में केवल परिचयात्मक और सामान्य स्तर की पुस्तक ही होनी चाहिये, क्योंकि इस विषय से परिचित पाठक तो इंगलिश में ही इस विषय पर पुस्तकें पढ़ेगा, हिन्दी में नहीं। मैं इससे बड़ी दुर्भाग्य की बात की कल्पना नहीं कर सकता। यदि हिन्दी में इस विषय पर सचमुच कोई अच्छी पुस्तक हो तो उसे विषय से परिचित पाठक क्यों नहीं पढ़ें ? कुछ देशों में, जैसे इटली में, इस प्रणाली पर अभी हाल ही में लिखा जाना आरंभ हुआ है, किन्तु मुझे विश्वास है कि उन्होंने इटेलियन में पुस्तकें विषय से अपरिचित पाठकों के लिये नहीं लिखीं। इसके अतिरिक्त, ये प्रोफेसर्ज़ भारतीय दर्शन पर भी तो इंगलिश में पुस्तकें पढ़ना ही उचित समझते हैं ? किन्तु इंगलिश लोगों ने जब भारतीय दर्शन पर इंगलिश में लिखना आरंभ किया था तब उन्होंने यह कभी नहीं सोचा होगा कि वे इंगलिश में ये पुस्तकें क्यों पढ़ें। इस सारे दम्भ का जो एक हास्यास्पद पहलू है वह यह है कि ऐसा कहने वाले अधिकांश लोग किसी दर्शन-प्रणाली से सुपरिचित भी नहीं हैं, कभी कभी इसे समझने योग्य भी नहीं हैं। ऐसे लोग यदि इस पुस्तक को इसलिये नहीं पढ़ना चाहें क्योंकि हिन्दी में पुस्तक पढ़ना उनकी गौरवपूर्ण स्थिति के अनुकूल नहीं है, तो मुझे हर्ष ही होगा।

इस पुस्तक के ८ निबन्धों में से ३ निबन्ध पहले प्रकाशित हो चुके हैं। मूल वाक्य निबन्ध हिन्दोस्तानी एकेडेमी इलहाबाद की पत्रिका "हिन्दोस्तानी" के जुलाई १९५८ अंक में प्रकाशित हुआ था। "हिन्दोस्तानी" पत्रिका के सम्पादक के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रति हम यह निवन्ध इस पुस्तक में प्रकाशित करने की स्वीकृति देने के लिये आभारी हैं। विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व निवन्ध "दार्शनिक" के अक्तूबर १९६० अंक में प्रकाशित हुआ था तथा सार्थकता निबन्ध अनुभववाद पुस्तक में अर्थ मीमांसा नाम से प्रकाशित हुआ था। ये दोनों प्रकाशन परिषद् के हैं और इन दोनों का सम्पादन मैंने स्वयं किया था। अर्थ मीमांसा निवन्ध का नाम परिवर्तन केवल कुछ टैक्नीकल कारणों से किया गया है। इस में यत्र-तत्र कुछ पंक्तियां भी वदली गयी हैं। इस पुस्तक के अन्तिम निबन्ध में अनुभववाद में प्रकाशित दार्शनिक-विश्लेषण निवन्ध का कुछ भाग संकलित किया गया है। किन्तु यह निवन्ध उससे वहुत बड़ा और भिन्न है।

अन्त में मैं श्री सुरेश चंद्र (लखनऊ वि. वि.), डा० दया कृष्ण (सागर वि. वि.), प्रो० गस्टाव वर्गमान, प्रो० क्वाईन तथा प्रो० स्टोरर को धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने इस पुस्तक के कुछ निवन्ध पढ़ कर उन पर मुझे परामर्श देने की कृपा की है। प्रो० वर्गमान, क्वाईन तथा स्टोरर ने इस पुस्तक के तृतीय अध्याय का इंगलिश अनुवाद, जो मैंने विशेष इसी उद्देश्य से किया था, देखा था। प्रो० वर्गमान के सुझाव विशेषरूप से उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। वास्तव में इस पुस्तक का दूसरा अध्याय उनके पत्र तथा उनके एक लेख (जिसका अनुमुद्रण उन्होंने मुझे भेजने की कृपा की थी) का ही परिणाम है।

लाइन वाज़ार, फरीदकोट (पंजाब)। २०–८–१९६१- — यश देव शल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय सूची

	प्राक्कथन	३
१.	मूलवाक्य	१३
२.	वस्तुएं तथ्य और अस्तित्वमीमांसा	४७
३.	विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व	५६
४.	मानसिक और भौतिक	८२
५.	सार्थकता	११२
६.	सत्य	१४६
७.	भावात्मक भाषा तथा समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता	१६०
८.	दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद	१७७
९.	उद्धृत ग्रंथ–सूची	२०८
१०.	पारिभाषिक शब्दावली	२१३
११.	शुद्धिपत्र	२१५
१२.	अनुक्रमणिका	२१७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१
मूल वाक्य

मूलवाक्य वे वाक्य हैं जो किसी सद्यः प्रदत्त को प्रकट करते हैं। जैसेः—यह रक्त है, यह उष्ण है, अ आ के दायें है, अ आ से छोटा है, अ सिर दर्द युक्त है, अ आनन्दित है, आदि। उपर्युक्त वाक्यों में 'यह' तथा 'अ' आदि पद उद्देश्य और तार्किक संज्ञाएं हैं जबकिं रक्त', 'उष्ण' आदि तथा 'दायें', 'छोटा' आदि विधेय हैं। तार्किक संज्ञा से अभिप्राय सद्यः अनुभव के विषय से है, सद्यः अनु-भवेतर शब्द तार्किक संज्ञाएं नहीं हैं, वे या तो निरूपण (डिस्क्रिप्शंज़) हैं अथवा केवल शाब्दिक परिभाषायें हैं, अथवा अगमनात्मक परिभाषायें हैं। अतः जब हम कहते हैं– 'यह रक्त है' तब 'यह' शब्द ऐसा उद्देश्य पद नहीं है 'रक्त' जिसके अनेक विशेषणों में से एक विशेषण है और 'यह' स्वयं इनसे अतीत है। उस अवस्था में यह तार्किक संज्ञा नहीं रहेगा। उस अवस्था में 'यह' परिचय की सीमा से परे हो जायगा। इसी से कुछ दार्शनिकों ने 'यह' शब्द का ऐसे वाक्यों में प्रयोग त्याग दिया है और 'रक्तता, यहां, अब' ऐसे वाक्यों की रचना को वैध माना है। किन्तु यदि 'यह' शब्द का, रसल के अनुरूप, केवल सद्यः के संकेत रूप में प्रयोग किया जाता है तब इस से भ्रम का निराकरण हो जाता है। ऐसे वाक्यों को हम '$ग_1$ $(अ_1)$' इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

तार्किक नियमों के अनुसार 'ग$_1$(अ$_1$)⊃(ꟻ य)ग(य)'* सत्य वाक्य है। अब यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो हम मूल वाक्यों के लिये यह प्रस्थापना स्वीकार कर सकते हैं--'(ꟻ य) (य=रक्तता) . (रक्तता, यहां, अब)'। इस प्रस्थापना से हम सद्यः प्रदत्त के अतिरिक्त तथा सद्यः प्रदत्त से अतीत किसी अस्तित्व को मानने के लिये बाध्य नहीं हैं, क्योंकि हमारे मूल वाक्य का उद्देश्य हमारे सद्यः प्रदत्त के विधेयों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मूल वाक्यों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उन में एक ही संज्ञा–पद घटित हो, एक वाक्य में अनेक संज्ञा पद हो सकते हैं। उस अवस्था में यह सम्बन्ध वाक्य होगा और इस वकाय में उतनी ही संज्ञाएं होंगी जितनी इस सम्बन्ध वाचक पद के द्वारा अपेक्षित हैं। हम इन वाक्यों को एक अविभाज्य अथवा आणविक तथ्य के अभिव्यंजक वाक्य कह सकते हैं। ये वाक्य एक या अनेक संज्ञाओं तथा एक संबन्ध वाचक अथवा विधेय पद से संघटित होते हैं।

अब जैसा कि स्पष्ट है, ये मूल वाक्य अथवा सद्यःप्रदत्त–वाक्य अनुभववाद को एक सुदृढ़ और तार्किक आधार देने के लिये रचे गये हैं। अनुभववादियों ने हमारी ज्ञान–सम्बन्धी कुछ सामान्य धारणाओं को चेलेंज किया था, क्योंकि उन धारणाओं को तार्किक आधार पर उचित प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः 'यह मेज़ है,' 'मैंने कल खाना खाया था,' इन वाक्यों में 'मेज़' तथा 'खाना' पद किसी स्वतन्त्र और स्वलक्षण अस्तित्व के वाचक हैं। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है, इस में मेज़ के किसी संवेद्य गुण का उल्लेख नहीं है। किन्तु यदि वाक्य 'मेज़ रक्त वर्ण है' ऐसा भी हो तो भी मेज़ और रक्तवर्णता का सम्बन्ध खण्ड और सम्पूर्ण तथा व्यष्टि और समष्टि का नहीं समझा जाता, यह सम्बन्ध आधाराधेयता अथवा विशेषण-विशेष्य का समझा जाता है। अनुभववादियों ने इस स्वलक्षण वस्तु की अवधारणा को चुनौती दी और इन्हें हमारे अनुभव से स्वतन्त्र अस्तित्व मानने से इन्कार कर दिया। अब जब हम कहते हैं 'यह मेज़ है', तब यह वाक्य वास्तव में जिस तथ्य को अभिव्यक्त करता है वह ऐसे वाक्यों, जैसे–'यहां रक्तता है' द्वारा व्यक्त होता है, क्योंकि, यदि तथाकथित मेज़ केवल हमारा दृष्टि--विषय हो तो, केवल रक्त--वर्ण संस्थान

*यहां 'ग' गुण–(रक्तता) आदि के लिये प्रयुक्त है तथा 'अ' विशिष्ट संज्ञा अथवा उद्देश्य के लिये, '⊃' 'लागू करता है' के लिये, '⊃' के दोनों ओर के वाक्यों में यदि प्रथम सत्य तथा द्वितीय असत्य है तो वाक्य असत्य होता है और यदि प्रथम असत्य है तो वाक्य सत्य है। वाक्य के आरम्भ में व्यापारक(य)का अभिप्राय है, "सब अवस्थाओं अथवा मूल्यों में, तथा व्यापारक (ꟻ य)का अभिप्राय है, "य के कम से कम एक मूल्य में"। इस प्रकार '(ꟻ य) ग (य)' का अर्थ हुआ "य के कम से कम एक मूल्य में ग"।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घटित होता है न कि मेज़ घटित होता है। अनुभववादी तर्कशास्त्र में यह स्वीकार किया जाता है कि कोई तथ्य अथवा घटना किसी अन्य तथ्य अथवा घटना के होने को लागू नहीं करती। अतः प्रस्तुत संवेद, जोकि निस्सन्देह घटित होता है, यह लागू नहीं करता कि अन्य संवेद भी घटित होंगे। अब मान लीजिये कि मैं दूर आकाश में एक काला धब्बा देखता हूँ और अनुमान करता हूँ कि यह कव्वा है। इन में प्रथम घटना को हम द्वितीय अथवा अनुगामी घटनाओं के लिये संकेत कह सकते हैं। अब अनुगामी घटनाएं मेरे पूर्व अनुभव पर आधारित हैं और इन्हें हम "पहिचानना" के अन्तर्गत रख सकते हैं। यह उस अवस्था में भी सत्य है जब कि पहिचानना अत्यन्त सहज होता है, जैसे सम्मुख खड़े किसी चिर परिचित मित्र को देख कर। प्रत्येक "पहिचानने" में प्रथम संकेत घटित होता है और पीछे अनुगामी घटनाएं, अथवा पहिचानना। अब ये अनुगामी घटनायें पूर्णतः भ्रम प्रमाणित हो सकती हैं। जैसे वह मेरा मित्र न हो कर उस की मोम की अनुकृति हो सकती है, आकाश में काला धब्बा कव्वा न हो कर वायुयान हो सकता है। किन्तु संकेत अशोध्य है, क्योंकि संकेत--वाचक शब्द वास्तव घटना के लिये प्रयुक्त होता है और यह शब्द उस घटना से अधिक दावा नहीं करता। "पहिचाना हुआ मित्र" पद यह लागू करता है कि कुछ प्रत्याशित घटनाएं घटेंगी, जैसे वह बोलेगा, उस के स्पर्श से विशेष अनुभव होगा, वह विशेष प्रतिक्रिया करेगा, आदि। हम पढ़ते हुए उपर्युक्त प्रकार के उदाहरण प्रायः देखते हैं। जैसाकि इन उदाहरणों से स्पष्ट है, संकेत घटना किसी अन्य घटना को लागू नहीं करती। जब साँप में रस्सी का भ्रम होता है, अथवा झाड़ी को देख कर मनुष्य का भ्रम होता है,तब इन में संकेत-(विशिष्ट वर्ण संस्थान) जबकि निश्चित रूप से घटित होता है; साँप और मनुष्य के ज्ञान का बाध होता है। इस प्रकार, अनुभववादियों के अनुसार, मूल वाक्य अपने आप में पूर्ण है और वह अन्य किसी वाक्य को स्वतः लागू नहीं करता।

अब जैसा कि उपर्युक्त स्थापना से स्पष्ट है, मूल वाक्यों की प्रस्थापना हमारे ज्ञान के उचित स्वरूप–निरूपण के लिये की गयी है। हम कहते हैं "यह मेज़ है" जबकि वास्तव में वहां तथाकथित मेज़ है, हम कहते हैं "वहां मनुष्य है" जबकि वास्तव में वहां अनुकृति है, हम कहते हैं "वहां साँप है" जबकि वास्तव में वहां कुछ भी नहीं है। किन्तु जब हम कहते हैं "यह मेज़ है", तब वास्तव में वहां मेज़ है अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर 'यह मेज़ है' वाक्य द्वारा प्रकट किसी तथ्य से नहीं मिल सकता, क्योंकि यह किसी तथ्य को स्वतः प्रकट नहीं करता। तब यह समाधान किस प्रकार होता है ? यदि हम इस वाक्य को पुष्ट करना चाहते हैं तो हम आगे बढ़ते हैं और इस का स्पर्श करते हैं, यदि हमें फिर भी संदेह होता है तो इस पर चोट करते हैं और सुनते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार हम अन्य भी प्रयोग कर सकते हैं। जैसाकि विभिन्न पोषक वाक्यों से स्पष्ट है, हम अनुभव के क्षेत्र से बाहर नहीं जाते, दूसरे शब्दों में,अनेक संवेद वाक्य मिल कर हमें एक वस्तु-वाक्य के सम्बन्ध में समधिक निश्चय का अधिकार देते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, वस्तु-वाक्य विभिन्न संवेद-वाक्यों से संघटित होता है। यह स्वीकार किया जाता है कि हमें विषयों के प्रागनुभविक (अ प्रियारी) अस्तित्व को स्वीकार करने का अधिकार नहीं है। केवल किसी या किन्हीं संवेदों का होना ही किसी विषय के होने का प्रमाण है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि हम"मेज़"अथवा"कुर्सी"को भ्रम या स्वप्न कह रहे हैं, हमारा कथन केवल यह है कि ऐसे वाक्य,जिन में वस्तु-वाचक शब्द घटित होते हैं, उन वाक्यों में विश्लेष्य हैं जिन में केवल विशिष्ट संज्ञाएं तथा संवेद वाचक शब्द घटित हो सकते हैं।

किन्तु स्पष्टतः यहां कुछ आधारभूत समस्यायें उत्पन्न होती हैं; क्या ये विषय, जैसे मेज़, संवेदों से निर्मित हैं?—जैसे मशीन पुर्ज़ों से निर्मित होती है अथवा भवन ईंटों से निर्मित होता है? प्रथम दृष्टि में उपर्युक्त स्थापना इस प्रकार की अवधारणा को ही पुष्ट करती प्रतीत होती है। किन्तु ऐसा मानने में जबकि अन्य अनेक कठिनाइयां हैं, सर्व-प्रमुख कठिनाई यह है कि यह अवधारणा उतनी ही और वैसी ही अत्यानुभविक(स्वलक्षण अथवा तात्विक) है जितनी और जैसी यह अवधारणा कि विषयों का अस्तित्व प्रागनुभविक है। क्योंकि जबकि हम मेज़ आदि के संबन्ध में, उन के अनुभवातीत होने से, मूक रहना चाहते हैं, हम दृष्टिकोणों अथवा अनुभव-विषयों को वही स्थान दे देते हैं। सी०-डी० ब्राड, मूर तथा एच० एच० प्राइस ने इन अनुभव विषयों के संबन्ध में यहां तक प्रश्न कर डाले हैं कि "क्या संवेद विषय असंवेदितरूप में भी रह सकते हैं"? आदि। ऐसे भयानक भ्रमों से बचने के लिये दार्शनिकों ने अनेक व्याख्यायें खोजी हैं, जिन को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है। एक भाषीय व्याख्या तथा दूसरी प्रचलित प्रयोगात्मक (कामन यूज़) व्याख्या। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हम न्यूरथ, कार्नप तथा एयर आदि भाववादियों (लाजीकल पाज़िटिविस्ट्स) को रख सकते हैं, यद्यपि इन तीनों के प्रतिपादनों में पर्याप्त अन्तर है दूसरी श्रेणी में विट्गिस्टाइन तथा राइल आदि को। कार्नप ने मूल वाक्यों के उदाहरणरूप में 'आनन्द अब' अथवा 'यहां, अब, नीला' वाक्य प्रस्तुत किये हैं। "लाजीकल साइंटेक्स आफ लेंग्वेज" में उन्होंने मूलवाक्यों का भी भाषीय रूपान्तरण प्रस्तुत किया है। उन के अनुसार, 'आनन्द, अब' जैसे वाक्य इस लिये मूल वाक्य नहीं हैं कि ये किसी अनुभव से सम्मत हैं, प्रत्युत इसलिये मूल वाक्य हैं क्योंकि ये इस प्रकार के वाक्यरूपों के अनुरूप हैं। कार्नप इन वाक्यों को प्रमाणधातीत मानते हैं। किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि क्यों कार्नप ऐसे वाक्यरूपों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को मूल वाक्यों के रूप में चुनते हैं, अन्य वाक्यों को क्यों नहीं चुनते? और किस सिद्धान्त के अनुसार यह विनिश्चय होता है कि वाक्यों का यह रूप ही उचित है? भाववादी किसी वाक्य की सत्यता का विनिश्चय उस की अन्य वाक्यों से अनुरूपता के द्वारा करते हैं, किन्तु जिन भी वाक्यों को आप मानदण्ड चुनते हैं उन की सत्यता का निश्चय करने के लिये भाषेतर स्तरों का आश्रय लेना आवश्यक है।

दूसरी व्याख्या मूल वाक्यों की अवधारणा पर ही सन्देह प्रकट करती है। राइल के अनुसार, " कम से कम एक संवेदन का होना परिदर्शन (आब्ज़र्वेशन) के होने के लिये अनिवार्य शर्त है और यह उस का भाग है। अतः संवेदन करना स्वयं प्रत्यक्षीकरणादि की जाति का नहीं हो सकता।"[१] वे आगे कहते हैं "यह कहना कि हम संवेदों का प्रत्यक्ष करते हैं, भ्रामक है, क्योंकि वास्तव में हम मेज़ों अथवा क्रीडाओं को ही देखते हैं और संवेदों का उस से अनुमान करते हैं"। उन के अनुसार, "संवेदवाद यह प्रतिपादित करता है कि क्योंकि हम केवल संवेद-विषयों को ही देख सकते हैं अतः मेज़ आदि सम्बन्धी वाक्य संवेद-वाक्यों में अनुवाद्य हैं। किन्तु सत्य यह है कि 'संवेद विषय' एक अर्थहीन प्रयोग है, और यह सत्य होने के बजाय कि हम मेज़ आदि नहीं देख सकते, वास्तव में मेज़ आदि उन पूरकों के ठीक उदाहरण हैं जो ऐसे वाक्यों, जैसे 'जान ......अमुक अमुक देख रहा है' में अपेक्षित हैं"। प्रथम दृष्टि में राइल के तर्क जितने उपयुक्त प्रतीत होते हैं वास्तव में ये उतने ही भ्रामक हैं। ये तर्क व्यवहारवादी मनोविज्ञान तथा सामान्य प्रयोग से प्रेरित हैं, जबकि संवेदवाद एक दार्शनिक समस्या के समाधान का प्रयत्न है। संवेदवाद का यह दावा नहीं है कि उस के मूलवाक्य, तथा सत्य प्रक्रियाओं (ट्रुथ फंक्शन्ज़) द्वारा उन से निर्मित मिश्रवाक्य, क्रमशः वस्तु-खण्डों तथा वस्तुओं के पर्याय हैं, न उस का यही दावा है कि 'संवेद' शब्द का उस का प्रयोग सामान्य प्रयोग के अनुकूल है। राइल की ही भूमि पर खड़े हो कर सैल्लर्ज़[२] ने उन के तर्कों का खण्डन किया है और उस से देखा जा सकता है कि संवेदवाद तथा राइल के तर्कों का आधार ही भिन्न है। हमारे सामान्य ज्ञान तथा वैज्ञानिक की प्रविधि के भी, सम्मुख ज्ञान सम्बन्धी जो एक आधारभूत समस्या है, अथवा कहें, पहेली है, वह है ज्ञान और ज्ञेय, प्रागनुभविक तथा आनुभविक और आनुभविक तथा अनुभवातीत के द्वैत की। अनुभववाद मूल-वाक्यों का तर्कशास्त्र इस समस्या के सुलझाव के लिये प्रस्तुत करता है। जब हम कहते हैं—'यह मेज़ है' तब इस वाक्य की सत्यता का ग्रहण किस प्रकार होता है? सत्यता से हमारा क्या अभिप्राय है? क्या यह कहा जा सकता है कि यह उस मेज़ के प्रसंग से

(१) दि कांसेप्ट आफ माइंड, पृ० २१४।
(२) सैल्लर्ज़—सेंसेशन्ज़ एज़ गाइडज़ टू पर्सीविंग, माइंड, जन्वरी, १६२६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्य है जिस की परिभाषा में कोई दैशिक, कालिक तथा सांवेदनिक शब्द घटित नहीं होते? दूसरे शब्दों में, क्या मेज़ की परिभाषा करते हुये हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इन्द्रिय-गोचर-योग्यता इस में अप्रासंगिक है? स्पष्टतः नहीं, क्योंकि जब हम कहते हैं "यह मेज़ है" और दूसरा यह स्वीकार नहीं करना चाहता, तो वह कहेगा, "मुझे यहां कुछ दिखाई नहीं देता", "मैं यहां कुछ स्पर्शानुभव नहीं कर रहा" आदि-आदि। उस अवस्था में वहां मेज़ का होना या तो सन्दिग्ध होगा अथवा प्रायःनिश्चित। सन्दिग्ध उस अवस्था में यदि हम निषेध करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में यह सन्देह करें कि वह हिप्नोटाइज़्ड होने के कारण अथवा अन्य कारणों से मेज़ का प्रत्यक्ष करने के अयोग्य है, अन्यथा हम अपने सम्बंध में समझेंगे कि हम मोह-ग्रस्त हैं। किन्तु प्रत्येक अवस्था में मोह-ग्रस्त व्यक्ति कुछ अनुभव कर रहा है और हमारे सम्मुख यह समस्या है कि किस प्रकार इन दोनों अनुभवों को एक नियम के अन्तर्गत रखा जा सकता है। और फिर, जैसाकि डेकार्ट ने आलंकारिक रूप से इस स्थिति को व्यक्त किया है, यह सम्भव है कि किसी मायावी राक्षस ने हम सब को भ्रमित किया हो और हम केवल भ्रमवश वस्तुओं को देखते हों।

अब इस 'भ्रमवश' से क्या अभिप्राय है? यह इस पूर्वाग्रह से प्रेरित है कि हम उस अवस्था में मोह-ग्रस्त हैं यदि हम किसी 'वास्तव' मेज़ को नहीं देख रहे हैं। किन्तु हम वास्तव मेज़ को देख रहे हैं या नहीं, इस का निर्णय कैसे हो? स्पष्टतः इस का निर्णय केवल राक्षस कर सकता है जो यह मेज़ नहीं देख रहा है और जिसने मायाजाल बिछाया है। किन्तु इस प्रकार समस्या घूम कर फिर वहीं आ जाती है—क्या वह राक्षस हिप्नोटाइज़्ड तो नहीं है? इस प्रकार का निर्णय केवल दो प्रकार से ही हो सकता है: या तो हमें ही प्रमाण माना जाय अथवा एक अन्य अधिक शक्तिशाली राक्षस की कल्पना की जाय। दूसरी अवस्था में हम अनन्तनिवर्तन (इन्फिनिट रीग्रेस) दोष से युक्त होते हैं तथा अप्रमाणीय अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इस प्रकार, उस वाक्य की सत्यता, जिस में 'मेज़' शब्द घटित होता है, हम केवल संवेदों के प्रसंग से ही निर्णीत कर सकते हैं। अब यदि संवेद-वाक्यों के प्रसंग से ही 'विषय-वाक्यों' का अर्थ-ग्रहण होता है, तो भ्रम-संवेद क्या है?

जब हम कहते हैं 'रक्त, यहां, अब', तब यह वाक्य जिस तथ्य का प्रकथन करता है उस का प्रसंग तदितर कुछ नहीं है, अतः यह वाक्य उस तथ्य के साथ संगतता के द्वारा सत्य है,[३] किन्तु 'यह मेज़ है' वाक्य इस प्रकार का नहीं है, क्योंकि

(३) मनस्तत्व, ले० यश देव शल्य-मन और पदार्थ अध्याय, (हिन्दोस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जवकि प्रथम वाक्य के संवन्ध में किसी का यह कथन कि 'रक्त, यहां, अव' किन्तु साथ ही कि 'मैं यह नहीं देख रहा हूँ' एकदम निरर्थक है, वहां दूसरे के वारे में यह कथन एकदम उचित है, क्योंकि सम्भव है मैं चक्षुहीन होऊं। इतना ही नहीं, जवकि प्रथम के सम्बन्ध में ये कथन कि 'यह कठोर है,' 'यह ज्वलनशील है,' 'यह अन्धेरे में अदृश्य है' संगत हैं, दूसरे के प्रसंग में ऐसा कोई कथन सार्थक नहीं है। संक्षेप में 'मेज़' शब्द उतना ही हमारे वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक (कांसेप्चुअल) ढांचे का वाचक है जितना 'परमाणु' अथवा 'विद्युत्कण'। अतः जवकि प्रथम अन्य वाक्यों से व्याहत हो सकता है, द्वितीय नहीं हो सकता।

दूसरे वाक्य की व्याहति का स्रोत क्या है? यह स्रोत इस में घटित उद्देश्य पद 'मेज़' का तार्किक रूप है। तर्क की भाषा में, यह पद संज्ञा न हो कर तार्किक रचना है जिसे हम उचित परिस्थितियों में मूल वाक्यों में विघटित कर सकते हैं। अथवा यों कहें, मेज़ शब्द संज्ञा नहीं है प्रत्युत इस की परिभाषा में अनेक संज्ञाएं और अनेक निरूपणात्मक पद (डिस्क्रिप्टिव टर्म्ज़) घटित होते हैं। इस प्रकार 'यह मेज़ है' इस वाक्य को '$ग_1$ (य)' मानते हुये हम कह सकते हैं '$ग_1$(य) $\supset$ $ग_1$(अ), $ग_2$ (आ), $ग_3$ (इ) ... ...'' आदि। जव हम किसी पद को तार्किक रचना कहते हैं तव उस का अभिप्राय होता है कि यह स्वयं अनुभवात्मक शब्द नहीं है, किन्तु यह उन वाक्यों में अनुवाद्य है जो किसी अनुभव के सम्बन्ध में हैं। किसी पद को तार्किक रचना (लाजीकल कंस्ट्रक्शन) कहने का अभिप्राय है कि न तो यह संज्ञा है और न संज्ञा-योग्य का निरूपण (डिस्क्रिप्शन) है।

यहां संज्ञा, संज्ञा-योग्य का निरूपण तथा तार्किक रचना में भेद और स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। मिस स्टैब्विंग[4] के अनुसार 'यहां', 'अव' पद 'रक्त' को विशिष्ट संज्ञा पद वनाते हैं, अन्यथा यह सामान्य (यूनीवर्सल) पद हो सकता है, किन्तु 'अ व है' इस को हम यदि इस प्रकार अनूदित करते हैं 'एक और केवल एक वस्तु मेरा चाक्षुष संवेद है और यह रक्त है' तो यह संज्ञा-योग्य का निरूपण है। किन्तु 'एक और केवल एक वस्तु आधुनिक युग है और यह विज्ञानवादी है' इस में घटित पद 'आधुनिक युग' तथा 'यह विज्ञानवादी है' किसी अनुभव के वाचक नहीं हैं। किन्तु इन की सार्थकता केवल इस

४ चाक्षुष संवेद को रक्त कहने का हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि 'रक्तता' तथा 'संवेद' विशेषण-विशेष्य हैं; इस के विपरीत, हम रक्त और विशिष्ट संवेद को अभिन्न मानते हैं। इस संवंध में हमने मनस्तत्त्व के ''मन और पदार्थ'' निवंध में विस्तार पूर्वक विचार किया है, और इस के विपरीत मत वाले सी॰डी॰ ब्राड की आलोचना की है। स्टैब्विंग तथा अन्य विद्वानों के उद्धरण हमने प्रायः अपने शब्दों में परिवर्तित कर दिये हैं, शब्दशः अनुवाद नहीं दिया। अनुवाद को हमने कोष्ठों में दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बात में है कि ये अभिधानात्मक संज्ञा) पदों में विश्लेष्य हैं। प्रथम वाक्य का विश्लेषण जबकि समान स्तरीय है द्वितीय का भिन्न स्तरीय, द्वितीय में 'आधुनिक युग' का विश्लेषण सर्वथा भिन्न प्रकार के वाक्यों में किया जाना आवश्यक है। 'आधुनिक-युग' के समान ही 'मेज़' भी तार्किक रचना है, क्योंकि इसका विश्लेषण भी भिन्न स्तरीय विश्लेषण ही हो सकता है। अथवा दूसरे शब्दों में, 'एक ओर केवल एक वस्तु मेज़ है और यह आयताकार है', इसमें मेज़ एक स्वतन्त्र अस्तित्व है जो स्वलक्षणतया विद्यमान है, और इस रूप में यह हमारी तत्वमीमांसा में सार्थक नहीं हो सकता। अतः इस का रूपान्तरण इस प्रकार करना होगा—"यहां कुछ चाक्षुष तथा स्पर्श-विषय हैं और ये आयताकार हैं।" इस प्रकार हमारी उपर्युक्त स्थापना के अनुसार, ऐसे वाक्य, जिनमें ऐसे पद घटित होते हैं जो मूल वाक्यों में घटित नहीं होते, मूल वाक्यों से तार्किक रचनायें हैं। ऐसे पदों को अपूर्ण प्रतीक (इन्कम्प्लीट सिम्बल्ज़) भी कहते हैं।

किन्तु जैसाकि अनेक बार कहा जाता है, ये तार्किक रचनायें प्रकल्पनायें अथवा हैल्यूसीनेशंज़ नहीं हैं, जैसे किसी नाटक के पात्र होते हैं अथवा विक्षिप्त की कल्पनायें होती हैं। वास्तव में मनोवैज्ञानिक रूप से हमारे लिये 'मेज़' या 'कुर्सी' ही मूल विषय हैं, न कि तथाकथित संवेद। और यदि हमें कोई कहता है कि "आप जिस पर बैठे हैं वह मेज़ नहीं है, वह केवल आप की मानसिक रचना है, अथवा संवेद हैं" तब हम उसे केवल विक्षिप्त ही समझ सकते हैं। अतः संवेदवादी दार्शनिकों का यह विधान कि " 'मेज़' तार्किक रचना अथवा अपूर्ण प्रतीक है" तथ्यात्मक विधान न हो कर केवल तार्किक अथवा भाषीय विधान है। जैसाकि एयर कहते हैं—"जैसाकि हमारी 'तार्किक रचना' की अवधारणा की व्याख्या से स्पष्ट है, यह एक भाषीय विधान है, क्योंकि यहां प्रतीक 'मेज़' कुछ अन्य प्रतीकों के द्वारा, जो कि संवेद विषयों के वाचक हैं, परिभाषेय है"।[५] और भी "यह प्रश्न, कि एक भौतिक वस्तु की क्या प्रकृति है, किसी भी अन्य दार्शनिक प्रश्न के समान परिभाषा की मांग करता है, और वे तर्क वाक्य जो इस प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, भाषीय-तर्कवाक्य (प्रोपोज़ाशज़) हैं, फिर चाहे वे इस प्रकार के ही क्यों न हों कि वे तथ्य-विधायक प्रतीत हों। ये प्रतीकों के सम्बन्ध के अभिव्यंजक तर्कवाक्य हैं न कि उन गुणों के जिन्हें कि ये प्रतीक अभिव्यक्त करते हैं।" स्पष्टतः उपर्युक्त प्रतिपादन जबकि हमारी एक कठिनाई को दूर करता है, कि हम 'यह मेज़ है' इस वाक्य को संवेद वाक्यों से तार्किक रचना मान कर भी मेज़ को मेज़ मान सकते हैं, यह एक दूसरी

५ लैंग्वेज, ट्रूथ एंड लाजिक, पृ० ६४।
६ वहीं—पृ० ६४-५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अधिक गंभीर कठिनाई उत्पन्न करता है—हमारी इन परिभाषाओं का मान-दण्ड क्या है ? क्यों मूल वाक्य ही परिभाषा के लिये उपयुक्त समझे गये ? क्यों मूल वाक्यों का यही रूप उचित समझा गया, आदि ? दूसरे शब्दों में, क्या यह विधान कि मूल वाक्य संवेदों के अभिव्यंजक हैं, भाषीय विधान है अथवा तथ्यात्मक विधान है?

जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, ये भाषीय रचनावादी मूल वाक्यों को संवेदों से संबन्धित नहीं करते, ये इन्हें केवल भाषीय परम्परा मानते हैं, जैसाकि कार्नप के मत से स्पष्ट है। किन्तु वास्तव में ये भाषीय रचनावादी भी, यदि यह नाम ये पसन्द करें तो, कभी-कभी सिद्धान्त में भी यह मान लेते हैं कि हमारे मूल वाक्य हमारे अनुभव से अर्थ ग्रहण करते हैं और तार्किक रचनायें वास्तव में इन अनुभव वाक्यों में विश्लेष्य हैं। एयर कहते हैं "जो विषय सद्यः प्रदत्त नहीं है उन के अस्तित्व के लिये कोई प्रागनुभविक प्रमाण की माँग करना भ्रामक है, क्योंकि, यदि ये अत्यानुभविक विषय नहीं हैं तो किसी संवेदानुभव का होना ही इन के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण प्रस्तुत करेगा, और वास्तव में यही एकमात्र वांछनीय तथा उपलभ्य प्रमाण हो सकता है। वांछित संवेदानुभव प्रासंगिक परिस्थितियों में वास्तव में घटित होते हैं अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस का निर्णय केवल व्यवहार में ही हो सकता है, किसी प्रागनुभविक तर्क द्वारा नहीं। तब क्या यह प्रकथन कि "वस्तु-विषय-वाक्य संवेद-वाक्यों से तार्किक रचनायें हैं" तथ्य प्रतिपादक प्रकथन है, जिस प्रकार यह प्रकथन कि "यह पुस्तक ३०० पृ० की है" तथ्य प्रतिपादक है ?

सर्वं प्रथम, 'इस कमरे में मेज़ है' वाक्य यह लागू नहीं करता कि कोई संवेद घटित हो रहा है अथवा होगा, क्योंकि मेज़ शब्द यहां अनिश्चित (वेरियेबल्स) के समान प्रयुक्त है। किन्तु यदि हम इस वाक्य का कोई अर्थ देना चाहते हैं तब हमें इस अनिश्चित को विशिष्ट अथवा विशिष्टों द्वारा स्थानान्तरित करना होगा। ये विशिष्ट हमारे मानदण्ड (क्राइटीरिया) होंगे, अन्यथा उपर्युक्त वाक्य अर्थ-हीन समझा जायगा। इस प्रकार,'इस कमरे में मेज़ है' वाक्य उस अवस्था में कुछ लागू करता है यदि इस की रचना इस प्रकार की जाय-"इस का क्या अर्थ है कि 'इस कमरे में मेज़ है' ?" कार्नप के शब्दों में, "हम जब तर्कवाक्य व का अर्थ जानना चाहते हैं तब वास्तव में हम क्या चाहते हैं ? हम जानना चाहते हैं कि व से हमें क्या उपलब्ध होता है, हम व के द्वारा क्या अनुभव करते हैं, हम व से क्या निष्कर्ष निकालते हैं ? दूसरे शब्दों मेंः हम पूछते हैं कि हम व से क्या निगमित (डिड्यूस) करते हैं, अधिक ठीक शब्दों मेंः कौन से तर्क वाक्य व से लागू होते हैं जोकि अन्य किसी तर्क वाक्य से पहले लागू नहीं होते और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतएव कुछ प्रकथित नहीं करते ?[७] इसी को हमने दूसरे शब्दों में पीछे इस प्रकार प्रस्तुत किया था कि वस्तु-वाक्य हमारे अवधारणात्मक योजना (कांसेप्चुअल स्कीम का परिणाम है और उसके अनुसार ही सार्थक है।

जब मानदण्ड एकदम रूढ़ि हैं, यह कोई आवश्यक नहीं है कि हम एक या दूसरे मानदण्ड को स्वीकार करें। उदाहरणतः एक भूतवैज्ञानिक के लिये "इस कमरे में मेज़ है" का अर्थ हो सकता है कि अमुक अमुक देश-काल विन्दु पर अमुक अमुक घनता की विद्युच्चुम्बकीय लहरें प्रसरित हो रही हैं, अथवा अमुक अमुक देश-काल विन्दु पर एक भंग (क्रिंकल) घटित हो रहा है। किन्तु जब हम उपर्युक्त वाक्य को दार्शनिक विश्लेषण के लिये प्रस्तुत करते हैं तब दार्शनिक मानदण्ड का ही प्रयोग कर सकते हैं।

हम इस बात से सहमत हैं कि दर्शन किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त अवधारणाओं (कांसेप्ट्स)का विश्लेषण करता है और ऐसे आधारभूत वाक्यों की खोज करता है जिन का विश्लेषण संभव नहीं है और जो वाक्य उन अवधारणाओं की परस्पर संगति अथवा विसंगति के लिये आधार प्रस्तुत करते हैं। ये मूल वाक्य विश्लेष्य नहीं हैं और न ही ये परस्पर संगत या विसंगत हैं, क्योंकि यदि ये परस्पर संगत या विसंगत होंगे तो पुनः इन के लिये किन्हीं संगतिविधायक वाक्यों की खोज करनी होगी। उदाहरणतः भूत विज्ञान में विद्युच्चुम्बकीय लहरों की अवधारणा विभिन्न भौतिक घटनाओं के विनिश्चय अथवा व्याख्या के लिये प्रयुक्त होती है। किन्तु तब हम पूछ सकते हैं कि 'यहां अमुक घनता की विद्युच्चुम्बकीय लहरें घटित हो रही हैं' इस का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर हमारे अवधारणाओं के ढांचे (कांसेप्चुअल स्कीम) का सापेक्ष है। आप यह नहीं कह सकते कि यह आधारभूत (मूल) वाक्य है, क्योंकि तब आप पूछ सकते हैं कि "इस का क्या प्रमाण है कि यहां विद्युच्चुम्बकीय लहरें घटित हो रही हैं ?" और आप विद्युच्चुम्बकीय लहरों के नियम को चुनौती दे सकते हैं और उस के स्थान पर कोई अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं। अब इन दो नियमों के बीच निर्णय करने के लिये किसी आधार की आवश्यकता होगी। स्पष्टतः विद्युच्चुम्बकीय लहरों का नियम विभिन्न प्रदृश्यों (फिनोमिना) के व्यवहार में दृष्टिगत नियमितता के सम्बन्ध में प्रकथन है और इस प्रकार यह आगमनात्मक वाक्य है। इस लिये इस की सार्थकता उन विशिष्ट वाक्यों में निहित है जो इसे प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार "यहां विद्युच्चुम्बकीय लहरें हैं" वाक्य "यहां मेज़ है" वाक्य का भूत वैज्ञानिक अवधारणाओं के ढाँचे (फिज़ीकल फ्रेम आफ कांसेप्ट्स)

७ कार्नप-ओन दि करेक्टर आफ फिलासफीकल प्राब्लम्ज़, फिलासफी आफ साइंस-जन्वरी १९३४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में प्रस्तुतीकरण है और इन दोनों वाक्यों का अर्थ ग्रहण उन मूल वाक्यों से हो सकता है जो इन वाक्यों द्वारा लागू होते हैं।यहां तक यह विश्लेषण भाषीय विश्लेषण है,किन्तु ये मूल वाक्य सीधे हमारे विशिष्ट संवेदों के,(अथवा यदि यह शब्द मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहों को प्रजाग्रत करता है तो हम 'प्रदत्त' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं) सम्बन्ध में हैं, यदि नहीं तो यह सम्पूर्ण ढाँचा या तो मात्र रूढ़ि हो जाता है अथवा हम असीम निवर्तन (इन्फिनिट रीग्रेस) में उलझ जाते हैं।

विट्गिंस्टाइन ने तार्किक रचना की इस पद्धति के औचित्य पर ही आक्षेप किया है। उन के अनुसारः "यदि ऐसी कोई भाषा हो जिस के शब्द निजी संवेदों के वाचक हों, तो यह भाषा हमारी सामान्य भाषा से पूर्णतः भिन्न होगी, क्योंकि कोई दूसरे को यह नहीं बता सकेगा कि उस का क्या अभिप्राय है।" वे आगे कहते हैं : "यह तथ्य कि संवेद भाषा का यह रूप इसे इससे एकदम भिन्न भाषा में, जोकि भौतिक विषयों के लिये है, समीकृत कर देता है, बताता है कि यहां मूल अवधारणा ही घपला गयी है। किन्तु जब कोई किसी शब्द का प्रयोग करता है तब वह कैसे जान पाता है कि उस का शब्द तथा संवेद में सम्बन्ध का स्मरण ठीक है? उस के पास कोई मानदण्ड नहीं है कि वह यह जान सके कि वह किसी शब्द का प्रयोग उसी संवेद के वाचक रूप में कर रहा है जिस का यह वाचक समझा जाता है।"[८] इस का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है। सर्वप्रथम, विट्गिंस्टाइन का तर्क यह मान कर चलता है कि स्मृति विश्वसनीय नहीं है,जोकि एकदम स्वतन्त्र प्रश्न है। इस के अतिरिक्त, यदि विट्गिंस्टाइन यह मानते हैं कि हम उस भाषा को समझ सकते हैं जो भाषा सर्वजन सुलभ है, तो यह समझना कठिन है कि वे क्यों नहीं मानते कि हम अपने अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली भाषा को समझ सकते हैं। किसी वाक्य को हमारे (वक्ता के) अतिरिक्त अन्य कोई समझता है अथवा नहीं यह मूल वाक्यों के तर्क शास्त्र में प्रासंगिक प्रश्न ही नहीं है! जैसा कि हम विट्गिंस्टाइन की आपत्तियों की आलोचना करते हुये देखें गे, यह समाज वैज्ञानिक की रुचि का प्रश्न हो सकता है। मान लीजिये, हम कहते हैं — 'रक्त, यहां, अब' जो कि हमारे सद्यः अनुभव का वाचक है। विट्गिंस्टाइन के अनुसार, यह इस लिये अनुचित प्रयोग है क्योंकि भाषा का प्रयोग अनुभव के पीछे होता है, समकालिक नहीं, अतः यह स्मृति का विषय हो जाता है। स्मृति का विषय हो जाने से हम यह नहीं कह सकते कि यह वाक्य हमारे जिस अनुभव के लिये प्रयुक्त है उस की यह ठीक व्यंजना करता है, जब तक हम स्मृति की सत्यता स्वीकार न करें। दूसरे, क्योंकि हमारे शब्द व्यक्तिगत हैं और अनुभव के साथ भाषा का सम्बन्ध अतीतोन्मुख है अतः हमारे पास कोई मान--

८ इन्वेस्टीगेशंज़-सूत्र १४३ तथा २५८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दण्ड नहीं है जिस के अनुसार हम यह कह सकें कि हमारा प्रयोग ठीक है। दूसरे शब्दों में, 'रक्त, यहां, अत्र' में 'रक्त' शब्द का हम ठीक प्रयोग कर रहे हैं, यह कह सकना असम्भव है।

सर्व प्रथम, हम मूल वाक्यों को अतीत अनुभव के वाचक नहीं मानते, क्योंकि यदि हम यह मानें कि कोई प्रतीक प जिस अनुभव अ को इंगित करता है, यदि वह अनवार्यतः उस से पूर्वगामी ही हो सकता है तो इस तथ्य का अनुभव कि प्रतीक प का प्रयोग किया गया है, पुनः प्रयोग के पश्चात् ही घटित हो सकता है और इस प्रकार हम असीम निवर्तन में उलझ जाते हैं। क्योंकि किसी अनुभव का प्रकथन (स्टेटमेंट) यदि अतीतोन्मुख हो तो उस प्रकथन का अनुभव भी अतीतोन्मुख ही होगा, अतः पुनः यह प्रकथन करना होगा कि हम ने अनुभव के प्रकथन को अनुभव किया है। अन्यथा हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारा प्रयोग सामान्य भाषा के अनुरूप है? यदि यह प्रकथन करना आवश्यक नहीं है कि मैंने प्रकथन का अनुभव किया है क्योंकि यह अनुभव स्वतः प्रामाण्य है, तब 'रक्त, यहां, अत्र' को स्वतः प्रामाण्य मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिये ? वास्तव में प्रकथन के इंगित को अतीतोन्मुख कहने के आधार में यह धारणा कार्य कर रही है कि अनुभव $अ_1$ के भावन के लिये $अ_2$ का होना आवश्यक है। अन्यथा मूल वाक्यों को अतीतोन्मुख कहने के लिये औचित्य नहीं है। किन्तु इस धारणा में विश्वास के लिये क्या औचित्य है ?

दूसरा पूर्वाग्रह यहां और भी अतर्कसम्मत है। विट्गिंस्टाइन की आपत्ति है कि क्योंकि शब्दों का ठीक प्रयोग शिक्षा-साध्य है, अतः 'नीला' शब्द का प्रयोग स्मृति और सार्वजनिकता को लागू करता है। हम ने किसी संवेद के लिये ठीक (सामान्य प्रयोग के अनुसार) शब्द का प्रयोग किया है, इस के लिये मानदण्ड केवल सामान्य स्वीकृति है। उपर्युक्त धारणा दो आधारभूत भ्रान्तियों पर आधारित है, प्रथम यह कि मानदण्ड के लिये उस का बाह्य होना आवश्यक है। मान लीजिये कि हम केवल सार्वजनिक प्रयोग के साथ मिलान करके ही यह देख सकते हैं कि हमारा प्रयोग ठीक है। किन्तु तब इस विनिश्चय के लिये कि हमारा प्रयोग सामान्य प्रयोग के अनुरूप है, एक अन्य मानदण्ड की आवश्यकता होगी, क्योंकि हम सामान्य प्रयोग के साथ मिलान करके ही यह नहीं देख सकते हैं कि हमारा मिलान ठीक है। इस ज्ञान के लिये भी कि हमारा मिलान ठीक है-सार्वजनिक प्रयोग के अनुरूप है-एक अन्य मानदण्ड की आवश्यकता होगी जिस के साथ हम इस मिलान को मिला कर जाँच सकें, और इस प्रकार अनन्त मानदण्ड वांछनीय होंगे। अतः जब तक हम किसी वाक्य के ज्ञान के लिये अन्तःसाक्ष्य को पर्याप्त नहीं मानते तब तक हम सार्थकतया कुछ प्रकथित नहीं कर सकते। इस प्रकार,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि हम लिखित अथवा दूसरों द्वारा प्रयुक्त शब्द बिना किसी बाह्य साक्ष्य के समझ सकते हैं तो यह समझना कठिन है कि हम अपने अनुभव के लिये प्रयुक्त शब्द को क्यों नहीं समझ सकते ? वास्तव में मूल वाक्य की सार्थकता के लिये सार्वजनिकता का प्रश्न अप्रासंगिक है ।

दूसरी धारणा इस पूर्वाग्रह पर आधारित है कि हम भाषा का प्रयोग करते हुए अनिवार्यतः वर्गीकरण करते हैं । जिस प्रकार हमारा किसी वर्ण का व्यंजक शब्द उन सब उदाहरणों का व्यंजक है जो इस द्वारा इंगित होते हैं और अन्य सब वर्णों का बहिष्कार करता है । उदाहरणतः 'नीला' इस शब्द द्वारा व्यक्त वर्ण वर्ण विशेष के सब उदाहरणों को लागू करता है और अन्य सब वर्णों का बहिष्कार करता है । इस प्रकार 'नीला, यहां, अब, जैसा कि नीला, वहां तब' । इस प्रकार प्रत्येक वाक्य में प्रयुक्त विधेय विशिष्ट न हो कर सामान्य हो जाता है, क्योंकि यह जो कम से कम विधान करता है वह यह है कि इस का वर्ण उस वस्तु के समान है जो मेरी उक्त वर्ग की मूल ऐंगित परिभाषा (ओस्टेंसिव डेफीनीशन) का आधार है । किन्तु बर्ट्रेंड रसल इस विचार की भ्रामकता स्थापित करते हुए कहते हैं " यह कहते हुए कि 'यह आभास मूल-आभास के अनुरूप है' मेरा 'अनुरूपता' से क्या अभिप्राय है? क्या मेरा अभिप्राय यह है कि वह संबंध, जो इस आभास का मूल आभास के साथ है, उस संबंध के अनुरूप है जो कि मेरे लिये 'अनुरूप' शब्द की मूल परिभाषा का विषय था? अब यदि सब विधेय तुलनायें हैं तो मेरा अभिप्राय कुछ ऐसा ही होना चाहिये । किन्तु यदि यह कहा जाय कि अनुरूपता अनुरूपों के प्रामाणिक द्वन्द्वों से अनुरूपता के सम्बन्ध द्वारा निर्मित है तो वही समस्या द्वितीय स्तरीय* अनुरूपता के प्रसंग में उत्पन्न होगी । (इस प्रकार) क्योंकि 'अनुरूपता' को हमें अनिवार्यतः तुलना से स्वतन्त्र विधेय के रूप में स्वीकार करना होगा, अतः तुलना से स्वतन्त्र अन्य विधेयों के बहिष्कार के लिये दुरारूढ़ साधनों को स्वीकार करना किसी प्रकार से भी योग्य न होगा । अतः, यह स्वीकार करने में कोई आधारभूत कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि कोई तर्कवाक्य वर्तमान से परे संकेत किये बिना भी विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) वाक्य हो सकता है ।"१ इस के अतिरिक्त, जब हम कहते हैं 'यह रक्त है' तब किसी भी प्रकार से इस से यह लागू नहीं होता कि इस से पहले किसी

* स्तरों का अभिप्राय यह है कि जो शब्द तथ्य, अथवा कहें, भाषेतर तथ्य का वाचक है वह प्रथम स्तरीय शब्द कहलाता है, जो शब्द इस शब्द का वाचक है वह द्वितीय स्तरीय शब्द होता है, इस द्वितीय स्तरीय शब्द का वाचक तृतीय स्तरीय, और इस प्रकार अनेक स्तर हो सकते हैं ।

१ रसल ह्यूमन नालेज, पृ० ४२९ ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय यथा रक्त अथवा किसी वस्तु अथवा वर्ण का अस्तित्व था। अतः कोई शब्द तर्कतः किसी वर्गीकरण को लागू नहीं करता जब तक कि उस से यह मांग ही न की जाय।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि मूल वाक्यों की अनुभव-सम्मतता का सिद्धान्त तार्किक आवश्यकता से प्रेरित है। हम निश्चय ही यह स्वीकार करते हैं कि विधेयों का अर्थ केवल सद्यः अनुभव से ही नहीं सामान्यों से भी ग्रहण होता है। इस प्रकार, 'मेरे दृष्टिपथ में रक्त है' यह वाक्य ही सार्थक नहीं है प्रत्युत 'मेरे दृष्टिपथ में रक्त नहीं है' अथवा 'दीवार का दूसरी ओर का भाग रक्तवर्ण है' भी सार्थक प्रयोग हैं। किन्तु इन की सार्थकता का ग्रहण उस वाक्य से होता है जो स्वयं अपनी सार्थकता के लिये किसी अन्य वाक्य का सापेक्ष नहीं है। अन्यथा सामान्य शब्द 'रक्त' की सार्थकता परिचय सिद्धान्त (ला आफ एक्वेंटेंस) के अनुसार निर्धारित नहीं होगी। जैसाकि हम ने सामान्यों के विश्लेषण के प्रसंग में देखा है, इनकी परिभाषा अनुरूपता के द्वारा ही निश्चित की जा सकती है। किन्तु इस प्रक्रिया में हम अनन्त निवर्तन दोष से केवल तभी मुक्त हो सकते हैं यदि हम 'इस रक्त' को इस प्रक्रियासे मुक्त मानें। कार्नप आदि भाववादियों ने यद्यपि मूल वाक्यों को प्रमाणयातीत तथा स्वतः पुष्ट माना है, तो भी उन्होंने इन की रूपात्मक परिभाषा (फार्मल डेफीनीशन) देने का प्रयास भी किया है। किन्तु जब वे इन्हें अप्रत्याख्येय, पुष्टीकरण-निरपेक्ष तथा वैज्ञानिक वाक्यों के मूल मानते हैं तब वे इन्हें सद्यः अनुभव के वाचक मानने को बाध्य हैं, और कभी कभी वे ऐसा मानते भी हैं, यद्यपि तब वे कहते हैं कि वे इसे वास्तव विधि (मैटीरियल मोड) में प्रस्तुत कर रहे हैं, जोकि केवल स्थूलरूप से व्यक्त करती है; उचित विधि केवल रूपात्मक विधि (फार्मल मोड) ही है। किन्तु कार्ल पाप्पर जबकि यह स्वीकार करते हैं कि "केवल परिदर्शन (आब्ज़र्वेशन) हमें तथ्यों का ज्ञान दे सकता है, और हम (जैसा कि हाह्न कहते हैं) केवल परिदर्शन द्वारा तथ्यों को जान सकते हैं" वे आगे कहते हैं कि "हमारा यह ज्ञान किसी प्रकथन को सत्य अथवा उचित स्थापित नहीं करता। अतः मैं यह विश्वास नहीं करता कि ज्ञानमीमाँसा का मूल प्रश्न यह है कि ... ...हमारे ज्ञान का मूल आधार क्या है? ...... अथवा, अधिक ठीक शब्दां में, किस प्रकार मैं अनुभव अ प्राप्त कर लिये होने पर, इस विवरण का औचित्य प्रमाणित कर सकता हूँ तथा संदेह से इस की रक्षा कर सकता हूँ? मेरे विचार में ज्ञानमीमांसा को जो प्रश्न पूछना चाहिये वह है, हम वैज्ञानिक वाक्यां का उनके निगमनात्मक परिणामों के द्वारा किस प्रकार परीक्षण कर सकते हैं? और किस प्रकार के परिणाम हम इस उद्देश्य के लिये चुन सकते हैं कि ये सार्वजनिक रूप से परीक्ष्य हो सकें?"[१०]

१० कार्ल पाप्पर—लाजिक आफ साइंटीफीक डिस्कवरी, पृ० ६८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

उपर्युक्त उद्धरण में लेखक स्पष्टतः वैज्ञानिक परीक्षण-पद्धति से इतना पराभूत है कि वह यह नहीं देख पाता कि न तो सब वाक्य परीक्षण-वाक्य हैं और न यही कि किस प्रकार परीक्ष्य वाक्य परीक्ष्य हैं। उदाहरणतः 'मेरे सिर दर्द है' यह परीक्ष्य वाक्य नहीं है। इस की हम आगे विस्तृत व्याख्या करेंगे। यहां हम कोई परीक्ष्य वाक्य लें, जैसे 'देश–काल–विन्दु $द_1$ के दाईं ओर रक्त वर्ण है' अथवा 'इस दीवार के दूसरी ओर का वर्ण रक्त है'। प्रथम वाक्य को हम संकेतों में इस प्रकार रूपान्तरित कर सकते हैं: 'स ($द_1$, द). र(द)' अर्थात् हमारे दृष्टिगत देश विन्दु $द_1$ का द से सम्बन्ध $स_1$ है और द रक्त है। यहां सम्बन्ध $स_1$ तथा देश–विन्दु $द_1$ प्रस्तुत अथवा अपरिभाषित हैं तथा द परिभाषित तथा अनिश्चित पद है। दूसरा वाक्य इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है—'स (अ य). र (य)'। यहां 'य' अपूर्ण प्रतीक अथवा परिभाषेय प्रतीक है जिस का अर्थ आभ्युपगमिक वाक्यों द्वारा परिभाषेय है किन्तु जिस की सत्यता का निर्धारण मूल वाक्यों से ही हो सकता है। ये प्रतीक दीवार के उस ओर तथा इस ओर के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। अब हमारे विचारानुसार ये दोनों वाक्य सार्थक हैं, क्योंकि इन में प्रयुक्त विधेय परिचय-सिद्धान्तानुसार सामान्य हैं। परिचय–सिद्धान्तानुसार यदि हमारे मूल वाक्यों में कभी $र_1$ घटित हुआ है तो हमारे लिये यह एक सार्थक पद है। इसी प्रकार, यदि '$स_1$ (अ आ)' हमारी भाषा में मूल वाक्य है और $स_1$ दायीं ओर होने का सम्बन्ध है तो हमारे लिये 'स (य र)' भी सार्थक है, जब कि 'य' और 'र' अनिश्चित पद हैं और स सामान्य है। किन्तु अनिश्चित पद वाला वाक्य जब कि हमारे लिये सार्थक है, यह सत्य नहीं है क्योंकि इस की सत्यता केवल तभी स्थापित होती है यदि इस के अनिश्चित पद विशिष्ट अथवा निश्चित हो जाँय। इस प्रकार किसी वाक्य को परीक्ष्यता यह विर्धारित करना है कि किस प्रकार के मूल वाक्य घटित हों तो अमुक वैज्ञानिक वाक्य सत्य समझा जायगा, अथवा अधिक ठीक शब्दों में, जिन मौलिक (नवीन) मूल वाक्यों के साथ मिलान के द्वारा हमारे सामान्य सार्थक हैं उसी प्रकार के परिणाम रूप मूल वाक्यों के प्रसंग से परीक्ष्य वाक्य सत्य होते हैं। जहां तक सार्वजनिकता का सम्बन्ध है, यह अप्रासंगिक है, क्योंकि सार्वजनिकता पुनः परीक्ष्य पद है, क्योंकि सार्वजनिकता से एकमात्र यह अभिप्राय है कि अनेक मूल वाक्य घटित होते हैं, जिन में सम्बन्ध स है। किन्तु यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह स अत्यन्त उलझनपूर्ण, और कुछ दार्शनिकों के अनुसार, अप्रमाणीय भी है। जो भी हो, 'सार्वजनिकता' कम से कम अत्यन्त उलझनपूर्ण तार्किक रचना है। जहां तक ज्ञानमीमांसा के आधार का प्रश्न है, यह प्रश्न भी अनुचित नहीं है, क्योंकि चाहे हम मूल वाक्यों से आरम्भ न भी करें तो भी केवल इसी आधार पर वैज्ञानिक वाक्यों की परिभाषा दे सकते हैं। अन्यथा पापर का परीक्ष्यता और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्वजनिकता से क्या अभिप्राय है ? पाप्पर 'अनुभव' तथा 'परिदृश्यता' (आब्ज़र्वेबिलिटी) पदों से घबराते हैं, क्योंकि ये मनोवैज्ञानिकता का भान देते हैं, और इनसे नजात पाने के लिये वे परिदृश्यता को अपरिभाषेय पद मान लेते हैं। उन के अनुसार "मूल वाक्य चित्र भाषा (मैटीरियल मोड आफ स्पीच) में वे वाक्य हैं जो प्रतिपादित करते हैं कि कोई परिदर्शनीय घटना किसी विशेष देश-काल में घटित हो रही है। ...... और परिदृश्यता यहां अपरिभाषेय है, किन्तु यह सुचारु रूप से व्याख्येय है।"११ अब देखें कि वे 'परिदृश्यता' को किस प्रकार विस्थापित करते हैं। उन के अनुसार, "मैं इस (परिदृश्यता) का इस प्रकार प्रयोग कर रहा हूँ कि इसे स्थूल भूत-पिण्डों की स्थिति और गति की घटना से भी स्थानान्तरित किया जा सकता है। अथवा, हम इसे अधिक ठीक शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं: कि प्रत्येक मूल वाक्य या तो स्वयं भूत-पिण्डों की सापेक्ष स्थिति के बारे में हो अथवा यह इस प्रकार के किसी यान्त्रिकतावादी (मेकेनिस्टिक) अथवा भौतिकतावादी (मैटीरियलिस्टिक) मूल वाक्य के अनुरूप हो।"१२ किन्तु वे 'भूत-पिंड', 'गति' तथा 'स्थिति' को क्या अर्थ देते हैं? क्या ये पद भी अपरिभाषेय हैं? यहां वे परिदृश्यता से अपील करने को बाध्य हैं, किन्तु इस की मनौवैज्ञानिकता से मुक्ति पाने के लिये वे सार्वजनिकता तथा सर्वेन्द्रियता (इन्टर सेंसिबिलिटी) से अपील करने को बाध्य हैं। किन्तु यह एकदम गड़बड़झाला है।

२

हम ने देखा कि मूल वाक्य अन्य वाक्यों के सत्यापन के लिये तार्किक रूप से आवश्यक हैं तथा अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वे तभी कर सकते हैं यदि ये सद्यः—अनुभव के व्यंजक हों। दूसरे शब्दों में, मूल वाक्य की सार्थकता किसी अनुभव के साथ सम्मतता के द्वारा उत्पन्न होती है। अब हमें देखना है कि इन मूल वाक्यों की रचना किस प्रकार से होनी चाहिये।

स्वभावतः यहां एकदम जो उत्तर हमारे मन में उत्पन्न होगा वह यह होगा कि ये वाक्य हमारे सद्यः अनुभव के अनुरूप ही होने चाहियें। अथवा आप सद्यः अनुभव के स्थान पर 'मूल तथ्य' भी कह सकते हैं, जैसाकि अणुवादियों ने प्रतिपादित किया था। किन्तु क्या हमारी मूल वाक्यों की अवधारणा किसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है ? यदि यह किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है तब प्रत्येक दार्शनिक को पहले सद्यः अनुभव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरम्भ करना होगा और इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक के मूल वाक्य उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से निर्धारित होंगे। अब, अनेक मनोवैज्ञानिक 'रक्त, यहां, अब'

११ लाजिक आफ साइंटीफीक डिस्कवरी—पृ० ९८। १२, वहीं, पृ० १०३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

अथवा 'यहां, अब, रक्त संस्थान $स_1$ है' द्वारा व्यक्त तथाकथित अनुभव को दुरारूढ़ कल्पना मानेंगे, क्योंकि उनके अनुसार, हम ऐसा सद्यः तथा पृथक्कृत अनुभव नहीं करते। उदाहरणतः हमारे किसी भी चाक्षुष संवेद में वस्तु की स्थूलता, कठोरता—कोमलता आदि भी उतनी ही सहजरूप से घटित होती हैं जितनी सहजता से वर्ण; क्योंकि उकसाहट तथा प्रतिक्रिया के बीच केन्द्रीय सजीव शरीर क्रियान्वित होता है। इस सिद्धान्त को 'उ. क. प्र.' (एस.सी.आर.) का सिद्धान्त कहते हैं। विश्लेषणवादी मनोविज्ञान के विरुद्ध जेस्टाल्ट मनोविज्ञान एक ऐसा ही उत्तर है। वास्तव में कोई विश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक भी 'उकसाहट-केन्द्र-प्रतिक्रिया' सिद्धान्त से निषेध नहीं करेगा, जैसा कि पावलाव के विश्लेषण में देखा जा सकता है। इस प्रकार, वास्तव में मूल वाक्यों द्वारा वांछित सद्यः अनुभव का अत्यन्त विशुद्ध रूप कोई भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार नहीं करेगा। किन्तु जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, मूल वाक्यों का निर्माण एक तार्किक उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया गया है, जिसे हम 'तार्किक प्रमाण' कह सकते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि हम ऐसे वाक्यों, जैसे 'यह मेज़ है' को मूल वाक्य क्यों नहीं मान लेते ? इस का कारण स्पष्ट है, इस वाक्य में घटित 'मेज़' पद से हम मांग करते हैं कि इस के द्वारा संकेतित विषय एक व्यक्ति के एक समय पर अनेक संवेदों का, एक व्यक्ति के अनेक क्षणों पर अनेक संवेदों का, अनेक व्यक्तियों के एक काल में अनेक संवेदों का, अनेक व्यक्तियों के अनेक कालों पर अनेक संवेदों का विषय होने का तथा, किसी भी संवेद विशेष का विषय न होने पर भी अस्तित्ववान होने का, कार्य सम्पादन करे। अब मान लीजिये कि मैं स्वप्न में मेज़ देख रहा हूं, अथवा रस्सी को साँप समझ रहा हूं। इन अवस्थाओं में मेरा यह कथन कि 'यहां मेज़ है' अथवा 'यहां साँप है' असत्य समझा जायगा। किन्तु यदि हम ऐसे वाक्यों जैसे 'यह मेज़ है' को ही मूल वाक्य मान लें तो इन वाक्यों का सत्यापन अथवा असत्यापन असम्भव हो जायगा। इस प्रकार, परिभाषया ऐसे वाक्य मूल वाक्य नहीं हो सकते। इसके विपरीत, ऐसे वाक्य जैसे 'यहां रक्त संस्थान $स_1$ घटित हो रहा है' परिभाषया ऐसे वाक्य हैं जो किसी आत्मेतर प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते। 'मूल वाक्य' इस प्रयोग में यह पूर्वकल्पित है कि यह इंगित के साथ ही प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, यह कहना कि (१) शायद मैं रक्त संस्थान देख रहा हूं, अथवा किसी अन्य द्वारा मेरे उपर्युक्त वाक्य प्रयोग करने पर यह आपत्ति करना कि (२) कथित रक्त संस्थान घटित नहीं हो रहा है, एक दम निरर्थक है। क्योंकि इस शासन के विधानानुसार उपर्युक्त वाक्य केवल तभी प्रयुक्त किया जा सकता है जबकि $स_1$ घटित हो रहा है। और यह वाक्य यह सर्वथा प्रकथित नहीं करता कि संस्थान $स_1$

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्वजनि,कअथवा सर्वेन्द्रियता का भी विषय, है। दूसरे शब्दों में, यह प्रकथन निरर्थक है कि मैं रक्त संस्थान देख रहा हूं किन्तु निश्चित नहीं हूं कि रक्त संस्थान वास्तव में घटित हो रहा है, तथा, कि मैं देख सकता हूं कि वह रक्त संस्थान देख रहा है, अथवा अनुभव कर रहा हूँ कि उस के सिर में दर्द है।ये वाक्य सामान्य प्रयोग के अनुसार निरर्थक अथवा ग़लत हैं।

मूलवाक्यों सम्बन्धी उपर्युक्त अवधारणा के विरुद्ध अनेक आपत्तियां उठाई गयी हैं और इन में से अधिकांश इस अवधारणा के मूल उद्देश्य को भुला देने के कारण उत्पन्न होती हैं। हमने पीछे राइल के आक्षेपों पर विचार किया था। यहां हम उनके कुछ और आक्षेपों पर विचार करेंगे। उनके अनुसार, हमारे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त क्रिया-पद, जैसे 'खाना' 'सुनना' और 'चखना' विशुद्ध संवेदों के विधायक नहीं हैं, क्यों-कि हम 'घुड़ दौड़ देखने' का, 'गाड़ी सुनने' का तथा'अंगूरी शराब चखने' का प्रयोग करते हैं और दौड़ें, गाड़ियां तथा शरावें संवेद नहीं है।"१२ यहां राइल यह कहना चाहते हैं कि 'देखना' आदि शब्दों का प्रयोग ही हम इस प्रकार करते हैं कि इन का प्रयोग किसी संवेद के देखे होने या संवेद के चखे होने आदि के लिये अयुक्त है। किन्तु यदि हम कहें, जैसा कि अनेक संवेदवादी कहते हैं, कि घुड़दौड़े देखना लागू करता है कि कम से कम एक संवेद घटित हुआ है, क्योंकि जब तक हम संवेदन नहीं करेंगे तब तक देखे होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, तो इसके विरुद्ध राइल आपत्ति करते हैं कि 'यदि घुड़दौड़ का आभास (ग्लिंप्स) लागू करता है कि कम से कम एक संवेद घटित हुआ है, तो वर्ण संस्थान का आभास यह लागू करता है कि कम से कम एक उपयुक्त संवेद घटित हुआ है; और पुनः, हमें इस संवेद का विश्लेषण इससे पूर्व एक अन्य संवेदन किये होने में करना होगा, और इस प्रकार अनन्त श्रृंखला को स्वीकार करना होगा। किन्तु मूलवाक्यों सम्बन्धी हमारी स्थापना के अनुसार उपर्युक्त आपत्ति निराधार प्रतीत होती है। जैसाकि हमने देखा है हमारा 'घुड़दोड़' का प्रयोग यह लागू करता है कि कम से कम एक संवेद घटित होता है और उपयुक्त परिस्थितियों में अनेक उपयुक्त संवेद घटित हो सकते थे, जबकि संस्थान संवेद का घटित होना किसी अन्य संवेद को परिभाषया लागू नहीं करता। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संवेद का प्रतीयमान रक्तादि विशेषण वास्तव में उस की संज्ञा है, क्योंकि रक्त-वर्णता और संस्थान $स_1$ संवेद से भिन्न कुछ नहीं हैं। और केवल तर्कतः ही नहीं तथ्यतः भी घुड़दौड़ का प्रत्यक्ष जब कि कम से कम एक संवेद घटित हुए होने को लागू करता है; 'यह संवेद' किसी अन्य संवेद को लाग नहीं करता। हमने पीछे देखा

१२ कांसेप्ट आफ माइंड, पृ० २१०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि दूर से आते किसी मनुष्य को देख कर कभी कभी मैं यह नहीं कह सकता कि यह मनुष्य है, भेड़ है अथवा कुत्ता है। किन्तु इस अवस्था में भी एक वर्ण-संस्थान घटित होता है। अब जब कि यह वाक्य कि 'यह मनुष्य है' प्रत्याख्येय है, यह वाक्य कि 'यह वर्ण संस्थान स$_1$ है' अप्रत्याख्येय है। इस प्रकार, जब मैं किसी मनुष्य को देखता हूँ और कहता हूँ—यह रमेश है, जबकि मैं इसे स्पष्ट देख रहा हूँ, मैं पहले केवल वर्ण-संस्थान देखता हूँ। जैसे, मान लें कि मेरे यदि स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तो मैं उसे नहीं पहिचान सकता। सामान्य रूप से भी, हम पहले देखते हैं और पीछे पहिचानते हैं। किन्तु इसी लिये यह नहीं कहा जा सकता कि मैं जब देखता हूँ तो उससे पूर्व भी देखता हूँ।

संवेदवाद इस संवेद विषय को अस्तित्व मूल्य देता है। उसके अनुसार, जब हम पानी में आधी डूबी छड़ी को देखते हैं तब वास्तव में "कुछ वक्र है"। संवेदवाद की मूल वाक्यों सम्बन्धी तार्किक अवधारणा का यह अनिवार्य अंग है। जबकि प्रत्येक वस्तु-वाक्य मूल वाक्यों से तार्किक रचना है, तब मूल वाक्य द्वारा व्यक्त अनुभव-विषय के सम्बन्ध में यह कथन कि "सीधी छड़ी पानी में आधी डूबी होने पर वक्र दिखाई देती है और वक्र संस्थान कोई अतिरिक्त अस्तित्व नहीं है", वास्तव में उस संवेद के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता, यह सिद्धांत वाक्य है। इस प्रकार राइल का यह कथन कि "जब वह कहता है कि वह वक्र-स्थित प्लेट अण्डवृत्ताकार दिखाई देती है, अथवा, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह अण्डवृत्ताकार हो," उसका अभिप्राय होता है कि वह ऐसी दिखाई देती है जैसी एक सरल-स्थित किन्तु अण्ड-वृत्ताकार प्लेट दिखाई देगी। गोलाकार किन्तु वक्र-स्थित वस्तुएं कभी कभी एकदम सरल-स्थित अण्ड-वृत्ताकार जैसी दिखाई देती हैं, पानी में आधी डूबी किन्तु सीधी छड़ी पानी से बाहर रखी टेढ़ी छड़ी जैसी दिखाई देती है। .... यह कहने में कि प्लेट अण्ड-वृत्ताकार दिखाई देती हैं, वह किसी अतिरिक्त विषय, एक प्रत्यक्ष, को अण्डवृत्ताकार होने से विशेषित नहीं करता, वह (इस तथ्य को कि) एक वक्र स्थित गोल वृत्ताकार प्लेट कैसी दिखाई देती है, (इस तथ्य से कि) एक सरल स्थित अण्डवृत्ताकार प्लेट कैसी दिखाई देती है, अथवा देगी, से उपमित करता है।"[१४] अब यह स्पष्टतः सिद्धांत-प्रतिपादन है, और राइल ने आगे स्वयं यह कहा भी है। वे कहते हैं: "यह प्लेट के वास्तविक प्रत्यक्ष (लुक) पर सरल-स्थित अण्डवृत्ताकार प्लेटों के सम्बन्ध में नियम लागू करना है।" किन्तु राइल का यह इतना विस्तृत विश्लेषण इस आधार पर खड़ा है कि हम इस या उस वाक्य को सामान्य भाषा में किस प्रकार प्रयुक्त करते हैं। किन्तु संवेदवाद भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रतिपादन नहीं है, यह एक तात्विक सिद्धांत

१४ कांसेप्ट आफ माइंड, पृ० २१७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इसका प्रस्थानविन्दु यह है कि जव पानी में अर्ध-निमज्जित सरलाकार छड़ी टेढ़ी दिखाई देती है तब वास्तव में "कुछ वक्राकार है" जवकि 'सीधी छड़ी पानी में वक्राकार दिखाई देती है' एक सिद्धांत वाक्य है और सिद्धांत वाक्य स्वयं इन तथ्य वाक्यों के व्यवहार के सम्बन्ध में अभ्युपगम मात्र है। अन्यथा 'सरलाकार छड़ी पानी में अर्ध-निमज्जित होने पर वक्राकार दिखाई देती है' इसका क्या अभिप्राय है? जैसाकि हम पीछे कह आये हैं, दो मूल वाक्यों में परस्पर व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि कोई मूलवाक्य अन्य मूलवाक्यों को लागू नहीं करता। व्याघात की विद्यमानता एक नियम को पूर्वकल्पित करती है। मूलवाक्यों के संवन्ध में यह नियम आनुभविक सिद्धांत नहीं है, यह इन की परिभाषा में निहित है। अव 'सरलाकार छड़ी वक्राकार दिखाई देती है', यदि यह एक सिद्धांत वाक्य नहीं है, और इस प्रकार, हमारे आभ्युपगमिक संवेदों के सम्बन्ध में प्रकथन नहीं है, तो यह एक ऐसा वाक्य है जिसको कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता, क्योंकि 'सरलाकार' उतना ही संवेदापेक्षी है जितना 'वक्राकार'। इस प्रकार, एक ही छड़ी सरलाकार और वक्राकार कैसे दिखाई देती है? दो परस्पर विरोधी विधेयों का एक ही उद्देश्य होना व्याघात है। इस प्रकार, 'छड़ी सरलाकार है और वक्राकार है' व्याघात दोष युक्त है। इससे मुक्ति हमें तभी मिल सकती है जव 'यह छड़ी है' इसे तार्किक रचना मानें तथा विभिन्न आभ्युपगमिक संवेदों के संवंध में प्रकथन मानें।*

जैसाकि हम पीछे कह आये हैं, संवेदवाद की यह स्थापना कि "संवेदविषयों के अतिरिक्त कोई वस्तु ज्ञेय नहीं है" एक वैज्ञानिक स्थापना नहीं है, इस वाक्य की हमें एक तार्किक वाक्य के रूप में रचना करनी होगी। वैज्ञानिक विश्लेषण संवेद वाक्यों से आरंभ न हो कर संश्लिष्ट अनुभव वाक्यों से आरम्भ होता है, इस के विपरीत, तार्किक विश्लेषण में विश्लेषण मूल पदों से आरम्भ होता है तथा संश्लिष्ट पदों की ओर उन्मुख होता है। मनोविज्ञान में संवेद विश्लेषण के अन्तिम छोर पर प्राप्त होते हैं जबकि तर्कशास्त्र में ये आधारभूत प्रतिज्ञाएं हैं। जव हम कहते हैं कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव पर आधारित है, यह तव उसी प्रकार का प्रकथन नहीं है जिस प्रकार का यह प्रकथन कि "जहां जहां धूम होता है वहां वहां वह्नि होती है" है। यह नियम स्थापित करता है कि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान जिन पदों में अभिव्यक्त होता है उन्हें हम विशिष्ट संज्ञायें कहेंगे, और जिन वाक्यों में केवल विशिष्ट संज्ञाएं तथा सम्बन्ध-वाचक पद घटित होते हैं वे मूल वाक्य हैं, और प्रत्येक अन्य वाक्य की

* इस प्रसंग में द्रष्टव्य हमारा लेख-" संवेद और भौतिक विषय" दार्शनिक, अप्रैल १९५८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

सार्थकता परिभाषया मूल वाक्यों की सत्य-प्रक्रिया (ट्रूथ फंक्शन) द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार, यह तथ्यात्मक नियम नहीं है, यह केवल एक शाब्दिक नियम है। वस्तु वाक्यों अथवा सिद्धान्त वाक्यों को मूल वाक्यों की सत्यप्रक्रिया मानने के विरुद्ध अनेक आपत्तियां की गयी हैं,[१५] और हम उनमें अधिकांश से सहमत हैं, किन्तु इससे उपर्युक्त स्थापना में कोई अन्तर नहीं आता। उस अवस्था में इतना मात्र परिवर्तन करने की आवश्यकता है कि "वस्तु–वाक्य अथवा सिद्धान्त वाक्य की सत्यता का ग्रहण (अपूर्णतया ही सही) मूल वाक्यों से होता है"।

अब, जब यह कहा जाता है कि 'छड़ी' अथवा 'भौतिक विषय' आभ्युपगमिक संवेदों के सम्बन्ध में प्रकथन हैं,तब इस का अभिप्राय यह है कि ये शब्द हमारी तार्किक भाषा की विशिष्ट संज्ञाएं नहीं हैं, ये निरूपण पद (डिस्क्रिप्शंज़)अथवा अपूर्ण प्रतीक हैं तथा इन का अर्थ इतर स्तरीय विश्लेषण द्वारा गम्य है। इस प्रकार, 'एक और केवल एक वस्तु छड़ी है और वह देश–काल बिन्दु $द_1$ पर है' इस का विश्लेषण निम्न प्रकार के वाक्यों में होगा– 'देश–काल विन्दु $द_1$ पर कम से कम एक छड़ीवत् संस्थान-संवेद घटित हो रहा है'। यहां तक कोई आभ्युपगमिक वाक्य घटित नहीं होता, यदि 'यह छड़ी है' वाक्य 'यह छड़ीवत् संस्थान–संवेद है' का वाचक है। जैसाकि हम पीछे कह आए हैं, किसी शब्द द्वारा सद्येतर प्रसंग स्वयं निर्देशित नहीं होता। किन्तु यदि 'यह छड़ी है' में प्रयुक्त पद-'छड़ी' भौतिक विषय के वाचक रूप में प्रयुक्त हो रहा है तब इस का अनुवाद होगा 'देश–काल $द_1$ पर संवेद $स_1$ घटित हो रहा है और उचित परिस्थितियों में संवेद $स_2$ ... $स_न$ घटित होंगे", $स_न$ जबकि असीम संख्या के लिये भी हो सकता है। यहां पुनः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'देश–काल विन्दु $द_1$ पर संवेद $स_1$ घटित हो रहा है' यह सर्वथा लागू नहीं करता कि $स_2$ ... $स_न$ घटित होंगे',क्योंकि कोई मूल वाक्य दूसरे मूलवाक्य को लागू नहीं करता,जैसा कि हम पीछे भी कह आये हैं। इस प्रकार 'वहां छड़ी है' को प्रतीकों में परिवर्तित कर हम इस के लागू करने के रूप को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं — [(य) (छड़ी(य) ⊃ स (य).($स_1$(अ))] सामान्य भाषा में, 'वहां छड़ी है' वाक्य लागू करता है कि 'उपयुक्त परिस्थिति में कम से कम एक संवेद घटित होगा।' प्रो० एयर ने इस स्थापना की आलोचना करते हुए कहा है कि 'यदि उस कमरे में डेस्क है' वाक्य इस अभ्युपगम तथा अन्य अभ्युपगमों के संकलन के बराबर है,और यदि यह अभ्युपगम असत्य है तो यह वाक्य कि 'उस कमरे में डेस्क है' भी असत्य होगा। क्योंकि, प्रायः यदि 'प' 'क.र.स'. के समुच्चय के

१५ द्रष्टव्य–उर्मसन की पुस्तक–फिलासफीकल एनेलेसिस, तथा वार्नाक की–इंग्लिश फिलासफी सिंस १६००।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बराबर है तो '∽क' '∽प' को लागू करता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि जोंस कमरे में आता है तो हो सकता है कि वह डेस्क की ओर ध्यान न दे, अथवा वह अन्धा हो आदि, तब यह अभ्युपगम वाक्य असत्य हो जायगा।"[१६] किन्तु यह एक स्पष्ट भ्रान्ति पर आधारित है। 'उस कमरे में डेस्क है' वाक्य यह लागू नहीं करता कि 'यदि जोंस उस कमरे में होगा तो विशिष्ट संवेद घटित होगा' और यह वाक्य को प्रमाणित करेगा, प्रत्युत वह यह लागू करता है कि 'यदि $द_1$ के उपलक्ष से $स_1$ घटित होता है तो यह स्थापित करेगा कि वहां मेज़ है।' ऊपर प्रतीकों में यह प्रतिपादित किया गया है कि किसी भी उपयुक्त संवेद का घटित न होना लागू करेगा कि वहां डेस्क नहीं है। किन्तु इस वाक्य का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जोंस की उपस्थिति यह लागू करती है कि वहां संवेद घटित होगा। यहां केवल संवेद का घटित होना लागू होता है। किस प्रकार से घटित होना सत्यापक तथा किस प्रकार से घटित न होना असत्यापक माना जायगा, यह व्यवहार की बात है; और अन्धा जोंस मेज़ नहीं देखे गा, यह एक व्यवहारिक सत्य है। अब, हम सब अन्धे हो सकते हैं अथवा अन्यत्र ध्यानावस्थित हो सकते हैं; उस अवस्था में कोई मूल वाक्य घटित नहीं होगा। किन्तु उस अवस्था में यह वाक्य प्रमाणित भी नहीं होगा। पर यह प्रत्याख्यात भी नहीं होगा, क्योंकि उस अवस्था में न तो क घटित होगा और न ∽क। उपर्युक्त स्थापना को हम इस प्रकार रख सकते हैं कि किसी वाक्य को आभ्युपगमिक संवेद–वाक्य कहने का अभिप्राय यह है कि उपयुक्त परिस्थितियों में कोई अभिधानात्मक (एपेल्लेशन) मूल वाक्य इस वाक्य की सत्यता को प्रतिष्ठित करता है, दूसरे शब्दों में, यदि एक सामान्य द्रष्टा कुछ संवेद-विषय देखता है, अथवा देख चुका है तो इस से यह प्रतिष्ठित होता है कि वहां डेस्क है। क्योंकि यदि मुझे कहा जाता है कि मेरे पास क्या प्रमाण है कि साथ के कमरे में डेस्क है, तो मैं इस का उत्तर केवल यही दे सकता हूँ कि '$द_1$ पर $स_1$ घटित हुआ था और $द_1$ पर $स_2$ घटित होगा।' इनमें से कोई भी एक वाक्य प्रकथनात्मक पदार्थ-वाक्य के लिये पर्याप्त आधार है, यद्यपि यह पूर्ण आधार नहीं है। इस प्रकार, जबकि 'वह डेस्क है" $\supset$ $द_1$ पर $स_1$ $स_2$ . . . सन घटित होंगे वहां $स_1(द_1)$ $\supset$ 'वहां डेस्क है' उचित नहीं है, क्योंकि प्रथम वाक्य मूल वाक्य है और दूसरा वाक्य सामान्य वाक्य है। अब यहां पर प्रयुक्त '$\supset$' प्रतीक को रूपात्मक तर्क में प्रयुक्त इस प्रतीक से उपमित करना थोड़ा रोचक हो सकता है। रूपात्मक प्रतीक की शर्त यह है कि इस के उत्तर पद की असत्यता पूर्व पद की सत्यता के साथ वाक्य की असत्यता को प्रतिष्ठित करती है जबकि इसके पूर्व पद की असत्यता वाक्य की सत्यता को प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार, इस की सत्यता का आदर्श पूर्व पद की असत्यता से प्रतिष्ठित होता है। किन्तु स्पष्टतः

१६. प्राब्लम आफ नालेज, पृ० १२६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

उपर्युक्त वाक्यों में प्रकथनों का यह आदर्श नहीं है। यहां केवल इतना मात्र लागू होता है कि यदि पूर्व पद सत्य है तो उत्तर पद अवश्य सत्य होगा, यदि पूर्व पद असत्य है और उत्तर पद सत्य है तो भी वाक्य सत्य होगा। इस में अन्तिम के सम्बन्ध में कुछ आश्चर्य हो सकता है, किन्तु हमारे विचार में यह आधारभूत महत्व का है। वाक्य का यह रूप प्रतिपादित करता है किं पूर्व पद (वस्तु-वाक्य) की सत्यता या असत्यता अप्रासंगिक है, क्योंकि वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता के लिये आधार केवल उत्तर पद ही हो सकता है, पूर्व पद उत्तर पद के बिना निर्देश-रहित है। किन्तु यदि हमें पूर्व पद की असत्यता अभिप्रेत है, जैसा कि '⊃' में है, तब इस का अभिप्राय यह हो जाता है कि हम कहना चाहते हैं कि भ्रम अथवा सन्निपात (हैल्यूसीनेशन) की स्थिति में घटित संवेद, अथवा संवेदाभाव भी, हमारे वाक्य के आदर्श हैं। संवेदाभाव इसलिये क्योंकि दोनों पदों की असत्यता भी वाक्य की सत्यता की प्रतिष्ठा करती है। किन्तु हमारा वाक्य प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमत् (कौंटर्फेक्चुअल कंडीशनल) भी नहीं है, जिसमें दोनों पदों की सत्यता ही वाक्य को प्रमाणित कर सकती है और पूर्व पद की असत्यता पूर्वनिश्चित है। संवेद वाक्य में उत्तर पद की सत्यता वाक्य की सत्यता का आधार है जबकि एंटेलमेंट वाक्यों तथा प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमत् कौंटर फेक्चुअल) वाक्यों में ऐसा नहीं है।

किन्तु बर्लिन इस पर आपत्ति करते हैं कि "जब हम कहते हैं कि 'साथ के कमरे में मेज़ है' तब हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि यदि कोई साथ के कमरे में जाएगा तो वहां संवेद घटित होंगे।" उनके अनुसार प्रकथनात्मक वाक्य ऐसी किसी सम्भावना की अपेक्षा नहीं करते, वे इस से स्वतन्त्र और निरपेक्ष अर्थ रखते हैं। इस प्रकार के तर्क के विरुद्ध हम पर्याप्त प्रकाश डाल आये हैं, अतः यहां केवल प्रो० एयर का तर्क उद्धृत कर आगे बढ़ेंगे। उनके अनुसार "कुर्सियों तथा मेज़ों के सम्बन्ध में निश्चयात्मक (कैटेगोरीकल) वाक्यों को संवेदों के सम्बन्ध में आभ्युपगमिक वाक्यों द्वारा स्थानान्तरित करने में कोई सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं है, जिस प्रकार इलेक्ट्रंज़ के सम्बन्ध में विनिश्चयात्मक वाक्यों को भूतवैज्ञानिक परीक्षण के परिणाम सम्बन्धी वाक्यों में स्थानान्तरित करने में अथवा लोगों की अचेतन अनुभूतियों सम्बन्धी विनिश्चयात्मक वाक्यों का उन के प्रकट व्यवहार सम्बन्धी आभ्युपगमिक वाक्यों से स्थानान्तरित करने में कोई कठिनाई नहीं है।"[17] किन्तु बर्लिन की यह आपत्ति कि 'साथ के कमरे में मेज़ है' वाक्य को संवेदों के सम्बन्ध में प्रकथन कहना वैसे ही अनुचित है, क्योंकि पदार्थ वाक्य का संवेद वाक्यों में विश्लेषण मनोवैज्ञानिकता से दूषित है, वास्तव में स्वयं उनकी आपत्ति के लिये अधिक सत्य है। क्योंकि जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं, पदार्थ वाक्य के लिये

१७. प्राब्लम्स आफ नालेज; पृ० १२१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार केवल संवेद वाक्य ही हैं। तब यह प्रकथन कि पदार्थ वाक्य केवल विनिश्चयात्मक विधान के कारण आभ्युपगमिक नहीं हैं, इस कथन जैसा है कि चाहे पदार्थ वाक्य के लिये आधार केवल संवेद वाक्य ही हैं, किन्तु इस से हमारी सन्तुष्टि नहीं होती कि हम उसके विनिश्चयात्मक रूप को आभ्युपगमिक रूप से स्थानान्तरित करदें। कुछ दार्शनिकों ने बर्लिन की इस आपत्ति को और भी अधिक स्पष्ट और सबल शब्दों में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार–

(i) यह कहना है कि 'मेरे कमरे में डेस्क है', मेरे संवेदों के सम्बन्ध में उससे अधिक प्रकथन नहीं करता जितना यह किसी भी अन्य के संवेदों के सम्बन्ध में।

(ii) यदि मैं अपने कमरे में हूँ और अपना डेस्क देख सकता हूँ, तब भी जब मैं कहता हूँ कि 'मेरे कमरे में डेस्क है', तब मैं यह नहीं कहता कि 'मैं संवेद विषय देख रहा हूँ'।

(iii) अपने कमरे में होने पर मैं डेस्क-रूप संवेद-विषय देख रहा हो सकता हूँ, और तब भी यह सम्भव है कि वहां डेस्क न हो, संभव है ये संवेद सन्निपातजन्य हों, अथवा मैं दर्पणादि द्वारा छला गया होऊँ।

किन्तु ये तीनों तर्क, हमारे प्रतिपादन के अनुसार, संवेदवादी विश्लेषण को तनिक भी खण्डित नहीं करते। तृतीय आपत्ति वास्तव में जितनी ठोस दिखाई देती है यह उतनी ही भ्रान्त तथा थोथी है। संवेदवाद का भौतिक-विषय-वाक्यों की अविश्लेष्यता के विरुद्ध एक आधारभूत तर्क यह है कि हम सन्निपात में भी डेस्क देखते हैं और स्वस्थावस्था में भी, इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे से अधिक ठोस होने का दावा स्वतः नहीं कर सकता। और यह निर्णय कि इन में कोन भ्रम-जन्य है, केवल संस्थान के प्रसंग से हो सकता है, जोकि तथाकथित भौतिक विषय है। यह संस्थान तथा संस्थान और सदस्य का सम्बन्ध हमारे अवधारणाओं के ढांचे की उपज (प्राडक्ट्स आफ आवर कांसेप्चुअल फ्रेम वर्क) हैं। प्रथम भ्राम्यता केवल इस बात में है कि यह आगमन के जिस नियम की अपेक्षा करता है उस पर पूरा नहीं उतरता, जबकि दूसरा कम से कम उस सीमा तक पूरा उतरता है जिस सीमा तक हम जाते हैं। अब मान लीजिये कि हम कहते हैं कि 'यह डेस्क है', जबकि हम पूर्ण स्वस्थ हैं और चेतन हैं, किन्तु थोड़ी देर बाद जब हम उसे छूने को जाते हैं और वहां हमारा हाथ किसी कठोर अवरोध से नहीं बाधित होता, अथवा कोई अन्य व्यक्ति आता है और कहता है कि वह कुछ देख या स्पर्श नहीं कर रहा है, और इसी प्रकार अन्य भी अनेक व्यक्ति कहते हैं, तब हम समझते हैं कि हम भ्रम में हैं। अब न तो कभी पूर्णतः यह स्थापित किया जा सकता है कि मैं भ्रम में हूँ, क्योंकि दस या बीस व्यक्तियों को जबकि कोई संवेद घटित नहीं होता तब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

संभव है अन्य सौ अथवा अधिक को घटित हो; यह केवल संभाव्य हो सकता है और संभाव्यता का आधार केवल वास्तव संवेद ही हैं। अब मान लें कि अतीत, वर्तमान तथा भविष्य में सवेदानुभवों की सम्भाव्य संख्या सन है, जबकि सन कोई भी सीमित संख्या है, तब १–सन संख्या के परस्पर प्रतिपोषक होने पर किन्तु $स_1$ के बाधक होने पर यह स्थापित होगा कि $स_1$ भ्रमजन्य है, क्योंकि किसी वस्तु वाक्य का प्रामाण्य अथवा प्रत्याख्येयता अन्य किसी प्रकार से उपलब्ध नहीं होती। कोई कह सकता है कि इस का प्रमाण है कि $स_1$ भ्रम संवेद है। उससे प्रश्न किया जायगा "आप का भ्रमसंवेद से क्या अभिप्राय है?" स्वभावतः वह इस का उत्तर देगा कि जब संवेद–विशेष किसी वस्तु का उचित प्रकाशन नहीं करता तब वह भ्रम सवेद है। उससे आगे प्रश्न होगा, 'वस्तु के उचित प्रकाशन' से आप का क्या अभिप्राय है? उत्तर हो सकता है, साँप में साँप का ज्ञान उचित प्रकाशन है जबकि रस्सी में साँप का ज्ञान अनुचित प्रकाशन है। अब प्रश्न पुनः वहीं घूम आता है जहां से आरम्भ किया था; इसका आपके पास क्या प्रमाण है कि आपने जब रस्सी का बोध किया तब वास्तव में वह रस्सी नहीं साँप था और पश्चात् जब साँप का बोध किया तब वास्तव में वह रस्सी नहीं थी, साँप ही था। अथवा, इसका आपके पास क्या प्रमाण है कि जब आप रस्सी को देख रहे थे तब वास्तव में आपने साँप को रस्सी समझा था और जब आप निर्णय कर रहे थे कि "यह साँप है, मैंने भूल से इसे रस्सी समझ लिया था" तब वास्तव में आप रस्सी को साँप नहीं समझ रहे थे? 'इस अवस्था में हम केवल अन्य संवेदों को ही प्रतिपुष्टीकरण के लिये प्रस्तुत कर सकते हैं। यहां एक और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है:— यह सामान्य वाक्य ऐसा वाक्य नहीं है जैसा 'सब कव्वे काले हैं' वाक्य है, जबकि एक के अतिरिक्त सब कव्वे देखे जा चुके हैं, और एक अदृष्ट कव्वा काला नहीं है। वैसा वाक्य यह तब होगा जब कहा जाय 'देश–काल $द_1$ के प्रसंग से सब डेस्क-रूप संवेद रक्ताभ हैं' जबकि एक के अतिरिक्त ये सब संवेद प्रस्तुत हों और यह एक संवेद प्रस्तुत होने पर रक्ताभ हो। विषय-वाक्य की सत्यता विभिन्न परस्पर पोषक संवेद-वाक्यों के घटित होने में है। अब यदि कोई एक या कुछेक संवेद बाधक भी घटित होते हैं, किन्तु उन की संख्या बहुत कम है, तब भी वस्तु-वाक्य की संभाव्य सत्यता खण्डित नहीं होगी, इसके विपरीत ये संवेद भ्रम-संवेद समझे जाँयगे।

किन्तु इस स्पष्टीकरण तथा आपत्ति-निराकरण के अन्त में हम कुछ नवीन तथा अधिक गम्भीर आपत्तियों के सम्मुख आ खड़े होते हैं: कितने प्रतिपोषक संवेद-वाक्य वस्तु वाक्य की सम्भाव्यता स्थापित करेंगे? क्या संवेद वाक्यों की कितनी भी बड़ी संख्या वस्तु वाक्य के बराबर हो सकती है? यदि नहीं, तब वस्तु वाक्य पूर्व प्रमाण के अयोग्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, कभी यह नहीं कह सकते कि "मैं जानता हूँ कि यह मेज़ है।" और फिर, क्या वस्तु वाक्य संवेद वाक्यों में बिना अवशेष के विश्लेष्य है ?

जैसाकि हम ने कहा है, वस्तु-वाक्य संवेद वाक्यों की शृंखला में अनुवाद्य है, किन्तु इन संवेद-वाक्यों की शृंखला सीमित नहीं हो सकती। यदि काल में इस संख्या को सीमित भी माना जाय तब भी देश में यह असीम है। अतः सैद्धान्तिक रूप से कोई वस्तु-वाक्य असन्दिग्धतया स्थापित नहीं किया जा सकता। अतएव सैद्धान्तिक रूप से वस्तु-वाक्य पूर्णतः प्रमाणित नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान शब्द का प्रयोग हम 'असन्दिग्धतया प्रमाणित' के साथ ही कर सकते हैं।

प्रो० मूर के अनुसार, हम कुछ वस्तु-वाक्यों को असन्दिग्धतया जान सकते हैं, जैसे 'यह मेरा हाथ है' वाक्य को, चाहे हम इसे प्रमाणित नहीं भी कर सकते हों। उनके अनुसार, हम उन वाक्यों को भी जान सकते हैं जिन्हें हम प्रमाणित नहीं कर सकते। श्री सुरेश चन्द्र ने इसके विरुद्ध आपत्ति की है कि यह प्रकथन अनुचित है, क्योंकि सम्भव है हम स्वप्न में हाथ देख रहे हों अथवा हिप्नोटाइज़्ड हों।"[१८] किन्तु इस तर्क को थोड़ा भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करना अधिक युक्त है। इस तर्कानुसार, जब हम दार्शनिक विचार कर रहे हैं तब हम ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं कर सकते कि 'मैं जानता हूँ कि यह मेरे हाथ हैं।' आपको कहना होगा कि " 'ये मेरे हाथ हैं' वाक्य पूर्णतः प्रामाण्य है, अथवा अपूर्णतः प्रामाण्य है अथवा प्रामाण्य-निरपेक्ष है।" अब हम ऐसे वाक्यों, जैसे 'यह रक्ताभ है' को बिना प्रामाण्य के जान सकते हैं,क्योंकि ऐसे वाक्यों का प्रामाण्य पूछना निरर्थक है। किन्तु क्या 'यह हाथ है' वाक्य भी प्रामाण्य निरपेक्ष है ? स्पष्टतः यह प्रामाण्य-निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि 'मैं देखता हूँ कि यहां विशेष वर्णाभ संस्थान है', 'यहां विशेष सामैटिक अनुभव है', 'वह देखता है कि यहां विशिष्ट वर्णाभ संस्थान है', 'वह स्पर्श करता है कि यहां तापमान तथा काठिन्य तथा संस्थान विशेष है' आदि वाक्य 'यह हाथ है' वाक्य के साथ संगत हैं और इनमें से किसी भी वाक्य का विरोधी अन्य वाक्यों की सत्यता को सन्दिग्ध कर देता है,जबकि 'यह रक्ताभ है' वाक्य को कोई वाक्य सन्दिग्ध नहीं कर सकता, क्योंकि कोई वाक्य इसके प्रसंग से न संगत है और न असंगत है।

जैसाकि मूर स्वयं कहते हैं: "मैं असन्दिग्धतया यह जान सकता हूँ कि यह हाथ है, क्योंकि मैं असन्दिग्धतया यह जान सकता हूँ कि मैं स्वप्नावस्था में नहीं हूँ। इस प्रकार स्पष्टतः 'यह हाथ है' वाक्य की सत्यता 'मैं असन्दिग्धतया जाग्रत हूँ' वाक्य पर निर्भर करती है, किन्तु स्वयं 'मैं असन्दिग्धतया जाग्रत हूँ' वाक्य भी प्रामाण्य सापेक्ष है, क्योंकि

१८ डिफेंडिंग स्केप्टीसिज़्म (अप्रकाशित निबन्ध)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

यह पूछा जा सकता है कि 'यह आप कैसे जानते हैं कि आप स्वप्न नहीं देख रहे थे ?' वास्तव में, 'मैं असन्दिग्धतया जानता हूँ कि मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ' प्रकथन इस प्रकथन का स्थूल पर्याय है कि 'मैं असन्दिग्धतया जानता हूँ कि 'यह हाथ है' वाक्य से लागू होने वाले मूल वाक्यों की केवल परस्पर पोषक शृंखला ही घटित होगी, प्रतिरोधक नहीं।' क्योंकि यदि मेरे इस समय के मूल वाक्यों का पीछे खण्डन हो जाता है तो हम इसका कारण इस समय की भ्रान्त मानसिक स्थिति को समझ सकते हैं। अतः उपर्युक्त प्रकथन पुनः प्रामाण्य का विषय हो जाता है।

किन्तु तब क्या वस्तु--वाक्य की प्रतिष्ठा सम्भाव्यतया भी की जा सकती है ? प्रथमतः नहीं, क्योंकि वस्तु-वाक्य के प्रसंग से असीम मूलवाक्य घटित हो सकते हैं, अतः मूल-वाक्यों की कितनी भी बड़ी संख्या यह स्थापित नहीं कर सकती कि ये वाक्य असत्य नहीं थे, क्योंकि इनसे अनेक गुणा अधिक संख्या इनके प्रतिरोधक वाक्यों की घटित हो सकती है। किन्तु यदि यह माना जाय कि मूलवाक्यों की एक बड़ी संख्या वस्तुवाक्य को सम्भाव्य बनाती है, तब एक भी मूलवाक्य वस्तु-वाक्य को तर्कतः संभाव्य बनाता है। अतः यह प्रश्न कि कितने परस्पर-पोषक मूलवाक्य वस्तु-वाक्य को स्थापित करेंगे, निरर्थक है। संगत प्रश्न यहां यह है कि क्या मूलवाक्य वस्तु-वाक्य को सम्भाव्यतया स्थापित करता है ? इसका उत्तर हो सकता है कि जिस प्रकार 'शंकर है' स्थापित करता है कि 'मनुष्य है' उसी प्रकार मूलवाक्य वस्तुवाक्य को स्थापित करता है। किन्तु मूलवाक्य तथा वस्तु वाक्य में सम्बन्ध व्यक्ति और जाति का सा नहीं है, और यदि ऐसा हो तो मूलवाक्य वस्तुवाक्य को पूर्णतया ही स्थापित कर सकता है। यह सम्बन्ध सदस्य और समवाय का है। समवाय यह लागू करता है कि सदस्य हैं, इसी प्रकार सदस्य और अंश-समवाय परिभाषया यह लागू करते हैं कि समवाय है। किन्तु सदस्य और अंश-समवाय समवाय को तभी लागू करते हैं यदि इनकी परिभाषा समवाय के प्रसंग से की जाय। इस प्रकार, जबकि समवाय सदस्यों को पूर्वकल्पित करता है, सदस्य समवाय को पूर्वकल्पित नहीं करते। वस्तु-वाक्य के प्रसंग में, डेस्करूप संवेद स्वतः यह लागू नहीं करता कि डेस्क है और न ही ऐसे संवेदों की कोई भी संख्या यह लागू करती है, किन्तु वस्तु-वाक्यों के प्रसंग से संवेद वाक्य वस्तु वाक्यों को लागू करते हैं। यहां यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि हम वस्तु वाक्य को मूल वाक्यों के लिये पूर्वकल्पित करना आवश्यक समझते हैं, प्रत्युत हम यह कह रहे हैं कि वस्तुवाक्य मूलवाक्यों का समवाय है, यह इन्हें पूर्व कल्पित करता है। किन्तु अमुक मूलवाक्य अमुक समवाय का सदस्य है, यह उस विशेष सम्बन्ध संस्थान (रिलेशन पैट्टर्न) की पूर्वकल्पना करता है जिसके अनुसार हम उस समवाय का नामकरण करते हैं। अब इस समवाय के असीम सदस्य हो सकते हैं, और ये सभी समवाय के लिये प्रासंगिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं, किन्तु समवाय का ज्ञान इनमें प्रत्येक के ज्ञान पर निर्भर नहीं करता, समवाय का नामकरण विशेष संस्थान के अनुसार होता है, और इस संस्थान को हम परिभाषा दे सकते है। यह संभव है कि यह परिभाषा अल्पव्यापक हो, किन्तु यह कितनी व्यापक हो कि हम इसे पर्याप्त कहेंगे, यह व्यवहारिक प्रश्न है। उदाहरणतः स्कूल अथवा सेना की परिभाषा कितनी पूर्ण हो तो गम्य होगी, यह व्यक्तिगत रुचि-सापेक्ष है। अब परिभाषा पूर्ण होने पर भी पहिचानने में भूल हो सकती है, किन्तु इससे यह स्थापित नहीं होता कि समवाय परिभाषा से व्यतिरिक्त कुछ है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि समवाय के ज्ञान के लिये सदस्यों का ज्ञान भी आवश्यक है, किन्तु पुनः यह प्रासंगिक नहीं है कि कितने सदस्य हों तो समवाय की पहिचान हो सकेगी।

हमारा यह प्रतिपादन उपर्युक्त आपत्तियों का समाधान कर देता है। इस प्रकार "क्या हम असन्दिग्धतया यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि 'यह मेज़ है' वाक्य सत्य है ?" इसका उत्तर होगा कि नहीं, किन्तु हम सम्भाव्यतया यह स्थापित कर सकते हैं कि 'यह मेज़ है' वाक्य सत्य है। तब क्या मेज़ हमारे लिये अविज्ञेय है ? इसका उत्तर होगा कि यदि आप कहना चाहते हैं कि ज्ञेय केवल असन्दिग्धतया प्रमाणित ही है, तब यह अविज्ञेय है, किन्तु व्यवहारतः मेरे पास पूर्ण आधार विद्यमान हैं कि मैं कह सकूं कि 'यह मेज़ है'।

जबकि वस्तु-वाक्यों को हमने तर्कतः सम्भाव्य वाक्य कहा है, मूलवाक्यों को तर्कतः असन्दिग्ध स्वीकार किया है। हमने प्रमाणीकरण मात्र के लिये यह स्वीकार किया है कि अन्ततः किन्हीं वाक्यों को प्रमाण्यातीत अथवा स्वतः प्रमाण मानना तर्कतः अनिवार्य है। हमने यह भी देखा है, यद्यपि स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं किया है, कि ये वाक्य दो भिन्न प्रकारों से प्राप्त होते हैं: नवीन संवेद-विषय के अभिव्यंजक रूप में; अथवा विशुद्ध भाषीय शब्दावली में, नवीन विशिष्ट संज्ञाओं के साथ; और दूसरे कुछ अन्य तर्क-वाक्यों के द्वारा परिणामरूप में। इनमें प्रथम का उदाहरण 'यह विशिष्ट रक्ताभ संस्थान $स_1$ है' है और द्वितीय का उदाहरण है 'यह सूर्य ग्रहण है', जबकि सूर्य ग्रहण प्रतीक्षित था। यहां किसी को इस कारण से आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि 'सूर्य ग्रहण' पद पदार्थ-वाक्य है, क्योंकि यह पद वास्तव में "विशिष्ट छायाभ संस्थान" के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार, पीछे हम 'डेस्करूप वर्णाभ संस्थान' पद का प्रयोग कर चुके हैं। इन में प्रथम प्रकार के वाक्यों को हम नवीन मूलवाक्य और दूसरी प्रकार के वाक्यों को प्रमाण मूलवाक्य कहेंगे। ये दूसरी प्रकार के वाक्य ऐतिहासिक वाक्यों अथवा भविष्यवाणियों का सत्यापन करते हैं। किन्तु इन दो प्रकार के वाक्यों में कोई आन्तरिक भेद नहीं है, दोनों का तार्किक वाक्यरूप एक ही प्रकार का है और दोनों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाह्य उपलब्ध भी एक ही प्रकार का है।

जैसाकि हमने पीछे कहा है, ये वाक्य अशोध्य हैं। दूसरे शब्दों में, इसका कुछ अर्थ नहीं हो सकता कि 'सम्भव है मुझे सिर दर्द हो रहा हो', 'सम्भव है 'यहां, अब, रक्ताभ संस्थान घटित हो रहा हो' आदि। कुछ दार्शनिकों, जैसे ब्रॉड, मूर तथा प्राइस ने असंवेदित संवेद विषयों की सम्भावना पर भी विचार किया है। ब्रॉड जबकि असंवेदित सिर दर्द की कल्पना असम्भव मानते हैं, असंवेदित रक्ताभ संस्थान की कल्पना को पर्याप्त उचित समझते हैं; क्योंकि, उनके अनुसार, संस्थान संवेद का गुण नहीं हो सकता। उनके विचार में, चाक्षुष संवेद को आयताकार आदि कहना भ्रामक है। उनके इस विचार को राइल ने एक दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया है, उन्होंने केवल सिर दर्द को संवेद माना है जबकि रक्ताभ संस्थान को परिदर्शन (आब्ज़र्वेशन) के अन्तर्गत रखा है, और इस प्रकार इसे 'खेल देखना' अथवा 'घुड़ दौड़ देखना' से भिन्न प्रकार का नहीं माना है। ब्राड की विस्तृत आलोचना हमने "मनस्तत्व" में की है, तथा राइल के विचारों की भ्रामकता प्रो० एयर, जी० ए० पाल तथा इ० एम० एडम तथा पैप आदि ने अपने ढंग से प्रदर्शित की है।[१६] यहां हम इन मतों पर विचार नहीं करना चाहते। यहां हम केवल यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि हम किस प्रकार इन वाक्यों को अप्रत्याख्येय मानते हैं। इस प्रसंग में हम एयर तथा रसल के विचारों की आलोचना भी करेंगे।

जैसाकि हमने पीछे कहा है, प्रत्येक मूलवाक्य स्वतः अशोध्य है, किन्तु यह उस वर्ग के प्रसंग से असत्य अथवा भ्रम-वाक्य भी हो सकता है जिस का यह सदस्य स्वीकार किया जाता है। अब इस वाक्य को लें- 'यह रस्सी है'। यह वाक्य एक तथ्य (फैक्ट) के सम्बन्ध में है, जिसे हम "एक प्रत्यक्ष का तथ्य" कह सकते हैं। इसे अशोध्य कहने का अभिप्राय है कि कोई भी अन्य तथ्य इसे असत्यापित नहीं कर सकता। क्योंकि कोई भी अन्य वाक्य इस वाक्य से अधिक सत्य होने का दावा नहीं कर सकता। 'यह रस्सीवत् है' वाक्य उतना ही एक तथ्य के बारे में है जितना 'यह साँपवत् है' वाक्य है। यदि दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य का संशोधन कर सकता है तब प्रथम वाक्य भी दूसरे वाक्य का संशोधन कर सकता है। किन्तु क्योंकि एक तथ्य दूसरे का संशोधन नहीं कर सकता इसीलिये एक मूलवाक्य दूसरे मूलवाक्य का संशोधन नहीं कर सकता, क्योंकि मूलवाक्य परिभाषया तथ्य की संज्ञा है। दूसरे शब्दों में, जब तक मूलवाक्य से बोधित घटना

१६ एयर-प्राब्लम आफ नालेज, पाल-इज़ देयर ए. प्राब्लम अबौट सेंस डाटा ? (फ्ल्यू द्वारा सम्पादित, लैंगवेज एंड लाजिक में), एडाम-माइंड, अप्रैल, १६५८ अंक।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घटित नहीं हो रही है तब तक मूलवाक्य का उच्चारण नहीं हो सकता। दूसरी अवस्था में वह मूलवाक्य ही नहीं कहा जायगा। यहां एक और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है: 'मूलवाक्य अशोध्य है' का अभिप्राय यह नहीं है कि इसमें शाब्दिक ग़लतियां भी संभव नहीं हैं। कोई कह सकता है 'यह गुलाबी है' जबकि उस का अभिप्राय है कि 'यह कुसुम्भी है', कोई कह सकता है कि 'यह दायें है' जबकि वह कहना चाहता है कि 'यह बायें है'। दूसरे शब्दों में, 'प्रत्येक तथ्य सद्यः प्रदत्त है, सद्यःप्रदत्त का संशोधन नहीं किया जा सकता, मूलवाक्य प्रदत्त तथ्य का अभिधान करता है तथा यह उसका सम-कालीन है, अतः यह अशोध्य है। इस प्रकार, 'यह रस्सीवत् है' द्वारा व्यक्त तथ्य "इस प्रकार से" प्रदत्त है, "इस प्रकार से" प्रदत्त तथ्य का संशोधन नहीं हो सकता क्योंकि 'यह' अन्य प्रकार से प्रदत्त नहीं है। अतः इसका व्यंजक वाक्य भी अशोध्य है। अब व्यंजक वाक्य की अशोध्यता इस कारण से है कि यह अशोध्य तथ्य का व्यंजक है, इसी से इसकी शाब्दिक अशोध्यता स्वीकार की गयी है। इस प्रकार, मूलवाक्य की शोध्यता तर्कतः असंभव है। अशोध्यता का यह गुण नवीन मूलवाक्य में उतना ही विद्यमान है जितना परिणामतः अथवा परिणाम रूप में प्राप्त मूल वाक्य में। मान लीजिये, मैं कहता हूँ, 'कल सूर्य ग्रहण लगेगा'। इस प्रकथन के द्वारा मैं कल विशेष क्षण पर एक तथ्य घटित होने की भविष्यवाणी करता हूँ। यह किस आधार पर करता हूँ, यह यहां अप्रासंगिक है; प्रासंगिक यह है कि यदि यह तथ्य घटित नहीं होता तो 'सूर्य ग्रहण, यहां, अब' इस वाक्य का प्रत्याख्यान नहीं होता, क्योंकि तब यह वाक्य घटित नहीं ही होता,यहां केवल अनुमान-वाक्य का प्रत्याख्यान होता है।

किन्तु रसल तथा एयर तथ्यात्मक सन्दिग्धता तथा तथ्यात्मक शोध्यता को स्वीकार करते हैं। रसल के अनुसार—"हम से क्रमशः दूर हटते हुए वायुयान की आवाज़ क्रमशः कम होती जाती है और एक समय आ जाता है जब कि यह कहना कठिन हो जाता है कि हमें आवाज़ सुनाई दे रही है अथवा नहीं।" एयर के अनुसार, दो रेखाएं देखने पर, जिन की लम्बाई में इतना कम अन्तर है कि हम आसानी से यह नहीं कह सकते कि इन में कौन सी छोटी है और कौन सी बड़ी, हम तथ्यात्मक सन्दिग्धता की अवस्था में हैं। ऐसी अवस्था में हम छोटी को बड़ी अथवा बड़ी को छोटी कह सकते हैं और पीछे अन्य मान-दण्डों से नाप कर जान सकते हैं कि हमने भूल की थी। हमारे विचार में, ये दोनों विचार मूलवाक्यों की अवधारणा को घपलाने के कारण उत्पन्न हुए हैं। रसल के उदाहरण को ही पहले लें; रसल कहना चाहते हैं कि काल $क_1$ पर हम यह नहीं कह सकते कि मैं ध्वनि $ध_1$ सुन रहा था अथवा नहीं। अब वास्तव में यह स्थिति इस प्रश्न का उत्तर है कि 'क्या मैं ध्वनि $ध_1$ सुन रहा था?' ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार यह प्रश्न होगा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

क्या दूर पर कुछ दीखने वाली वस्तु मनुष्य है?' इन प्रश्नों का उत्तर मूलवाक्य होगा यदि यह सकारात्मक या नकारात्मक होता है तो, अन्यथा यह या तो प्रश्न की स्थिति है अथवा सन्देह की। ये दोनों स्थितियां मूलवाक्य का उपलक्ष नहीं हो सकतीं। 'शायद मैं रक्ताभ देख रहा हूँ' अथवा, 'शायद मैं स्वर सुन रहा हूँ' को मूलवाक्यों की श्रेणी में स्थान नहीं प्राप्त है, क्योंकि ये स्थितियां 'मूल तथ्य' की नहीं वस्तु की परिभाषा को पूर्व-कल्पित करती हैं: "वहां वायुयान है जो ध्वनिप्रसारित कर रहा है"। इस प्रकार, यह एक केन्द्र के सम्बन्ध में प्रकथन है, जो तार्किक रचना है।

रसल ने 'ह्यु मन नालेज' में संवेदों के लिये भौतिक कारणता का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार, वाहर भौतिक देश-काल में भौतिक घटनाएं घटित होती हैं, जिनके संस्थान को वे भूतवैज्ञानिक समीकरणों (ईक्वेशंज़) द्वारा व्यंजनीय मानते हैं। ये घटना-शृंखलाएं भौतिक वस्तु से हमारी इन्द्रियों तक प्रसारित होती हैं और तव संवेद अनुगत होता है। भौतिक विषय, जैसे मेज़, ये कारण घटनायें ही हैं। अब ये कारणतावादी भौतिक मेज़ को उसी प्रकार देश-काल में अवस्थित नहीं मानते जिस प्रकार हमारा संवेद्य मेज़ है, भौतिक मेज़ गाणितिक-ढांचे (मैथेमैटिकल स्ट्रक्चर) की घटनाओं का समवाय है, अथवा देश-काल रेखा में भंग है, अथवा विद्यु च्चुम्वकीय लहरों की प्रक्रिया है। यह समवाय अथवा भंग का रूप संवेदनात्मक नहीं है, यह विशुद्ध-रूप से गाणितिक समीकरणों द्वारा वोध्य मात्रात्मक (क्वांटीटेटिव) ढांचा है। मान लें कि यह सव उचित व्याख्या है और संवेदों तथा वस्तुओं के वीच कारण शृंखलाएं प्रसरित होती हैं। तव भी ये व्याख्यायें मेज़ों और कुर्सियों में हमारे विश्वास, अथवा ज्ञान, का आधार नहीं हो सकतीं, क्योंकि हम कारणता की किसी भी व्याख्या को अस्वीकार कर सकते हैं और फिर भी इन वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास रख सकते हैं। कारण सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे वड़ी आपत्ति यह है कि यह दृश्य तथा प्रमाणीय घटनाओं का सम्वन्ध अदृश्य तथा अप्रमाणीय घटनाओं से स्थापित करता है, और अतएव यह सम्वन्ध भी अप्रमाणीय हो जाता है। अथवा, और भी ठीक शब्दों में, यह एकदम दो भिन्न प्रकृति की घटनाओं में सम्वन्ध स्थापित करता है जो परिभाषया अनुचित है। तथाकथित भौतिक घटनाओं, जैसे विद्यु त्कण अथवा देश–काल भंग, की अवधारणाएं केवल इस रूप में ही स्वीकार की जा सकती हैं यदि ये हमारे उन सिद्धान्तों में सार्थकतया घटित हो सकती हों जो प्रदृश्य (फिनोमिना) की व्याख्या करते हैं।[२०]

२०. द्रष्टव्य-एयर–प्राब्लम् आफ नालेज; पृ० ११४-१५। तथा, यश देव शल्य-संवेद और भौतक विषय-दार्शनिक अप्रैल १६५८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार हम रसल द्वारा प्रस्तुत संशोध्यता की व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकते। यहां यह बता देना उचित होगा कि रसल मूलवाक्यों को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं तथा इनकी स्वतन्त्र विश्वसनीयता (क्रेडीबिलिटी) को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं: "मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि सब प्रस्तुत (डाटा) किसी सीमा तक सन्देह योग्य हैं, और अतएव यदि सम्भव हो तो अन्य प्रस्तुतों द्वारा इनकी पुष्टि की जानी चाहिये। किन्तु यह अन्य प्रस्तुत एक सीमा तक स्वतन्त्ररूप से विश्वसनीय नहीं होंगे तो ये मूल प्रस्तुत को पुष्ट नहीं करेंगे।"२१

रसल का यह उद्धरण हमें एयर के शोध्यता के उदाहरण तक पहुँचा देता है। किन्तु इसके निराकरण के लिये हमें यहां कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, केवल यह दिखाने की आवश्यकता है कि यह वास्तव में मूलवाक्यों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। जब हम दो रेखाओं को देखते हैं और कहते हैं 'दायीं वायीं से लम्बी है' और फिर पीछे इस का बाध करते हैं कि 'वायीं दायीं से लम्बी है', तब यह बाध मूलवाक्य का नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'प्लेट सरल वृत्ताकार है' और 'प्लेट वक्र वृत्ताकार है' परस्पर बाधक नहीं हैं। इनकी यह परस्पर बाधकता 'तार्किक रचना' के प्रसंग से उत्पन्न होती है। इस का हम पर्याप्त स्पष्टीकरण पीछे कर आये हैं। इस प्रकार, मूल-वाक्यों की अशोध्यता पर ये दोनों आपत्तियां अनुचित हैं।

किन्तु मूलवाक्यों की शोध्यता एक अन्य प्रकार से प्रतिपादित की जा सकती है। एयर के अनुसार, 'यह रक्ताभ है' 'वह रक्ताभ था' आदि वाक्य एक ही तथ्य की ओर संकेत करते हैं, उनके शब्दों में, एक ही वाक्यीय प्रतिज्ञा (प्रोपोज़ीशन) को प्रकट करते हैं। अब जबकि 'यह रक्ताभ है' वाक्य सत्य, अथवा कहें, तथ्य-संगत, हो सकता है हम भविष्य में इस पर सन्देह कर सकते हैं। इस प्रकार, मूलवाक्य की तथाकथित अशोध्यता खण्डित हो जाती है। एयर ने 'मेरे सिर दर्द है' को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, "यद्यपि यह वाक्य जब लिखा गया था तब यह असन्दिग्ध था और इस प्रकार मेरा पश्चात् निर्णय ठीक नहीं होगा, किन्तु यह निर्णय करने का मुझे पूर्ण अधिकार है"। यह प्रश्न एयर से पूर्व रसल ने उठाया है, उनके अनुसार, 'निजपरक पदों (मैं, यहां, यह) की उपलक्ष्यता में वैविध्य हमारे इन पदों से युक्त वाक्यों के उच्चारणों की कारणभूत भौतिक घटनाओं में कालिक सम्बन्ध का व्यापार (फंक्शन) है। इस प्रकार, 'यह है' तथा 'वह था' के साथ प्रारम्भ होने वाले वाक्यों में भेद इनके अर्थ में नहीं प्रत्युत इनकी कारणता में निहित है।"२२

२१. रसल—इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रूथ, पृ० १२५।
२२. इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रूथ, पृ० १४०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल वाक्य

हमें रसल से इस बात में सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं है कि दोनों वाक्यों का संकेत्य एक ही तथ्य है,किन्तु इन दोनों वाक्यों का सम्बन्ध संकेत्य से भिन्न होने के कारण ये वाक्य बहुत भिन्न हो जाते हैं। 'यह रक्ताभ है' तथा 'वह रक्ताभ था', 'मुझे पीड़ा हो रही है' तथा 'मुझे पीड़ा हो रही थी' वाक्य लें। अब जबकि 'सम्भवतः यह रक्ताभ है' अथवा 'सम्भवतः मुझे पीड़ा हो रही है' वाक्य उचित नहीं हैं, अथवा कहें, सार्थकतया प्रकथित नहीं हो सकते, 'सम्भवतः वह रक्ताभ था' अथवा 'सम्भवतः मुझे पीड़ा हो रही थी' सार्थकतया प्रकथित हो सकते हैं। इन दोनों प्रकार के वाक्यों में अन्तर स्पष्ट है: प्रथम जबकि प्रामाण्य–निरपेक्ष हैं, दूसरे प्रामाण्य सापेक्ष हैं और इनकी सत्यता केवल परोक्षतया, अथवा कहें, अन्य वाक्यों द्वारा ही स्थापित की जा सकती है। वास्तव में ये वाक्य उत्पन्न ही किसी अन्य तथ्य के आधार पर तथा किसी साधारणीकरण की सहायता से होते हैं। इनकी उपलक्षभूत घटना उसी प्रकार इनकी प्रमाणक है जिस प्रकार 'कल सूर्य ग्रहण लगेगा' की उपलक्षभूत घटना इस वाक्य की प्रमाणक है। 'कल सूर्य ग्रहण लगेगा' वाक्य का सद्यः कारण कोई वर्तमान घटना तथा भूत वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अतः 'कल सूर्य ग्रहण लगेगा' तथा 'यह सूर्य ग्रहण लगा है' को एक ही वाक्यीय प्रतिज्ञा के दो प्रकथन कहना युक्त है, किन्तु इसी प्रकार से 'मेरे सिर दर्द हो रहा होगा' अथवा 'मेरे सिर दर्द नहीं था' को 'मेरे सिर दर्द है' वाक्य का बाधक अथवा शोधक कहना भ्रामक है, जैसाकि एयर कहते हैं।

अन्त में, प्रमाणीकरण सिद्धान्त में मूल वाक्यों की स्थिति पर दो शब्द कह देना भी अप्रासंगिक न होगा। प्रमाणीकरण सिद्धान्तानुसार, सब अनुभव-वाक्यों की सार्थकता का ग्रहण उनकी प्रमाणीकरण-विधि से होता है। मूलवाक्य भी अनुभव-वाक्य हैं अतः उनका अर्थ–ग्रहण भी उनकी प्रमाणीकरण–विधि से ही होना चाहिये। किन्तु हमने देखा है कि मूलवाक्यों का प्रमाणीकरण तर्कतः असम्भव है, क्योंकि प्रमाणीकरण की प्रक्रिया इनसे ही सार्थकता ग्रहण करती है। इसका विवेचन हम रसल की "मूलवाक्यों में सन्दिग्धता" के प्रतिपादन की आलोचना के प्रसंग में कर आये हैं। किन्तु इन वाक्यों के आधार पर यह कहना कि प्रमाणीकरण सिद्धान्त खण्डित होता है,भ्रामक है, क्योंकि न केवल प्रमाणीकरण के ये आधार हैं,प्रत्युत इन्हें अप्रामाण्य (अनवेरीफियेबल) ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये विशेषण केवल अनुभवातीत विषयों के वाचक पदों के लिये ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जैसे 'संवेदों के बाह्य कारण', 'स्वलक्षण-वस्तुएं' (थिंग्ज़ इन देम सेल्व्ज़) आदि पद अप्रमाणीय हैं, क्योंकि ये न प्रमाणित किये जा सकते हैं, न ये प्रमाणक वाक्य हैं और न नवीन मूलवाक्य, जो प्रमाणीकरण की आवश्यकता से इसलिये मुक्त हैं क्योंकि प्रमाणीकरण का उद्देश्य इनसे स्वतः अर्थवान है। हम नवीन मूलवाक्यों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को प्रमाणीकरण का आदर्श अथवा सीमा भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रमाणीकरणीय वाक्य असन्दिग्धता की उस स्थिति को प्राप्त करने की ओर उन्मुख होते हैं जिसके मूलवाक्य आदर्श हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२

वस्तुएं, तथ्य और अस्तित्वमीमांसा

"मूल वाक्य" अध्याय में हमने मूलवाक्यों के '(ᗺ य) (य=रक्त). (रक्त, यहां)' रूप को स्वीकार किया था। यहां जबकि हम अपनी अस्तित्व मीमांसा के सिद्धान्तों की व्याख्या करना चाहते हैं, यह स्थापना विशेषरूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। क्योंकि मूलवाक्य उन तथ्यों के वाचक हैं जो सरलतम हैं, और इसलिये जो अस्तित्वमीमांसा की सीमा निर्धारित करते हैं। हमारी स्थापना के अनुसार सद्यः प्रदत्त घटनाएं सरलतम तथ्य हैं और 'यह रक्त है' जैसे वाक्य इन तथ्यों के व्यंजक हैं। "प्रदत्त"* कोई "तथ्य" किसी अनुभव को होता है। 'सद्यः' का प्रयोग "सरल" को सरलतम वनाने के लिये है। यह प्रदत्त तथ्य इतना सरल है कि इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्णन करने के लिये हमें ऐसे पदों की आवश्यकता होती है जो वर्ण्य से सरलतर तथ्यों के वाचक हों। इसीलिये सद्यः प्रदत्त के वाचक पद वाच्य तथ्य का अभिधान करते हैं, नामकरण करते हैं, वर्णन नहीं करते।

यहां तक पूर्णतः स्पष्ट है, और अनुभववादी दार्शनिकों की परम्परा में निर्विवाद है। किन्तु सद्यःप्रदत्त तथ्यों को ले कर विवाद के लिये पर्याप्त स्थान है। यहां हमे

*" " द्वारा चिह्नित पद या वाक्य दार्शनिक अर्थ में सास्तित्व का वाचक है जबकि ' ' द्वारा चिह्नित पद वाच्य वस्तु का नहीं प्रत्युत स्वयं पद का ही वाचक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो युयुधान सम्प्रदायों के बीच अपना मत निर्धारित करना है।

'यह रक्त है' वाक्य का प्रतीकात्मक रूपान्तरण इस प्रकार होगा:- '$ग_1$(अ)'। इस वाक्य में, जैसाकि कहा जाता है, '$ग_1$' सद्यः प्रदत्त गुण की संज्ञा (अभिधा) है और 'अ' सद्यःप्रदत्त व्यष्टि, अथवा विशिष्ट (यहां प्रदत्त-बिन्दु) की संज्ञा है। इस प्रकार, '$ग_1$ (अ)' वाक्य में कम से कम दो प्रकार के पद हैं, जो, जैसाकि कुछ दार्शनिक कहना पसन्द करते है, दो "वस्तुओं" की संज्ञाएं हैं। इस प्रकार, इन दार्शनिकों के अनुसार, एक "तथ्य" सरलतम अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह दो "वस्तुओं", अथवा कहें, अस्तित्वों, से संघटित है, सरलतम अस्तित्व "वस्तुएं" हैं। अब जैसाकि हमने अभी कहा, सरलतम तथ्यों को केवल संज्ञा पदों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। अतः यदि '$ग_1$ (अ)' अथवा 'यह रक्त है' वाक्य में हम 'यह' तथा 'रक्त' दोनों पदों को संज्ञा पद मानें तो हम एक तथ्य को, जोकि एक मूलवाक्य द्वारा व्यक्त होता है, सरलतम नहीं कह सकते, क्योंकि यह कम से कम दो वस्तुओं का संघात है।

यह स्थापना, संक्षेप में, विटगिंस्टाइन तथा गस्टाव वर्गमान की है। विटगिंस्टाइन के अनुसार, विशिष्ट (व्यष्टि–पर्टिकुलर) स्वतः गुणहीन (वर्णहीन-कलरलेस) हैं और गुणों के एक निश्चित वर्ग में से किसी से भी अध्युषित होने की सम्भावना से युक्त हैं। उदाहरणार्थ 'अ रक्त है' वाक्य लें। यह एक तथ्य का व्यंजक है। व्यष्टि अपनी अभिव्यक्ति केवल तथ्य में करता है। तथ्य में घटित हुए बिना वह स्वतः अगोचर रहता है। "वस्तु" जबकि एक "तथ्य" में गुण "$ग_1$" से अध्युषित है, यह "$ग_2$" से भी अध्युषित हो सकती थी।[1]

विटगिंस्टाइन की वस्तुएं इस प्रकार स्वतः अनस्तित्व हैं। वस्तुओं की इस अवधारणा को स्वीकार करने के पक्ष में विटगिंस्टाइन का तर्क यह था कि यदि एक तथ्य में वस्तु को अनिवार्यतः उस गुण से अध्युषित मानें, जिससे कि वह अध्युषित है, तो प्रत्येक

१. सम्भावना के प्रसंग में यहां विटगिंस्टाइन के निम्न कथन द्रष्टव्य हैं–
२.०१ एक अणु–तथ्य वस्तुओं का समवाय है। २.११ एक वस्तु के लिये यह आवश्यक है कि यह अणु-तथ्य का भाग हो सकतो है। २.१२१ जिस प्रकार हम दैशिक विषयों को देश से बाहर तथा कालिक वस्तुओं को काल से बाहर सोच ही नहीं सकते, इसी प्रकार हम किसी विषय को उसके अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध के बिना नहीं सोच सकते। २.०३१ जो विषय है उससे निर्धारित होता है कि क्या स्थिति हो सकती है, किन्तु यह नहीं कि क्या स्थिति वास्तव में है। यदि रक्त संस्थान (बिन्दु) एक विषय हो, तो इसका अस्तित्व यह निर्धारित करेगा कि कुछ वस्तु-स्थिति है—कि कुछ रक्त है। २.०३२ यह कहने का एक ढंग मात्र है कि विषय वे हैं जो रक्त हो सकते हैं, न कि जो पहले से रक्त हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशिष्ट वस्तु अनिवार्यतः उस गुण से युक्त होगी जिससे कि वह अध्युषित है, (अथवा जिससे उसने अध्युषित होना है ?)। इस प्रकार 'अ रक्त है' वाक्य एक तार्किक अनिवार्यता हो जायगा।

विटगिंस्टाइन की इस स्थापना में अनेक कठिनाइयां हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। यहां कुछ प्रश्न प्रासंगिक हैं: एक तथ्य एक सद्यः प्रदत्त का पर्याय है। इस प्रकार 'अ रक्त है' में 'अ' तथा 'रक्त' सद्यः में प्रदत्त दो अस्तित्वों (जैसाकि बर्गमान तथा विटगिंस्टाइन कहेंगे) की संज्ञाएं हैं। 'रक्त' गुण का वाचक होने से सामान्य है, अथवा बर्गमान के शब्दां में, कालातीत है, किन्तु क्या 'अ' के लिये भी यही कहा जा सकता है? यदि हां, तो कोई वाक्य सद्यःप्रदत्त का वाचक नहीं कहा जा सकता; यदि नहीं, तो "अ" में संभावना का क्या अभिप्राय है? "अ" जबकि सद्यःप्रदत्त है और "रक्त" द्वारा अध्युषित है, तब इसके संभाव्यरूप से "हरित" द्वारा अध्युषित होने का क्या अभिप्राय है?

यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि "विशिष्ट वस्तु" (पर्टिकुलर) संस्थान (बिन्दु) जैसी कोई वस्तु नहीं है, जैसाकि बर्गमान कहने की भूल करते हैं[2], क्योंकि संस्थान अथवा बिन्दु उतना ही "सामान्य", अथवा कहें "गुण", है जितना "रक्त", क्योंकि 'बिन्दु' विशिष्ट दैशिक गुणों का वाचक है। इसके अतिरिक्त, यह काल में सद्यःप्रदत्त की सीमाओं के बाहर भी अवस्थित रहता है। स्वयं बर्गमान ऐसी वस्तु को "वस्तु" अथवा "विशिष्ट" नहीं मानते हैं। इस प्रकार विटगिंस्टाइन तथा बर्गमान हमारे साथ इस बात में सहमत हैं कि "अ" बिन्दु के समान काल में प्रलम्बित तथा सामान्य, जैसे दैशिक आकारयुक्त, नहीं है।[3] विशिष्ट का इस प्रकार निर्धारण करने के पश्चात् विटगिंस्टाइन के "सम्भावना" के अध्यारोप पर हमारी आपत्ति का औचित्य स्पष्ट है।

बर्गमान द्वारा "तथ्य" को वस्तुओं का संघात मानने के दो प्रयोजन हैं— एक तथाकथित नकारात्मक तथ्यों की व्याख्या करना और दूसरे असत्य तथ्यों की व्याख्या करना। उदाहरणतः एक तथ्य लें जोकि 'र (अ)' द्वारा व्यंजनीय है। अब एक वाक्य '~र (अ)' लें, जो 'यह बिन्दु हरित नहीं हैं' का पर्याय है। यह वाक्य किस तथ्य का वाचक है? सामान्यतः यह कहा जायगा कि यह इस तथ्य का वाचक है कि बिन्दु अ हरित नहीं है, क्योंकि यह वाक्य सत्य है। इस प्रकार, यदि हम तथ्य

२. इन्डफेबिलिटी, ओंटोलोजी एंड मैथड (फिलासफीकल रिव्यू, जन्वरी १९६०; पृ० २०।
३. वहीं पृ० २२–२३, तथा मीनिंग एंड एक्सिस्टेंस, पृ० २३९-४०। (यूनीवर्सिटी आफ विस्कांसिन प्रेस, १९६०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को मूल अस्तित्व मानें, अथवा बर्गमान के शब्दों में, यदि हम तथ्य-अस्तित्ववादी हों, तो हमें नकारात्मक तथ्यों को भी अपने अस्तित्वों की श्रेणी में स्थान देना होगा। क्योंकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि '∽र (अ)' सत्य वाक्य है। किन्तु वस्तु-अस्तित्ववादी के लिये इस प्रकार अवांछित तथ्यों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। बर्गमान के अनुसार, "प्रत्येक व्यष्टि एक और केवल एक कालाणु के साथ संयोजित है। किन्तु गुण कालातीत होने से इस प्रकार संयोजित नहीं है, अर्थात्, वे विभिन्न कालाणुओं के साथ संयुक्त विभिन्न व्यष्टियों के द्वारा उदाहरित हो सकते हैं। अब मान लीजिये कि 'अ' और '$ग_1$' क्रमशः एक व्यष्टि तथा एक गुण की संज्ञाएं हैं और '$ग_1$' न तो 'अ' के द्वारा उदाहरित हो रहा हैं और न इस कालाणु विशेष के साथ संयोजित किसी अन्य व्यष्टि के द्वारा उदाहरित हो रहा है। तब '∽$ग_1$ (अ)' सुरचित वाक्य है। .... इस प्रकार हमें उस गुण से, जिसे यह उदाहरित नहीं करता, नकारात्मक रूप से विधेयित करने से झिझकने की आवश्यकता नहीं है।"[४] उनका यही तर्क असत्य तथ्यों के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार, उनके अनुसार, तथ्य अस्तित्ववाद असत्य तथ्यों तथा नकारात्मक तथ्यों को स्वीकार करने को बाध्य है और उसकी तत्व-मीमांसा सत्य तथा सार्थक की अवधारणाओं में भेद नहीं कर सकती।

२

दर्शन में कुछ भी स्वतः स्पष्ट नहीं है। प्रत्येक स्थापना अपने साथ समस्याओं की एक पूरी शृंखला को जन्म देती है, जिसका दार्शनिक को समाधान करना होता है और इसी समाधान के द्वारा वह अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का ताना तनता है। वस्तु अस्तित्ववाद एक ताना है और तथ्य अस्तित्ववाद दूसरा ताना है। हम इस ताने को अवधारणात्मक योजना कहना चाहेंगे। किसी अवधारणात्मक योजना की योग्यता इस बात में निहित होती है कि वह कुछ आधारभूत समस्याओं का सुलझाव प्रस्तुत करती है, कि वह ऐसे परिणामों को लागू नहीं करती जिनको वह स्वीकार नहीं करना चाहती, और कि वह हमारी सामान्य दैनिक अवधारणाओं के निषेध को अनावश्यकरूप से लागू नहीं करती।

हम अपनी अस्तित्वमीमांसा का ताना तनने से पूर्व यहां कुछ प्रनियमों की स्थापना करेंगे, जो आधारभूत हैं और जिनके बिना भ्रान्तियों का भय हो सकता है :-

१. संज्ञा-पद केवल सद्यः प्रदत्त का अभिधान करते हैं, अतः किसी संज्ञापद के घटित होने की यह आवश्यक शर्त है कि वह वस्तु, जिसका अभिधान किया गया है, प्रदत्त हो।

४ वहीं पृ० २२८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. केवल प्रदत्त वस्तुएं ही "वस्तुएं" हैं।

३. प्रदत्त "वस्तुएं" सरलतम हैं, और केवल "सरलतम वस्तुएं" अस्तित्वमय हैं।

अब एक मूलवाक्य लें और इन प्रनियमों को ध्यान में रख कर देखें कि ये किस प्रकार अभिधानित करते हैं। किन्तु इस आधारभूत प्रश्न पर विचार किये बिना भी इन प्रनियमों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वर्तमान जिन तार्किक परिणामों से बचना चाहते हैं उनसे बचना असम्भव है। उदाहरणतः 'र (अ) — 'अ रक्त है' वाक्य लें। वस्तु-अस्तित्ववादी के अनुसार 'अ' एक विशिष्ट को तथा 'र' सामान्य को अभिधानित करता है। 'र' को अभिधान कहने का अभिप्राय है कि यह पद अनिवार्यतः (परिभाषया) मूलवाक्यों में सद्यः प्रदत्त "रक्त" का संकेत करता है। इस प्रकार, 'अ रक्त है' प्रकथित करता है कि "अ" तथा "र" घटित हो रहे हैं–ये सास्तित्व हैं। अब एक दूसरा वाक्य '~ र (अ)' लें। वस्तु-अस्तित्ववादी की योजना में '~ र' उतना ही संज्ञा-पद होना चाहिये जितना 'अ' तथा 'र'। कम से कम तथ्य-अस्तित्ववादी पर नकारात्मक तथ्य थोपने के प्रयास का यह सीधा परिणाम है। इस प्रकार वस्तुअस्तित्ववादी नकारात्मक संज्ञाएं और अतएव नकारात्मक अस्तित्व अपनी योजना में स्वीकार करने को बाध्य है। और यदि नकारात्मक 'वस्तुएं" उसकी योजना में स्वीकार्य हैं तो असत्य "वस्तुएं" क्यों स्वीकार्य नहीं होंगी? 'अ रक्त है' वाक्य ही लें, जबकि तथ्य वास्तव में "अ हरित है" रूप है। अब प्रथम वाक्य वस्तुअस्तित्ववादी की भाषा में असत्य विधेयता का उदाहरण है, और अतएव यह "असत्य वस्तु" की संज्ञा है।

किन्तु ये दोनों परिणाम स्वभावतः वस्तुअस्तित्ववादी के लिये उतने ही अवांछित हैं जितने तथ्यअस्तित्ववादी के लिये। क्योंकि, हमारे विचार में वस्तु अस्तित्ववादी इससे इन्कार नहीं कर सकता कि उसके नकारात्मक विधेय संज्ञाएं नहीं हैं, और अतएव वह इससे भी इन्कार नहीं कर सकता कि असत्य विधेय संज्ञाएं नहीं हैं।

वस्तु-अस्तित्ववादी के नकारात्मक विधेयन के सिद्धान्त से एक और अवांछित परिणाम उपस्थित होता है, और वह है अनुपस्थित गुणों के अस्तित्व का। उदाहरणतः 'अ' और '$ग_1$' को ही लें, जबकि '$ग_2$' 'अ' को विधेयित नहीं करता और न किसी अन्य व्यष्टि (बिन्दु?) को ही विधेयित करता है जोकि इस कालाणु विशेष में घटित होता है। इस अवस्था में, वस्तु-अस्तित्ववादी के अनुसार, 'अ' को '$ग_1$' विधेयित करता है। किन्तु विधेयन की यह प्रक्रिया प्लेटो के सामान्यों को एक विलक्षण अस्तित्व प्रदान करती है, और यह पुनः अवांछित परिमाण है।

इन तार्किक कठिनाइयों के अतिरिक्त कुछ व्याख्या की कठिनाइयां हैं जो वस्तु-अस्तित्वाद की स्थिति को स्वीकार करने में बाधक हैं। उदाहरणतः 'अ' किस अस्तित्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की संज्ञा है? बर्गमान ने इन "व्यष्टियों" को कभी बिन्दु और कभी संवेद कहा है। इनके अतिरिक्त, वे अवगति (अवेयरनेस) की एक घटना को भी इस श्रेणी के अन्तर्गत रखते हैं। बिन्दु को व्यष्टि कहने के विरुद्ध हम ने पीछे तर्क दिये हैं, और वर्गमान भी काल में प्रलम्बित बिन्दु को व्यष्टि मानने को तैयार नहीं हैं। सम्भवतः वे देश में सीमित तथा काल में सद्यःप्रदत्त बिन्दु को व्यष्टि स्वीकार करते हैं और यह पुन: नकारात्मक विधेयन को अस्वीकार्य सिद्ध करता है। यही बात संवेद को व्यष्टि मानने पर भी सत्य है। अब वर्ण–हीन बिन्दु और संवेद्यगुणहीन संवेद क्या हैं? संभवतः बर्गमान का उत्तर होगा कि ये अपने निजी वर्ग—'विशिष्टता' के वर्ग–का निर्माण करते हैं।[५] हमारे विचार में वर्गमान की इस स्थापना से असहमत होने के लिये कोई कारण नहीं है, यदि यह स्थापना व्यष्टि–पदों तक सीमित है, जैसाकि हम आगे देखेंगे, किन्तु व्यष्टियों के सम्बन्ध में उनके विचारों से सहमत होना हम कठिन पाते हैं, क्योंकि उनके "व्यष्टि" वास्तव में देश–काल में सीमित सब्स्टांस मात्र रह जाते हैं।

३

वस्तु–अस्तित्ववाद का स्रोत शायद हमारी भाषा का उद्देश्य–विधेयात्मक रूप है। हमारा छोटे से छोटा वाक्य भी कम से कम तीन पदों से निर्मित होता है, जिन में एक पद वाक्य–रचना–मूलक होता है। शेष दो पद भिन्न–भिन्न प्रकार से कुछ विधान करते हैं। उदाहरणतः 'मोहन मनुष्य है' वाक्य ही लें। इस में 'मोहन' तथा 'मनुष्य' पद भिन्न--भिन्न प्रकार से कुछ निर्देश करते हैं। इसी प्रकार 'मोहन राम का मित्र है' वाक्य में 'मोहन' तथा 'राम का मित्र' भिन्न प्रकार से निर्देश करते हैं। इसी प्रकार हमारे मूल वाक्यों, जैसे 'अ रक्त है' में भी उद्देश्य तथा विधेय दो निर्देशक पद हैं। विधेय पद उद्देश्य पद के सम्बन्ध में कुछ विधान करता है और उद्देश्य पद वह है जिस के संबंध में कुछ विधान किया जाता है। किन्तु विधेय पद का निर्देश उद्देश्य पद से भिन्न होता है। जैसे, हमारे इस मूलवाक्य में 'रक्त' पद का निर्देश एक विशिष्ट वर्णाभा है। अब 'अ' का निर्देश क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ सम्बन्धी विवाद में ले जायगा। यहां वह सब प्रासंगिक नहीं है। यहां द्रष्टव्य केवल यह है कि 'अ' पद व्यक्तिवाचक संज्ञा है और अतएव अद्वितीयरूप से, तथा बिना वर्णन किये, निर्देश करता है। यहां 'रक्त' पद भी संज्ञा है किन्तु भिन्न प्रकार की, क्योंकि यह सद्यःप्रदत्त गुण की संज्ञा है; किन्तु गुण सद्यःप्रदत्त की सीमा तक

५. गस्टाव बर्गमान–मेटाफ़िज़ीक्स आफ लाजीकल पाज़िटिविज़म, पृ० २०३। (लांगमैन, न्यूयार्क, १९५४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमित नहीं होते। इस प्रकार, विधेय पद एक वाक्य में अन्य पद का विशेषण है। यह दूसरे वाक्यों में दूसरे व्यष्टियों का विशेषण हो सकता है। किन्तु विशेष्य "वस्तु" का किसी भी विशेषण से विशेषित होना अनिवार्य नहीं है (वर्तमान की स्थापनाओं से यह आवश्यक रूप से परिणाम निकलता है)। संक्षेप में यह वस्तु--अस्तित्ववाद को प्रतीयमान औचित्य प्रदान करता है।

किन्तु वास्तव में हमारी भाषा के उद्देश्य–विधेयात्मक वाक्यों में अनिवार्यतः उद्देश्य तथा विधेय के निर्देश भिन्न-भिन्न नहीं होते। उदाहरणः 'मोहन मनुष्य है' वाक्य ही लें। इस में 'मोहन' पद केवल 'मनुष्य' द्वारा अनिश्चितरूप से प्रकथित (संकेतित नहीं) वस्तु का निश्चितरूप से प्रकथन करता है। इसी प्रकार, 'मोहन राम का मित्र है' वाक्य में भी 'मोहन' पद उस वस्तु का विना वर्णन किये निर्देश करता है जिस का 'राम का मित्र' पद अनिश्चित निर्देशात्मक वर्णन करता है। यहां अनिश्चितता केवल इस बात में है कि 'मनुष्य' पद अनेक उद्देश्यों का विधेय हो सकता है. किन्तु यह सम्भव नहीं है कि राम मनुष्य है किन्तु वह मनुष्य न होता। और न ही 'राम' तथा 'मनुष्य' दो भिन्न वस्तुओं का निर्देश करते हैं। किन्तु निर्देश–भिन्नता इसी प्रकार के अन्य वाक्यों में विद्यमान है, यथा 'राम श्यामवर्ण है', जबकि राम एक मनुष्य–विशेष की संज्ञा है। यहां यह स्पष्ट है कि जबकि राम श्याम वर्ण है (यदि यह वाक्य सत्य है तो) यह अनिवार्य नहीं है कि वह गौर वर्ण का नहीं हो सकता था। इसका कारण स्पष्ट है :— जबकि 'राम' एक गुण–समवाय का वाचक है, 'श्याम' समवाय में से एक गुण का वाचक है। और यह आनुभविक सत्य है कि हम किसी समवायी में गौण महत्व के कुछ गुण भिन्न प्रकार से होने पर भी उसे भिन्न नाम नहीं देते। किन्तु 'राम मनुष्य है' में 'राम' पद 'मनुष्यता' सामान्य के उदाहरित होने का वाचक है।

'मनुष्य' पद उस अर्थ में संज्ञा नहीं है जिस अर्थ में हमारे सरलतम पद, अथवा अपरिभाषित विधेय पद, संज्ञाएं हैं। इस लिये यह पद भी भ्रामक हो सकता है। उदाहरणतः'रान मनुष्य और रक्त वर्ण है' वाक्य में दो विधेय हैं और 'राम' दोनों के साथ घटित हो सकता है। यहां तक कि 'राम मनुष्य तथा सपुच्छ है' वाक्य भी सार्थक तथा सत्य दोनों हो सकता है, जबकि सामान्यतः ये दोनों विधेय परस्पर विरोधी हैं। अतः यह भ्रम रह सकता है कि 'राम' पद किसी स्वतन्त्र वस्तु की संज्ञा है। वास्तव में यही भ्रम 'अ रक्त है' का भी आधार है, क्योंकि, जैसाकि अनुभव में होता है, रक्त कोई प्रदेश होता है। किन्तु जैसाकि हम "विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व" निबन्ध में देखेंगे, 'दैशिक संस्थान' उसी प्रकार अपरिभाषित विधेय पद है जिस प्रकार 'रक्त' अपरिभाषित विधेय पद है। अतः मूल वाक्य में 'अ' को देश–काल बिन्दु का वाचक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझना भ्रमाधारित है। ऐसे वाक्य हो सकते हैं जिन में यह भ्रम न हो, जैसे 'अ मधुर है' अथवा 'अ पीड़ा है'। हमारे ये वाक्य उचितरूप से पुनारचित होने पर इस प्रकार होंगे :—'मधुर, अब' तथा 'पीड़ा, अब'। अब 'अ मधुर है' वाक्य लें। 'अ' यहां लड्डू का वाचक नहीं है, यह बात वस्तु-अस्तित्ववादी भी स्वीकार करेंगे। 'अ' केवल 'मधुर' की उस घटना विशेष का वाचक है जो सद्यःप्रदत्त है। अन था 'मधुर' सामान्य पद है और अतएव किसी "वस्तु" का वाचक नहीं है।

इस प्रकार, हमारी स्थापना के अनुसार, विधेय पद तव तक किसी "वस्तु" की संज्ञा नहीं है जब तक यह उद्देश्य पद के साथ संयुक्त हो कर विशिष्ट घटना का अभिधान नहीं करता। और इसी लिये स्वयं 'अ' किसी वस्तु की संज्ञा नहीं है, क्योंकि यह केवल सामान्य पद के विशिष्ट के रूप में घटित होने और इस प्रकार सास्तित्व वस्तु का निर्देशक होने का विधायक मात्र है। अथवा, हमारी स्थापनानुसार उचित शब्दों में, यह सामान्य पद का उदाहरित विशिष्ट के वाचक रूप में प्रयोग करता है।

वस्तु-अस्तित्ववाद के भी कम से कम दो सम्प्रदाय हो सकते हैं, अथवा, कम से कम दो सम्प्रदाय हैं। विटगिंस्टाइन की स्थापनानुसार, वस्तुवाचक पद अपने आप में किसी अस्तित्व का विधान नहीं करते। यह परिणाम उनके निम्न कथनों से स्पष्टतः अनुगत होता है, यथाः "१.१ विश्व तथ्यों की सकलता है, वस्तुओं की नहीं।

१.०११ एक वस्तु के लिये यह आवश्यक है कि वह अणु-तथ्यों का भाग हो सके।

२.०१२१ जैसे हम दैशिक विषयों को देश से बाहर नहीं सोच सकते तथा कालिक विषयों को काल से बाहर नहीं सोच सकते. उसी प्रकार हम एक विषय को इसके अन्य विषयों से सम्बन्ध की सम्भावना के विना नहीं सोच सकते।

२.३२—विषय वर्ण-हीन हैं।"

इस प्रकार उनकी ये "वस्तुएं" वास्तव में उद्देश्य तथा विधेय पदों की पर्याय अधिक हैं किसी अस्तित्व की कम। किन्तु वर्गमान दो स्वतन्त्र "वस्तुओं" का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, जैसाकि उनके दोनों पदों को संज्ञाएं स्वीकार करने से तथा अपने आपको वस्तु-अस्तित्ववादी कहने से स्पष्ट है। तब वाक्य एक तृतीय अस्तित्व का वाचक होगा। किन्तु वास्तव में इस प्रकार इसे किसी तृतीय अस्तित्व का वाचक नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह सरल नहीं है, और मिश्र पद किसी अस्तित्व का विधान नहीं करते। इस प्रकार, उनकी अस्तित्वमीमांसा में "अ" का अस्तित्व है और "रक्त" का अस्तित्व है किन्तु "अ रक्त है" वाक्य द्वारा विहित किसी तृतीय तत्व का अस्तित्व नहीं है। किन्तु "तथ्य" को वे एक अन्य प्रकार से प्रवेश देते हैं। उनके अनुसार "जब मैं यह जानता हूँ कि यह हरित संस्थान (विन्दु) है, तब मैं यह भी जानता हूँ कि (१) संस्थान एक व्यष्टि है, (२) वर्ण गुण है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और (३) प्रथम द्वितीय को उदाहरित करता है, और कि द्वितीय प्रथम को उदाहरित नहीं करता। मैं यह सब कैसे जान सकता था यदि ये सब मुझे प्रदत्त न होते?"[६] इसे वे अकथनीयता (इन्इफेबिलिटी) का सिद्धान्त कहते हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार, एक ढांचा, जोकि तथ्य का वाचक है, हमें प्रदत्त होता है और इसका भाषा द्वारा कथन नहीं हो सकता, यह केवल देखा जा सकता है।

यहां उनके अकथनीयता के सिद्धान्त की आलोचना प्रासंगिक नहीं है, किन्तु फिर भी यहां हम अपने इस कुतुहल का संवरण करना कठिन पाते हैं कि वे मिश्र वाक्यों के रूप के सम्बन्ध में क्या कहना चाहेंगे ? क्योंकि मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि अमुक वाक्य मिश्र है जब तक इसका यह ढांचा मुझे प्रस्तुत नहीं हो ? खैर, वे वाक्यरूप को तृतीय तत्व मानते हैं।

४

'मेज़$_1$ रक्त है' वाक्य सत्य है यदि वास्तव में मेज़$_1$ रक्त है, किन्तु यदि यह मेज़ पीत रंग का है तो यह वाक्य असत्य है। किन्तु यह वाक्य असत्य होने पर भी सार्थक है, यह स्पष्ट है, क्योंकि मेज़ न होने पर भी हम इस वाक्य का अर्थ समझते हैं। 'काला कव्वा रक्त नहीं है' वाक्य सत्य है, किन्तु इसकी सत्यता कव्वे के "काले तथा अरक्त" होने पर निर्भर नहीं करती, यह केवल इसके "काले" होने पर निर्भर करती है। हमारी ये दो स्थापनाएं क्रमशः इन दो विधानों पर आधारित हैं– (१ सब वाक्यों की सार्थकता उनकी सत्यता पर निर्भर नहीं है। तथा (२) नकारात्मक विधेय किसी अस्तित्व का विधान नहीं करते। इनमें प्रथम विधान भाषीय नहीं है, जबकि द्वितीय विधान भाषीय है। किन्तु ये दोनों विधान परस्पर पूरक तथा अस्तित्वमीमांसा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

'मेज़ रक्त है' वाक्य या ऐसे ही अन्य वाक्य हमारी आदर्श भाषा में प्रयुक्त वाक्य नहीं हैं। 'मेज़' को आकार विशेष का वाचक मानते हुए,यह पद उतना ही विधेयात्मक है जितना 'रक्त' पद विधेयात्मक है। अतः यह वाक्य इस प्रकार पुनारचित होगा– 'अ$_1$ मेज़ है' तथा 'अ$_2$ रक्त है', 'अ$_1$ तथा अ$_2$ समकालिक हैं'। 'अ$_1$' तथा 'अ$_2$' निश्चित (कांस्टेंट) पद होने से विशिष्ट संज्ञाएं हैं और अतएव 'मेज़' तथा 'रक्त' भी विशिष्ट संज्ञाएं हैं। हमारे विधानानुसार, जोकि अनुभववादी तर्क का आधारभूत विधान है, संज्ञाएं केवल वे पद हैं जो सद्यःप्रदत्त के वाचक हैं। इस प्रकार, यह वाक्य तब तक घटित नहीं हो सकता जब तक कि मेज़वत् तथा रक्तिम संस्थान सद्यःप्रस्तुत नहीं हों।

३. इन्इफेबिलिटी, ऑंटोलोजी एंड एग्ज़िस्टेंस।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत नहीं होने पर ये वाक्य इस प्रकार होंगे 'य मेज़वत् है' तथा 'य रक्त है'। इस और केवल इस अवस्था में यह वाक्य सत्य तथा असत्य होने से निरपेक्षतः सार्थक हैं। इस की सार्थकता इस में प्रयुक्त सामान्यपदों के द्वारा है। जिन वाक्यों के उद्देश्य पद अनिश्चित हों उनके विधेय पद किसी सरल की संज्ञा न हो कर सामान्य पद होते हैं, और हमारी विवेचना के अनुसार, सामान्य पद किसी अस्तित्व के वाचक नहीं होते। इस प्रकार 'य मेज़ है' तथा 'य रक्त है' वाक्य सत्य या असत्य होने के अयोग्य हैं।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि '$अ_1$ मेज़ है' तथा '$अ_2$ रक्त है' वाक्य भौतिक विषय या विषयों के वाचक नहीं हैं। इन वाक्यों में उद्देश्य पदों के द्वारा दोनों विधेय पद विशिष्टीकृत हैं और सद्यःप्रदत्त के वाचक हैं। इसीलिये किसी वाक्य में उद्देश्य पद के अनिश्चित होने पर विधेय पद सामान्य के वाचक होते हैं। भौतिक विषय—वाक्य '$मेज़_1$ रक्त है' भिन्न प्रकार का है। 'मेज़' केवल चाक्षुष विषय—वाचक होने पर और इस प्रकार '$अ_1$ मेज़ है' तथा '$अ_1$ रक्त है' प्रदत्त के वाचक होने पर भी भौतिक विषय वाक्य 'यह मेज़ रक्त है' पूर्णतः सत्यापित नहीं हो जाता[७] क्योंकि 'मेज़' पद के अर्थ में अनेक प्रदत्त और सम्भाव्य गुण अपेक्षित हैं। उदाहरणतः विशेष चाक्षुष प्रदत्त घटित होने पर भी यदि विशिष्ट स्पर्श—प्रदत्त घटित नहीं होते तो भौतिक विषय वाक्य कम से कम आंशिकरूप से खण्डित हो जाता है। अतः 'यह मेज़ रक्त है' इस प्रकार पुनार्रचित होगाः— [(य)(मेज़ (य) ⊂ रक्त (य).मेज़वत् (य). कठोर (य). ——(य)]. [मेज़वत् ($अ_1$). रक्त ($अ_2$)] (प्रत्येक वस्तु, यदि यह मेज़ है तो यह वर्णयुक्त, मेज़वत्, कठोर आदि आदि है, $अ_1$ मेज़वत् है तथा $अ_2$ रक्त है)। इस पुनारचना की यह विशेषता है कि यह इस वाक्य की सत्यापन—सापेक्षता तथा अपूर्णतः सत्यापनीयता को व्यक्त करता है। व्यष्टिवाचक पद (अ) के साथ संख्या देने का कारण यह नियम है कि ऐसे पद केवल एक ही विधेय के साथ घटित हो सकते हैं।

जहां तक मूल वाक्य '$ग_1$($अ_1$)' का सम्बन्ध है, यह प्रदत्त का वाचक होने से असत्य होने के अयोग्य है। वर्तमान का 'ग' प्रस्तुत न होने पर '$ग_1$($अ_1$)' वाक्य को उचिततया निर्मित मानना हमें समझ नहीं आया, क्योंकि ऐसा वाक्य परिभाषया प्रदत्त की संज्ञा हो कर ही उचिततया निर्मित कहा जा सकता है। इस प्रकार असत्य मूल वाक्यों तथा असत्य तथ्यों की समस्या का प्रश्न नहीं उठता।

यहां एक और प्रनियम की स्थापना आवश्यक है—मूल—वाक्य तथा मूल—वाक्यरूप भिन्न वस्तुएं ("वस्तुएं" नहीं) हैं। सद्यः प्रदत्त के वाचक न होने पर '$ग_1$($अ_1$)' जैसे

७ द्रष्टव्यः इसी पुस्तक में "अर्थमीमांसा" निबन्ध।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य मूलवाक्यरूप हैं, मूलवाक्य नहीं। अतः "$ग_1(ग_1)$" तथ्य प्रस्तुत होने पर '$ग_1(अ_1)$', का प्रयोग मूलवाक्यरूप का प्रयोग करना है। तथ्यअस्तित्ववादी पर वर्गमान द्वारा असत्य तथ्य लादने की भूल यह भेद न करने पर आधारित है कि जबकि वे मूलवाक्यों को अनिवार्यतः तथ्य की संज्ञा मानते हैं तब वे तथ्य प्रस्तुत न होने पर भी किसी वाक्य को मूलवाक्य और अतएव संज्ञा वाक्य मानते हैं। प्रत्येक वाक्यरूप के लिये तथ्य खोजना एक बात है और तथ्य प्रस्तुत होने पर वाक्य द्वारा उसका अभिधान करना दूसरी बात है। तथ्य अस्तित्ववादी को अपने ऊपर प्रत्येक मूल वाक्यरूप के लिये तथ्य प्रस्तुत करने का असम्भव तथा अनुचित उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहिए। रसल तथा विटगिंस्टाइन ने यह उत्तरदायित्व ले कर भूल की थी। किन्तु यह अवांछित परिणाम तथ्यअस्तित्ववाद को स्वीकार करने से अनिवार्यतः लागू नहीं होता, जैसा कि वर्गमान कहते हैं।[८]

इस प्रकार तथ्यअस्तित्ववादी वर्गमान की इस आपत्ति का कि "असत्य मूलवाक्य कुछ अभिहित न करने पर भी सार्थक हैं" उत्तर देने में समर्थ है। संक्षेप में, उपर्युक्त विवेचन स्थापित करता है कि (१) मूलवाक्य अभिधानात्मक वाक्य हैं। (२) अभिधानात्मक वाक्यों द्वारा अभिहित तथ्य अस्तित्वमय हैं। (३) यह असम्भव है कि अभिधानात्मक वाक्य अभिहित न करें। (४) अभिहित न करने वाले वाक्य मूलवाक्य न होकर मूलवाक्यरूप हैं। (५) सामान्य पद किसी सास्तित्व वस्तु को अभिहित नहीं करते, किन्तु ये सार्थक होते हैं।[९]

५

एक विशिष्ट वाक्य (मूलवाक्य) एक "तथ्य" का वाचक होता है। एक स्थानित गुण एक तथ्य है। "तथ्य" अथवा "स्थानित गुण" विश्व के भाग हैं। 'स्थानित होने' से हमारा अभिप्राय है 'एक सद्यः प्रस्तुत का भाग होना'। 'सद्यः प्रस्तुत' से हमारा अभिप्राय किसी देश-काल विन्दु विशेष से नहीं है, यद्यपि "सद्यः प्रस्तुत" काल की अवधारणा में आवश्यक तत्व है। 'सद्यःप्रस्तुत' एक 'अनुभव घटना' है। एक सद्यः-प्रदत्त में दो गुण घटित हो सकते हैं, जैसे रक्त और पीत, शीतल और कोमल, मन्द और गम्भीर स्वर आदि-आदि। इसी प्रकार, विशेष संस्थान तथा वर्ण, यथा 'मेज़वत्' तथा 'रक्त' घटित होते हैं। अतएव " 'अ हरित है' लागू करता है कि 'अ विस्तारयुक्त है' " विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) वाक्य नहीं है। वास्तव में हमारी आदर्श भाषा में यह उचितरूप से निर्मित वाक्य भी नहीं है, क्योंकि इसमें दो विशिष्ट विधेय पद एक

८–इन्एफेबिलिटी, ओन्टोलोजी एण्ड मैथड, फिलासफीकल रिव्यू, जन्वरी १९६०,
९– द्रष्टव्य–विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही व्यष्टिपद (पर्टिकुलर) के साथ जोड़े गये हैं। इस प्रकार, 'अ विस्तारयुक्त है' तथा 'अ हरित है' दो विशिष्ट वाक्य हैं और अतएव परस्पर अनिवार्यतः लागू नहीं होते।

उचितरूप से निर्मित प्रत्येक वर्णनात्मक वाक्य अनिवार्यतः सार्थक है, किन्तु प्रत्येक ऐसा वाक्य सत्य नहीं है। वाक्यों की सत्यता उनसे प्रकथित घटना के घटित होने में है, किन्तु सार्थकता उपयुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं के घटित होने में है। 'ब्रह्मा चतुर्भुज है' असत्य वाक्य है किन्तु यह सार्थक है, क्योंकि यह वाक्य उन कल्पनाओं को प्रजागरित करता है जिन को व्यक्त करना वांछित है। मूलवाक्यों के अतिरिक्त कोई वर्णनात्मक वाक्य अनिवार्यतः सत्य नहीं है, किन्तु यह अनिवार्यतः सार्थक है। इस प्रकार, मूल-वाक्य अनिवार्यतः सार्थक हैं। किन्तु ये अनिवार्यतः सत्य भी हैं। इस प्रकार मूल-वाक्यों में सत्यता और सार्थकता सहगामी हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि मूल वाक्यों की सार्थकता इनकी सत्यता से अनुगत होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३

विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व

हमने मूल वाक्य अध्याय में मूल वाक्यों की समस्या पर विचार करते हुए मूलवाक्य के उद्देश्य-विधेयात्मक रूप को स्वीकार किया था। वहां हमने मूलवाक्यों के ऐसे रूप को भी स्वीकार किया था जिसमें सामान्यतः विधेयों के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले पद उद्देश्यों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, जैसे '(ᴲय)(य=रक्तता) (रक्तता, यहां, अब)'। 'रक्तता' पद यहां उद्देश्य है और 'यहां, अब' विधेय हैं। किन्तु 'रक्तता' पद सामान्य (universal) का वाचक है और इस पद को उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर हम सामान्यों के अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं। रसल ने 'एन इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रुथ' में इस स्थिति को ही स्वीकार किया है। वे स्थान-निर्देशक संकेतों (स्पेश्यल को-ओर्डिनेट्स) को गुणवाचक मानते हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार, 'रक्तता' पद अनेक मूल वाक्यों का एक साथ उद्देश्य हो सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में, एक ही सामान्य "रक्तता" दो स्थानों पर अस्तित्ववान हो सकती है।

किन्तु हमने पीछे 'रक्तता' पद का प्रयोग इस प्रकार से नहीं किया है--हम सामान्यों के अस्तित्व को उस प्रयोग के कारण स्वीकार करने के लिये वाध्य नहीं हैं। हमारा प्रयोग वहां विशिष्ट वर्तमान अथवा विशिष्ट संवेद, जो एक घटना, अथवा विटगिंस्टाइन के अनुसार, तथ्य है, का वाचक है। हम इस सम्पूर्ण वाक्य को एक ज्ञानात्मक इकाई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(इपिस्टिमेलोजीकल यूनिट) का वाचक भी कह सकते हैं जैसाकि हमारे "वस्तुएं, तथ्य और अस्तित्वमीमांसा" निबन्ध से स्पष्ट है। 'रक्तता' पद को 'उद्देश्य' के स्थान पर प्रयुक्त करने के पीछे हमारा उद्देश्य ज्ञानातीत परतत्व (ट्रांसेंडेंट थिंग) के सिद्धान्त से बचना है। विशिष्ट संवेद में वर्णादि गुण तथा दैशिक सम्बन्ध ही घटित हो सकते हैं, कोई परतत्व नहीं।

किन्तु हम देखते हैं कि यह मेज़, यह टमाटर, यह गाजर, यह कपड़ा, ये ओष्ठ, सब रक्त वर्ण हैं और इस प्रकार, दूसरे शब्दों में, एक रक्तता इन सब में तथा अन्य अनेकों में विद्यमान है। विटगिंस्टाइन के अनुसार, वस्तुएं (आब्जेक्ट्स) निर्गुण हैं तथा किसी वस्तु का विशेष गुणयुक्त होना केवल संभाव्य है। यह संभावना आनुभविक न हो कर तार्किक है।1

कुछ दार्शनिकों के अनुसार, ये रक्तता आदि गुण उन वस्तुओं से स्वतन्त्ररूप में विद्यमान हैं जिन को ये विशेषित करते हैं। गुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व की अवधारणा के आधार में अनेक विषयों की विभिन्न पहलुओं में समानता है। जबकि टमाटर और बाल-सूर्य में वर्णैक्य है, दो बिल्लियों में अथवा दो टमाटरों में अनेक समानताएं हैं। कभी कभी दो वस्तुओं में लगभग अभिन्नता भी पायी जाती है, जैसे एक ताले की दो चाभियों में, एक शीट से अभी काटे गये दो काग़ज़ों में, एक कापी के दो नोटों में, आदि। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के गुणों की समानता उन गुणों के अस्तित्व की धारणा का आधार है। वास्तविकता यह है कि जिन्हें हम वस्तुएं कहते हैं वे भी विभिन्न गुणों के समवायों के रूप में देखी जाती हैं। उदाहरणतः टमाटर खटास, रक्तता, कोमलता आदि-आदि के अतिरिक्त और क्या है? अतः कुछ दार्शनिक वस्तुओं का अस्तित्व

1 'तर्कतः' पद के प्रयोग से अभिप्राय है, जो तार्किक नियमों के अनुसार सत्य है, इस प्रकार, जिसकी सत्यता तार्किक नियमों के रूप से निर्धारित होती है, अनुभव से नहीं। आनुभविक सत्य आकस्मिक हैं, क्योंकि कोई भी वाक्य, जो किसी आनुभविक तथ्य का कथन करता है, उसके सत्य मूल्य (सत्यता या असत्यता) का निर्णय अनुभव पर निर्भर करता है। विटगिंस्टाइन का 'सम्भावना' का प्रयोग तार्किक है। उन के अनुसार "२.०११ एक वस्तु के लिये यह आवश्यक है कि यह आणविक तथ्य का भाग हो सकती हो। २.०१२-तर्क शास्त्र में कुछ भी आकस्मिक नहीं है, यदि एक वस्तु एक आणविक तथ्य में घटित हो सकती है तो उस आणविक तथ्य की सम्भाव्यता उस तथ्य में अनिवार्यः पूर्व निर्णीत होनी चाहिये।" (Tructatus, Logico Philosophicus.)

हमने विटगिंस्टाइन की 'विषय की अवधारणा के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया है। यहां हम केवल उन की इस आपत्ति की ओर संकेत करना चाहते हैं कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार नहीं करते, केवल गुणों का ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

यहां हमने तीन पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया है—'सामान्य', 'विशेषण' तथा 'वस्तुएं'। सामान्य हम स्वतन्त्र तथा अनुदाहरित (अनएग्ज़ेम्प्लीफाइड) गुणों को कहेंगे, जैसे 'रक्तता' अनुदाहरित गुण का वाचक पद है, विशेषण उदाहरित (एग्ज़ेम्प्लीफाइड) अथवा घटित गुणों को कहेंगे, जैसे 'यह कुर्सी रक्त है'; 'वस्तु' पद उन अस्तित्वों का वाचक है जिन को विशेषण विशेषित करते हैं।

अब जैसा कि स्पष्ट होना चाहिये, हम ओष्ठ, मालटा अथवा बाल–सूर्य की ओर संकेत कर सकते हैं, जैसे 'वह सूर्य' अथवा 'वह मालटा', किन्तु ये संकेत केवल उदाहरित सामान्यों की ओर ही संभव हैं, अनुदाहरित सामान्यों की ओर नहीं। जैसे,'यह रक्तता', 'वह कोमलता' आदि गलत प्रयोग हैं। निःसन्देह'यह रक्त'अथवा 'ऐसा कोमल'उचित प्रयोग हैं, किन्तु यह संकेत उदाहरित सामान्यों, अथवा कहें विशेषणों, के ही साथ प्रयुक्त हो सकते हैं। और जैसा कि हम इस निबन्ध के अन्त में देखेंगे, ये संकेतेन बोध्य पद(ओस्टेंसिव टर्म्ज़)वास्तव में न सामान्य हैं और न विशेषण। इन शब्दों का प्रयोग हम केवल अन्य सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए यहां कर रहे हैं। जब ये "रक्त" आदि उदाहरित होने पर सामान्य भी हैं तब वास्तव में ये संकेतेन बोध्य नहीं हैं, जिस प्रकार 'इस गांव में बड़ी भीड़ है' वाक्य में 'भीड़' पद किसी व्यक्ति–तथ्य का व्यंजक नहीं है।[२] किन्तु वस्तु की अवधारणा इस प्रकार की है कि यह (वस्तु) दो स्थानों पर एक साथ घटित नहीं हो सकती। इसी प्रकार, वस्तु की अवधारणा का एक आधार दैशिक एकता तथा संकेत्यता है।

दूसरा आधार वाक्यों का उद्देश्य–विधेय रूप है। कुछ पद ऐसे हैं जो केवल उद्देश्य के स्थान पर ही वाक्य में प्रयुक्त हो सकते हैं और दूसरे ऐसे हैं जो उद्देश्य और विधेय दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकते हैं। 'रक्त यह' में प्रयुक्त 'यह' पद केवल उद्देश्य के रूप में ही प्रयुक्त हो सकता है जबकि 'रक्त' पद दूसरे प्रकार के वाक्यों में उद्देश्य के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है: जैसे 'रक्त हरित नहीं है' अथवा 'रक्त वर्ण है' में। इन वाक्यों में 'रक्त' पद उद्देश्य के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। यदि उन की इस सम्भाव्यता की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया जाता तो 'यह रक्त' एक पुनरुक्ति मात्र रह जायगा, क्योंकि 'यह' तथा 'रक्त' का संबंध तर्कतः अनिवार्य होगा। इसके विपरीत उन के अनुसार, "एक वस्तु वह है जो आणविक तथ्य में अमुक-अमुक प्रकार से घटित हो सकती है।" उन को यह आपत्ति केवल तभी उचित है यदि विशिष्ट और सामान्य को दो अस्तित्व माना जाय तो।

२ आउट लाइन आफ फिलासफी (रसल), पृ० २६८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब, यह आवश्यक नहीं है कि किसी पद के किसी वाक्य में उद्देश्य के रूप में घटित होने के लिये उसका सर्वत्र उद्देश्य के समान घटित होना आवश्यक है। गीश के अनुसार "विधेय वह पद है जो किसी पद के साथ संयुक्त होने पर उस के सम्बन्ध में कुछ विधान करता है, और उद्देश्य वह पद है जिस के साथ विधेय संयुक्त होने पर दोनों उसके सम्बन्ध में विधान करते हैं, जिस का उद्देश्य वाचक है।"[४] हमारे विचार में, 'यह' पद गीश द्वारा दी गयी उद्देश्य की अवधारणा पर पूरा उतरता है, क्योंकि यह केवल उस 'कुछ' का वाचक हो सकता है जिस के सम्बन्ध में विधेय पद कुछ विधान करता है तथा जिस के सम्बन्ध में दोनों पद मिल कर विधान करते हैं। इस प्रकार 'यह' पद निरपवाद रूप से उद्देश्य है। उद्देश्य और विधेय का यह भेद वस्तु की अवधारणा का दूसरा आधार है। किन्तु उद्देश्य और विधेय के इस भेद के लिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई पद अनिवार्यतः ऐसे हों कि वे कभी भी विधेय के रूप में प्रयुक्त ही न हो सकते हों। जैसा कि गीश का प्रस्ताव है, उद्देश्य और विधेय की अवधारणा आधारतः भिन्न है, इस प्रकार कि यदि किसी वाक्य में एक पद उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त होता है तथा दूसरे वाक्य में वही पद विधेय के रूप में प्रयुक्त होता है तो इन वाक्यों में वह पद मूलतः भिन्न रूप का है, अथवा कहें, भिन्न प्रकार का वाचक है। प्रो० क्वाइन ने एक विधि प्रस्तावित की है, जिसके अनुसार संज्ञा पद विधेय पदों में विघटित किये जा सकते हैं। उन के अनुसार, 'ट्रूमन राजनीतिज्ञ है' वाक्य को इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है 'एक और केवल एक वस्तु ट्रूमन तथा राजनीतिज्ञ है।'[५] किन्तु हमारे विचार में यह विधि उद्देश्यों की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर देती क्योंकि यह केवल निरूपणात्मक (डिस्क्रिप्टिव) वाक्यों में ही व्यवहार्य है, मूल वाक्यों में विशिष्ट संज्ञाएं ही घटित हो सकती हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे। यहां केवल इतना प्रासंगिक है कि स्वयं उद्देश्य की अवधारणा का आधार संकेत है। उपर्युक्त वाक्य 'रक्त हरित नहीं हो सकता' को लें। इसमें रक्त पद या तो 'यह रक्त' का संक्षेप है अथवा यह स्वयं भी विधेय है, जैसे 'प्रत्येक वस्तु, यदि यह रक्त है तो यह हरित नहीं है'।

यहां हमारा उद्देश्य 'उद्देश्य-विधेय' के सम्बन्ध में किसी विस्तृत विवाद में पड़ना नहीं है, हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि वस्तु की कल्पना के आधार में यह भेद एक कारण है।

तृतीय आधार, विभिन्न गुणों अथवा विशेषणों में अनुबन्ध का होना है। उदा–

४ पो. टी. गीश–सब्जेक्ट एंड प्रेडीकेट, माइंड– अक्तूबर १६५०, पृ० ४६१–४८२।

५ प्रो० क्वाइन–'फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू' में 'ओन व्हाट देयर इज़'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृश्यतः टमाटर रक्त, गोल, कोमल तथा खट्टा होता है। इस प्रकार, टमाटर (वस्तु) में उदाहरित रक्तता, गोलाई, कोमलता तथा खटास अनुबद्ध हैं–सहावस्थित हैं।

किन्तु वस्तु की अवधारणा के आधार में सब से प्रमुख विशेषता यह है कि सम्पूर्ण सम्भव विशेषणों का परिगणन उसकी परिभाषा के बराबर नहीं हो सकता, वह अपने विशेषणों से स्वतन्त्र है। मूलवाक्य निबन्ध में हमने इसका ज्ञानमीमांसात्मक आधारों पर प्रत्याख्यान किया था। यहां उसकी अवधारणाओं के अन्य आधारों पर विचार करना अप्रासंगिक होगा। यहां हम इसकी स्थानापन्न एक आधुनिक अवधारणा-विशिष्टों के सिद्धान्त (थीयरी आफ पर्टिकुलर्ज़) पर विचार करेंगे।

किन्तु उससे पूर्व हमें सामान्यों के सम्बन्ध में थोड़ा और स्पष्ट हो लेना चाहिये। सामान्यों के अस्तित्व के सिद्धान्तानुसार 'रक्तता', 'मनुष्यता', 'मानव' (जाति अथवा वर्ग) तथा '७' आदि पद उसी प्रकार वास्तव अस्तित्वों के वाचक हैं जिस प्रकार 'कुछ मनुष्य काले हैं' वाक्य में 'मनुष्य' (विशेष) तथा 'काला' पद वास्तव अस्तित्व के वाचक कहे जा सकते हैं, अथवा और भी ठीक शब्दों में, जैसे हमारे मूलवाक्य 'यह रक्त है' में 'यह–रक्त' वास्तव अस्तित्व का वाचक है। यहां यह आपत्ति की जा सकती है कि सामान्यों के सिद्धान्त के पोषक प्लेटो आदि सामान्यों को उसी अर्थ में अस्तित्ववान स्वीकार नहीं करते जिस अर्थ में 'यह मनुष्य' अथवा 'यह रक्त' के द्वारा व्यक्त विशिष्टों को अस्तित्व-वान मानते हैं। उनका वस्तुओं तथा सामान्यों में भेद करना इसका प्रमाण है। वास्तव में अनेक दार्शनिकों ने इन दो प्रकार के अस्तित्वों में भेद करने के लिये विशिष्टों अथवा वस्तुओं के अस्तित्व के लिये 'अस्तित्व' पद का प्रयोग किया है तथा सामान्यों के अस्तित्व के लिये 'सबसिस्ट' पद का प्रयोग किया है।[६] किन्तु हमारे विचार में यह भेद तभी तक उपयुक्त है जब तक हम ज्ञानमीमांसा की आधारभूत अवधारणाओं पर विचार नहीं करते। जैसे रसल के एक उदाहरण को लें– "एडिन्बरा लन्दन के उत्तर में है"।[७] उनके अनुसार, यहां एडिन्बरा तथा लन्दन के साथ उत्तर भी अस्तित्ववान है, केवल इसका अस्तित्व भिन्न प्रकार का है। वे 'उत्तर' को आत्यन्तिक रूप में तथा द्रष्टा से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्ववान मानते हैं। यहां द्रष्टा से स्वतन्त्रता अथवा अस्वतन्त्रता अप्रासंगिक है, प्रासंगिक केवल इतना है कि 'उत्तर' सामान्य किस अर्थ में है तथा वह

६. विशेष के लिए देखें–रसल के प्राब्लम्ज़ आफ फिलासफी में "दि वर्ल्ड आफ यूनीवर्सल्ज़," लाजिक एन्ड नालेज में "यूनीवर्सल्ज़ एन्ड पर्टिकुलर्ज़," ब्राड के माईंड एंड इट्स प्लेस इन नेचर में "सेंस पर्सेप्शन एंड मेटर," जार्ज सन्तयाना के "स्केप्टीसिज़्म एंड एनीमल फेथ" तथा "एस्सेज़ इन क्रिटीकल रियलिज़्म।"

७. प्राब्लम्ज़ आफ फिलासफी, पृ० ९७–९८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि एडिन्बरा तथा लन्दन के अस्तित्व का क्या अर्थ है ?

जैसाकि स्पष्ट है, 'लन्दन' (और अतएव 'एडिन्बरा') उसी अर्थ में किसी अस्तित्व के वाचक नहीं हैं जिस अर्थ में (लन्दनवासी) 'रसल' अस्तित्व का वाचक है। यह हम 'मूलवाक्य' निबन्ध में अपूर्ण प्रतीकों (इन्कम्प्लीट सिम्बल्ज़) के प्रसंग में देख ही आये हैं। उसी प्रकार स्वयं 'रसल' उस अर्थ में अस्तित्व का वाचक नहीं है जिस अर्थ में 'यह रक्त' अस्तित्व का वाचक है। हमने पीछे देखा है कि ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से हमें वाक्यों को अन्ततः इस प्रकार विश्लेषित करना होगा जिससे अविश्लेष्य संवेद-वाक्य अथवा अपरिभाषेय पद प्राप्त हो सकें। अब हम सम्बन्धवाचक पद 'उत्तर' को लें। इस पद को यहां हम सुविधा के लिये अपरिभाषेय मान लेते हैं। उस अवस्था में यह सम्बन्ध सामान्य केवल तभी है जबकि यह अन्य इसी प्रकार के सम्बन्धों के समान हैं। स्वयं रसल के ही शब्दों में, जो उन्होंने रक्तता के अस्तित्व के प्रसंग में कहे हैं, इस वाक्य में प्रयुक्त 'उत्तर' पद द्वारा संकेतित सम्बन्ध "विशेष" है तथा सामान्य सम्बन्ध "उत्तर" का उदाहरण मात्र है। इस प्रकार हमारे विचार में, सामान्यों के अस्तित्व का प्रश्न यह प्रश्न है कि- "क्या 'यह रक्त' तथा 'वह रक्त' दो विशिष्ट अस्तित्व हैं अथवा एक रक्तता इन दोनों में उदाहरित होती है?" उपर्युक्त उदाहरण में, "एडिन्बरा तथा लन्दन में सम्बन्ध सामान्य सम्बन्ध-उत्तर-का उदाहरण मात्र है, अथवा यह एक विशिष्ट सम्बन्ध है?"

अब जहां तक 'इस उत्तर' अथवा 'इस रक्त' का प्रश्न है, इनका अस्तित्व असन्दिग्ध है। इनकी विशेषता इस बात में है कि ये दुहराये नहीं जा सकते, गीश के शब्दों में, विषय की आवृत्ति नहीं हो सकती, अतः विषय के साथ 'अनेकता' का प्रयोग अयुक्त है जबकि सामान्यों के साथ 'अनेकता' का प्रयोग युक्त है। जैसे 'दस श्वेत संस्थान' उचित प्रयोग है। अतः उनके अनुसार, प्लेटो का यह सिद्धान्त कि सामान्य (फोर्म) अपने अनेक विशिष्ट उदाहरणों के अतिरिक्त तथा ऊपर एक तथा स्वतन्त्र अस्तित्व (एंटिटी) है, अस्वीकार्य है, क्योंकि यह 'अनेक' द्वारा विशेषित हो सकता है। अब यह आपत्ति इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि केवल उसी का अस्तित्व सम्भव है जिसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि यह तथ्य, कि सामान्य की आवृत्ति हो सकती है, स्वयं इस बात का प्रमाण है कि सामान्य एक तथा सास्तित्व है? यदि यह "एक" न हो तो इसकी आवृत्ति कैसे हो सकती है? यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि "इन सब गुलाब के फूलों में एक ही रक्त र अस्तित्वान है?"

अब इस तर्क को ऐसे ही नहीं उड़ाया जा सकता। किसी एक विशिष्ट दृष्टि-क्षेत्र को लें। इसमें ठीक एक ही वर्ण के अनेक बिन्दु हो सकते हैं जो भिन्नवर्णी पृष्ठभूमि द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परस्पर विभाजित हैं– जैसे एक डाली के पत्ते, अथवा एक पौधे के कोई दो फूल। (यहां यह प्रश्न अप्रासंगिक है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि फूल १–२ का वर्ण एक ही है? 'एक जैसा वर्ण' की तार्किक परिभाषा सम्भव है (द्रष्टव्यः इन्क्वारी, पृ० १०४), और जहां तक अनुभव का सम्बन्ध है, 'संवेद्यरूप से अभिन्न' हमारी भाषा का स्वीकृत अपरिभाषेय पद है। इस वस्तु-स्थिति को इस प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'यहां स० संख्यक विशिष्ट घटित होते हैं' और इस प्रकार से भी कि 'यहां एक विशिष्ट अनेक विन्दुओं पर घटित हो रहा है'। अभिव्यक्ति के ये दोनों ढंग समानरूप से उचित प्रतीत होते हैं। कम से कम अस्तित्व के संबंध में कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार किये विना इनमें निर्णय असम्भव है।

यहां पहले हमें देश–काल संबंधी कुछ प्रश्नों को समझ लेना चाहिये। ये प्रश्न अत्यन्त व्यापक तथा उलझनपूर्ण हैं और उनके सम्बन्ध में यहां विस्तृत विवेचन अप्रासंगिक है, हम यहां केवल संक्षेप में कुछ आवश्यक प्रासंगिक प्रश्नों पर विचार करेंगे।

हमने ऊपर एक वर्ण के अनेक संस्थानों के एक दृष्टि-क्षेत्र में होने की वात कही है। यदि एक ही 'रक्तता' अनेक विन्दुओं को उदाहरित करती है तो हम उन विन्दुओं को अनेक किस प्रकार कह सकते हैं? क्यों हम इन्हें एक ही संस्थान नहीं कहते? प्रथमतः इसका उत्तर यह हो सकता है कि अपनी पृष्ठभूमि के द्वारा विभाजित दो विन्दु अन्य भिन्न गुणों के द्वारा सहावस्थित हो सकते हैं। जैसे दो फूलों के आकार तथा पत्तियों की संख्या में भिन्नता हो सकती है। यदि ये संस्थान कपड़े पर दो धब्बे हैं तो इनके आकार तथा रूप में भेद हो सकता है। किन्तु यदि ये दोनों पूर्णतः एक ही रूप तथा आकार के हैं तब वे सब प्रकार से अभिन्न होंगे किन्तु दैशिक सम्बन्धों में भिन्न होंगे। कार्नप ने इस देश–काल भिन्नता को व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का आधार बनाया है और इस प्रकार सामान्यों से पृथक् किया है। उनके अनुसार, इनकी अभिव्यक्ति इस प्रकार होनी चाहिये, यथाः– 'हरित (३)' का अभिप्राय है, स्थान ३ हरित है।[८] अब परदे के दो धब्बों को लें। ये दोनों मेरी सापेक्षता में कपड़े के दाहिने किनारे के साथ भिन्न भिन्न दैशिक सम्बन्ध रखते हैं। यदि हम दैशिक सम्बन्धों की भिन्नता के आधार पर विषयों को भिन्न करते हैं तो दो 'अभिन्न' धब्बों को हम दो नहीं कह सकते, वे पूर्णतः अभिन्न होंगे। किन्तु दैशिक सम्बन्ध उतने ही मौलिक हैं जितने वर्ण, क्योंकि प्रत्येक वर्ण दैशिक विस्तार को पूर्वकल्पित करता है। कुछ दार्शनिक तो 'य वर्ण युक्त है ⊃ य आकार युक्त है' को तार्किक सत्य मानते हैं यद्यपि कुछ इसे केवल आनुभविक सत्य ही मानते हैं। जो भी हो, इतना विल्कुल ठीक है कि जैसा 'यह रक्त'

८. कार्नप–लोजीकल साइन्टेक्स श्राफ लेंग्वेज, पृ० १३-१४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असन्दिग्ध वाक्य है उसी प्रकार से 'यह आकार युक्त है' भी असन्दिग्ध वाक्य है। अब यदि कुछ आकारयुक्त है तो वह सीमायुक्त भी है और यदि कोई दो आकार हमारे दृष्टि क्षेत्र में सर्वथा समान हैं तो उनका द्वैत इस बात में है कि उनकी सीमाएं पृष्ठभूमि द्वारा पृथक्कृत हैं। इस प्रकार, संस्थानों और विन्दुओं की अनेकता आनुभविक सत्य है। अतः यहां हमें यह निर्णय करना है कि हम वर्ण की अभिन्नता के तथ्य को किस प्रकार व्यक्त करें। इसको हम दो प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं। एक परस्पर समानता के द्वारा इस प्रकार—प्रत्येक विन्दु अन्य विन्दु से एक पक्ष में समान है और इस पक्ष को हम 'रक्त होने' की संज्ञा देते हैं। दूसरे, सामान्यों की भाषा में—रक्तता र देश-काल विन्दु क, ख, ग आदि पर घटित हो रही है। अब प्रथम अभिव्यक्ति दूसरी अभिव्यक्ति की पूर्वकल्पनाओं की अपेक्षा जितनी युक्त प्रतीत होती है उतनी यह वास्तव में नहीं है, क्योंकि सामान्यों का समर्थक यहां आपत्ति कर सकता है कि आप जिस "एक पक्ष" की वात करते हैं वास्तव में वह क्या है यदि वह सामान्य नहीं है तो ? विशिष्टतावादी कह सकता है कि उसका 'अमुक पक्ष में समान' प्रयोग किसी सामान्य का बोधक नहीं है, क्योंकि वह यह नहीं कहना चाहता कि 'ये सब विन्दु रक्तता में समान हैं' वल्कि यह कि 'अ रक्त है तथा आ, ई, ऊ आदि अ के समान हैं।' किन्तु सामान्यवादी इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि विशिष्टतावादी ने केवल अपनी मोर्चे-बन्दी में एक के स्थान पर दूसरे सामान्य को मान लिया है– वह है 'समानता'। किन्तु सामान्यवादी पुनः कह सकता है कि इस सामान्य के प्रवेश से न केवल सामान्यों का अपसारण ही नहीं होता प्रत्युत जिन सामान्यों का अपसारण करने के लिये इसका प्रवेश करवाया गया है वे भी अपसारित नहीं होते। क्योंकि आप 'अ रक्त है तथा आ, ई, ऊ इसके समान हैं' के द्वारा इससे अधिक क्या कहना चाहते हैं कि अ,आ,ई, ऊ परस्पर समान हैं क्योंकि ये सब रक्त हैं ? यहां स्पष्टतः दोनों का अन्तर दोनों की आधारभूत धारणाओं के अन्तर पर आधारित है, विशिष्टतावादी केवल देश-काल विशेषित को ही अस्तित्ववान मानता है जबकि सामान्यवादी देश-काल विशेषता को केवल एक सामान्य तथा अन्य सामान्यों के साथ आकस्मिकतया सहावस्थित मानता है। अतः विशिष्टतावादी का 'समान' सामान्य नहीं है, क्योंकि वह तो सामान्यवादी से उसके सामान्यों अथवा भाव-वाची (एब्स्ट्रैक्ट) अस्तित्वों को स्वीकार करने का औचित्य पूछ रहा है, अतः उसके 'समानता' पद को भाववाची कहना तब तक अयुक्त है जब तक आप सामान्यों के अस्तित्व को स्वीकार करने का औचित्य इस से स्वतन्त्र सिद्ध नहीं कर देते।[९] "दो वस्तुएं रक्त वर्ण हैं तथा अतएव समान हैं" यह अनुभव हमें 'रक्त' तथा 'समान' को

९. प्राइस–थिंकिंग एंड एक्सपीरियेंस, पृ० १९-२३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपरिभाषित विधेय स्वीकार करने के लिये औचित्य प्रदान करता है। हम 'समानता' को इन तथा इसी प्रकार के अन्य दृष्ट उदाहरणों से ऊपर तथा पृथक् स्वीकार करने को वाध्य नहीं हैं।

किन्तु विशिष्टतावाद का पक्ष अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया गया है और अनेक वार यह दोषपूर्ण है तथा सामान्यवाद की आपत्तियों का उत्तर देने में असमर्थ है। इस प्रसंग में स्टाउट[१०] की युक्तियों का विश्लेषण स्थाने होगा, विशेषतः इस लिये क्योंकि मूर ने[११] इनके खण्डन का प्रयास किया है और हमें वह असंतोषजनक प्रतीत होता है। स्टाउट के अनुसार –: "प्रत्येक वस्तु के ज्ञान का विषय होने के लिये यह आवश्यक है कि उसका कोई विधेय हो, अथवा कहें, वह किसी गुण द्वारा विशिष्ट हो।

"प्रत्येक वस्तु स्थानित(लोकेलाइज्ड)है,और वस्तु अपने गुणों से स्वतन्त्र कुछ नहीं है, अतः गुणों का स्थानित होना आवश्यक है,क्योंकि यह आवश्यक है कि ये स्थानित होने के गुण में भाग लें।

"अतः जिस प्रकार पृथक् स्थानित होने से प्रत्येक गेन्द पृथक् है उसी प्रकार उनकी गोलाई का पृथक् होना भी आवश्यक है। हम गुणों को पृथक पृथक् नहीं पहिचान सकते यदि हम उनके गुणों को परस्पर पृथक् नहीं देखते।" वे गेन्द के प्रसंग में कहते हैं कि वस्तु को विशेषित करने वाला गुण उतना ही व्यष्टि(इन्डीविडुअल)है जितनी विशेषित होने वाली वस्तु।"[१२]

किन्तु ये तर्क जितने ठोस प्रतीत होते हैं वैसे ये वास्तव में नहीं हैं। हमारे विचार में ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से यह एक स्वीकृत तथ्य है कि एक "सद्यः अनुभव" मौलिक घटना है। इस घटना को हम '$ग_1$(अ)' के द्वारा व्यक्त करते हैं जहां 'ग' एक विशिष्ट गन्ध, वर्ण अथवा स्वर का वाचक है। अब इस घटना को देश–युक्त अथवा काल–युक्त कहने का क्या अभिप्राय है? एक रक्त वर्ण संस्थान, एक स्वर-लहरी अथवा एक गन्ध–संवेद किस अर्थ में पूर्व अथवा पश्चात् तथा दायें अथवा वायें है? ये विशेषण यहां उतने ही अयुक्त हैं जितने 'वर्ण गन्धयुक्त है' अथवा 'गन्ध स्वरित है' अयुक्त हैं। दो गेन्दों को लें, 'दो गेन्दें परस्पर दायें–बायें हैं', और 'दो गेन्दें गोल हैं' परस्पर उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने 'गेन्द गोल है' तथा 'गेन्द उछलती है' परस्पर अप्रासंगिक हैं, जबकि गेन्द शब्द यहां विशिष्ट का वाचक है न कि भौतिक विषय का। अतः देश–कालिक स्थानितता सामान्यों के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है। और अब हम इस स्थिति से स्टाउट के चतुर्थ मोर्चे पर सफल आक्रमण कर सकते हैं:

१० स्टडीज़ इन फिलोसोफी एंड साइकोलोजी, पृ० ३८४–३६४।

११ प्रोसीडिंग्ज़ आफ अरिस्टोटेलियन सोसाईटी, सप्ली. वोल्यूम III. १२ वहीं पृ० ३८३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

'अविशेष्यों की अभिन्नता' (आइडेंटिटी आफ इंडिस्सर्नीवल्ज़) सामान्यों के सिद्धान्त के विरुद्ध कोई गारंटी नहीं है, वास्तव में यह इस का समर्थक सिद्धांत है। उदाहरणतः दो रक्त-वर्ण विन्दुओं को लें। हम जवकि यह कह सकते हैं कि ये परस्पर भिन्न हैं क्योंकि ये भिन्नतया स्थानित हैं, हम यह नहीं कह सकते कि ये वर्ण में भी भिन्न हैं।- अब मान लीजिये दो रक्त संस्थान सब गुणों में समान हैं। तब स्टाउट कहेंगे कि उस अवस्था में वे एक ही वस्तु की दो संज्ञाएं हैं, क्योंकि "यदि 'अ=आ' सत्य है तो 'अ=आ' सत्य है" यह केवल पुनरुक्ति है। किन्तु इस प्रकार वास्तव स्टाउट सामान्यों के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं, यदि विशिष्ट के लिये उनकी कसौटी केवल विशिष्ट स्थानितता ही है तो। क्योंकि यदि स्थान-अभिन्नता अन्य गुणां के अभिन्न होने पर अभिन्नता को लागू करती है और स्थानित होना केवल एक गुण है, तो स्थान भिन्नता केवल स्थान भिन्नता को लागू करती है न कि वर्ण-भिन्नता अथवा आकार-भिन्नता को भी लागू करती है। इस तर्क के थोड़ा और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। दो वस्तुओं को लें, जिनके गुण क्रमशः $र_1$ $स_1$ $ग_1$ $द_1$ तथा $र_1$ $स_1$ $ग_1$ $द_2$ हैं, जवकि र वर्ण विशेष, स स्वाद विशेष, ग गन्ध विशेष तथा द देश विशेष के वाचक है। इसी प्रकार दो अन्य वस्तुओं को लें जिनके गुण क्रमशः $र_1$ $स_1$ $ग_1$ $द_1$ और $र_2$ $स_1$ $ग_1$ $द_1$ हैं। (इन में १--२ आदि संकेत विशिष्टता के द्योतक हैं। इस प्रकार, प्रथम युगल में स्थान भेद है जो $द_1$ तथा $द_2$ द्वारा प्रदर्शित है तथा दूसरे है वर्ण भेद $र_1$ तथा $र_2$ द्वारा प्रदर्शित है।) अब प्रथम युगल को स्टाउट दो वस्तुएं कहना चाहेंगे क्योंकि इन में देश-काल वाचक प्रतीक द के मूल्य भिन्न हैं। किन्तु दूसरे युगल के संबंध में वे कहेंगे कि ऐसा कोई युगल नहीं है, क्योंकि या तो केवल प्रथम वस्तु ही हो सकती है अथवा दूसरी वस्तु ही हो सकती है—ऐसी कोई दो वस्तुएं नहीं हो सकतीं जिन के देश-काल अभिन्न हों किन्तु वर्ण भिन्न हों। इसी प्रकार अन्य सब गुणों के लिये भी। किन्तु इस से लागू होता है कि यदि देश-काल गुण है तो इस की भिन्नता अन्य गुणों की भिन्नता को लागू नहीं करती, अथवा देश-काल गुण ही नहीं है, अथवा कम से कम भिन्न प्रकार का गुण है। दूसरे शब्दों में, या तो 'कुछ रक्त (अथवा स्वरित आदि) है' अनिवार्यतः (तर्कतः) लागू करता है कि 'यह सीमित देश-काल में है',और इस प्रकार 'कुछ सीमित देश-काल में भिन्नतया स्थानित है' तर्कतः लागू करता है कि 'वह दो व्यष्टियां हैं, एक नहीं,' अन्यथा 'कुछ स्थानित है' उसी प्रकार का वाक्य है जिस प्रकार का 'रक्त तथा स्वरित सहावस्थित हैं' वाक्य। प्रथम स्थापना स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं—: 'भिन्नतया स्थानित होने' का क्या अभिप्राय है? 'एक स्थान' का क्या अर्थ है? गेन्द एक स्थान पर कैसे है? उस को अनेक स्थानों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समवाय क्यों नहीं माना जाय ? आदि अनेक प्रश्न यहां प्रासंगिक हैं।

इस प्रकार स्टाउट का विशिष्टों संबंधी तर्क खण्डित हो जाता है और इस प्रकार विशिष्टों संबंधी वे सब तर्क खण्डित हो जाते हैं जो स्थान वैशिष्ट्य को अपना आधार बना कर चलते हैं।

यहां यह तर्क किया जा सकता है कि 'वर्णस्थान को लागू करता है', इस अर्थ में कि यह असम्भव है कि वर्ण-स्थान के विना हो। अतः यह लागू करता है कि दो भिन्न स्थान दो भिन्न वर्णों से अध्युषित हैं, चाहे वे वर्ण संवेद्यरूप से कितने भी अभिन्न क्यों न हों।

सर्वप्रथम, यह तर्क आधारतः भ्रान्त है, क्योंकि यदि 'वर्ण स्थान को लागू करता है' यह वाक्य तर्कतः तथा विश्लेषणात्मकतया (एनेलिटीकली) सत्य है तो भी इससे यह लागू नहीं होता कि एक वर्ण दो स्थानों पर नहीं हो सकता। यही कारण है कि मूर जबकि 'वर्ण स्थान को तर्कतः लागू करता है' की स्थिति स्वीकार करते हैं. वे दूसरी स्थिति स्वीकार नहीं करते। एक वर्ण-संस्थान को लें। यह आवश्यक है कि इसका कुछ विस्तार होगा। अब हम इसमें दो विन्दुओं की कल्पना कर सकते हैं। उस अवस्था में यह एक स्थान दो स्थानों में विभक्त हो जायगा। तब हम यह नहीं कह सकते कि क्योंकि एक वर्ण-विन्दु दो वर्ण विन्दुओं में विभक्त हो गया है अतः यह दो वर्णों से अध्युषित है। इस के विरुद्ध दूसरा तर्क है कि सब गुण अनिवार्यतः स्थान में नहीं होते, कम से कम सब गुणों के साथ स्थान का निर्देश उसी प्रकार प्रासंगिक नहीं दीखता जिस प्रकार वर्ण के साथ दीखता है। जैसे यह कहना एकदम अनुचित प्रतीत होता है कि एक स्वाद को दूसरे स्वाद के दायें कहा जाय। इस प्रकार, यदि वर्ण स्थान को लागू करता भी है तो भी यह सामान्यों के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है।

२

हम अपने विवेचनों में परिचय-सिद्धान्त को आधारभूत मान कर चलते हैं, जिसका प्रस्थान-विन्दु(स्टार्टिंग प्वाइंट)यह है कि हमारी भाषा के मूल तथा अपरिभाषेय पद अपरोक्ष अनुभव से प्राप्त हैं, अथवा, जैसाकि इससे लागू होता है, ये हमारे सद्यः अनुभव में पूर्ण प्रस्तुत के वाचक हैं। इसके अनुसार '$र_1$ (अ)' हमारी भाषा का मूलवाक्य है और यह हमारे सद्यः में पूर्ण प्रस्तुत का वाचक है। इस स्थापना को शायद वे सब स्वीकार करेंगे जो अनुभववाद के किसी भी रूप को स्वीकार करते हैं। वाक्य के इस उद्देश्य-विधेयात्मक रूप की शायद अनेक व्याख्यायें हो सकती हैं। पूर्ण विशिष्टतावादी शायद स्वीकार करेंगे कि 'अ' जिस विशिष्ट का वाचक है '$र_1$' उसे विशेषित करता है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे अधिक कुछ विशेषित नहीं करता। दूसरे विशिष्टतावादी '$र_1$' को जबकि सद्यः में पूर्णतः प्रस्तुत स्वीकार करेंगे, इसे वे पूर्णतः निहित (व्होली कंटेंड) स्वीकार नहीं करेंगे। इन दो प्रयोगों में भेद समझ लेना आवश्यक है। पूर्णतः प्रस्तुत से अभिप्राय है कि जबकि रक्त का एक उदाहरण हमारे सद्यः अनुभव में घटित हो रहा है, जिसे '(अ)' उदाहरित करता है, '$र_1$' के अन्य उदाहरण घटित हो सकते हैं जो इस उदाहरण से स्वतंत्र हैं। इसके विपरीत, पूर्णतः सन्निहित के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अभिप्राय है कि 'यह अनुभव' एक पूर्ण विशिष्ट है तथा '$र_1$' एक विशिष्ट का वाचक है। प्रथम मतावलम्बियों के अनुसार, जबकि '$र_1$' पूर्णतः प्रस्तुत है, यह पूर्णतः सन्निहित नहीं है, क्योंकि '$र_1$' सामान्य है। दूसरे शब्दों में, दूसरी श्रेणी के दार्शनिक पूर्णतः प्रस्तुत तथा पूर्णतः सन्निहित को समानार्थक मानते हैं। अब इन दूसरे मतावलम्बियों के अनुसार '$र_1$(अ)' का क्या अर्थ हो सकता है ? '(अ)' किस का वाचक है ? वास्तव में यह किसी का वाचक नहीं है, क्योंकि इनके अनुसार स्वयं '$र_1$' यहां पूर्णतः विशिष्ट है और अतएव स्वयं विद्यमान है। क्योंकि इनकी भाषा में '$र_1$' की विद्यमानता अथवा प्रस्तुतता स्वयं विशिष्ट है, अतः वैशिष्ट्य के द्योतन के लिये अन्य किसी पद की आवश्यकता नहीं है। अथवा आप कह सकते हैं, यहां '$र_1$' अनावश्यक है क्योंकि '(अ)' ही यहां सब कुछ है, '$र_1$' का प्रयोग भ्रामक हो सकता है। इस प्रकार, उद्देश्य-विधेय का प्रयोग पूर्णतः सन्निहित तथा पूर्णतः प्रस्तुत के भेद को पूर्वकल्पित करता है। परिचय-सिद्धान्त की तथा इसकी पूर्वकल्पनाओं का संयुक्त परिणाम होगा कि '(अ)' जबकि पूर्ण प्रस्तुत का वाचक है, अथवा, परिचय की सम्पूर्ण घटना जबकि एक विशिष्ट है, यह एक विशिष्टातीत को उदाहरित करता है। किन्तु परिचय-सिद्धान्त की शब्दावली में 'विशिष्टातीत' को क्या अर्थ दिया जा सकता है ? आलंकारिक भाषा में—'क्या ये विशिष्ट विशिष्टातीत के असीम सागर में तरंगों के समान हैं ?' किन्तु यह परिचय सिद्धान्त की जड़ पर ही आघात होगा। हम केवल तरंगों को ही जानते हैं, सागर हमारे परिचय की सीमा से बाहर कुछ है। यदि हम परिचय की सीमा से बाहर कुछ मानने को वाध्य हैं तो परिचय-सिद्धान्त का भवन गिर जायगा। हमारे विचार में, सामान्यों के अस्तित्व का निषेध इसी कारण से किया गया है।

यही कारण वर्गों (क्लासिस) के अस्तित्व के निषेध का भी है। बहुत से दार्शनिक तो विधेयों को भी वर्ग ही मानते हैं। एक टोकरे में कुछ सेब लें। तर्क के लिये, मान लें कि सेब व्यष्टियां हैं और मेरे टोकरे के सेबों के नाम, जो सीमित संख्या में हैं, राम, श्याम, मोहन आदि हैं। अब यहां विधेय है राम, अथवा श्याम, अथवा मोहन के साथ समानता होना। इसकी विशेषता दो प्रकार से कही जा सकती है। प्रथम, कि इसमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केवल संज्ञायें घटित होती हैं, कोई निरूपण-पद (डिस्क्रिप्टिव साइन) नहीं, विशेषतः कोई निरूपणात्मक विधेय नहीं। दूसरे, संज्ञाओं के प्राप्त होने पर इसका निर्माण केवल तार्किक पदों ('और', 'अथवा', 'लागू करता है' आदि) से ही किया जा सकता है। अब यदि हम चाहें तो भाषीय टोकरे में नैपोलियन, चाँद, ओलाफ (मेरी मृत बिल्ली) को एकत्र कर सकते हैं।तो अब कोई ऐसा विधेय नहीं है, सिवाय ऐसे कुछ विचित्र विधेयों के, जिसके विस्तार (एक्सटेंशंज़) ये तीन हैं। क्योंकि, "एक साथ वर्णन किया जाना" वर्णित विषयों का कोई गुण नहीं है। मेरे विचार में, वर्गों के अस्तित्व को अस्वीकार करने के पीछे यही धारणा है।"१३

वर्गों के रूप को समझने के लिये उपर्युक्त उद्धरण सुन्दरतम है। यह स्थापित करता है कि गुणवाचक विधेय तथा वर्गवाचक विधेय भिन्न-भिन्न हैं। और वास्तव में यह वर्गों के "अस्तित्व" को स्वीकार करने के विरुद्ध कारण भी स्पष्टतः स्थापित करता है, क्योंकि नैपोलियन, चाँद तथा ओलाफ केवल एक साथ वर्णित होने से ही एक वर्ग का निर्माण करते हैं। किन्तु वर्गमान गुणों को सास्तित्व स्वीकार करते हैं। रसल ने तर्कवाक्यीय व्यापारों (प्रोपोज़ीशनल फंक्शंज़) के द्वारा वर्गों की परिभाषा दी है। तर्क-वाक्यीय व्यापार (प्रोपोज़ीशनल फंक्शन) 'म (य)' तथा 'त (य)' को लें, जहां प्रथम का सामान्य भाषा में रूपान्तरण होगा 'य मनुष्य है' तथा दूसरे का रूपान्तरण होगा 'य तर्क-शील है'। अब यदि इन दोनों तर्कवाक्यीय व्यापारों का विस्तार (एक्स्टेंशन) एक ही है तो ये एक ही वर्ग को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, 'म (य)' एक वर्ग का निर्धारण करता है। अब जबकि 'म (अ)'-अर्थात्, 'राम मनुष्य है' तथा 'त (अ)' अर्थात् 'राम तर्कशील है' असन्दिग्धतया अस्तित्व के वाचक हैं, 'म (य)' किसी अस्तित्व का विधान नहीं करता। किन्तु क्वाइन के अनुसार, "प्रोपोज़ीशनल फंक्शंज़ (तर्कवाक्यीय व्यापारों-के द्वारा 'वर्गों' के अपसारण का यह प्रयास व्यर्थ है। रसल की प्रविधि वर्गों का निराकरण तो करती है किन्तु उतनी ही एब्स्ट्रेक्ट तथा सामान्य वस्तुओं-तर्कवाक्यीय व्यापारों, को स्वीकार करके यह उसी प्रकार के अन्य अस्तित्वों को मान लेती है। प्रिन्किपिया मैथेमैटिका में तर्कवाक्यीय व्यापारों का प्रयोग कुछ अस्पष्ट रूप से हुआ है, कभी इसका अर्थ खुला वाक्य (ओपन सेंटेंस) है और कभी इसका अर्थ विशेषण (एट्रीब्यूट) है। रसल का वर्गों के अनस्तित्व का सिद्धान्त तर्कवाक्यीय व्यापारों को इस दूसरे अर्थ में, बन्द अनिश्चितों (बाउंड वेरियेबल्ज़) के मूल्यों के रूप में, प्रयुक्त करता है, अतः इस सिद्धान्त के द्वारा कुछ सामान्यों के अन्य सामान्यों में विघटन के अतिरिक्त कुछ उपलब्ध नहीं

१३. गस्टाव बर्गमान-मैटाफिज़ीक्स आफ लोजीकल पोज़िटिविज़्म, पृ० १२४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता ।"[१४]

किन्तु यदि हम तर्कवाक्यीय व्यापारों को केवल खुले वाक्यों के रूप में प्रयुक्त करते हैं तब सम्भवतः यह भय समाप्त हो जाता है, जैसा कि क्वाइन ने स्वयं अन्यत्र प्रतिपादित किया है [१५]:—जैसे 'य मनुष्य है', अथवा 'य बुद्धिमान है' में । इसी अर्थ में वास्तव में हमने पीछे रसल के तर्कवाक्यीय व्यापारों को स्वीकार किया है । इसे क्वाइन के अनुसार और भी निश्चितता दी जा सकती है । उनके अनुसार 'य मनुष्य है' में दो भाग हैं, एक 'य' और दूसरा '० मनुष्य है' । द्वितीय भाग एक अविश्लेष्य इकाई है और 'मनुष्य' शब्द उसी प्रकार इसका भाग है जिस प्रकार 'ष्य' 'मनुष्य' का भाग है। इस प्रकार, '(?) मनुष्य है' अनिवार्यतः किसी के विधेय के रूप में ही प्रयुक्त हो सकता है, स्वतन्त्र नहीं । 'य' के अनिश्चित (वेरियेबल) होने पर यह वाक्य केवल एक ढांचा रह जाता है जो रंग भरने के लिये प्रस्तुत है; जब तक इसे कोई मूल्य नहीं दिया जाता तब तक यह किसी सत्य मूल्य से रहित है । इसे कोई मूल्य देने पर ही वाक्य सत्य अथवा असत्य बनता है । जैसे 'य मनुष्य है' में 'य' को 'राम' द्वारा स्थानान्तरित करने पर वाक्य सत्य है किन्तु 'गंगा' मूल्य देने पर यह असत्य है । अब 'य' को हम ऐसा ही मूल्य दे सकते हैं जो संज्ञा हो, अन्यथा यह निरर्थक है, अथवा कहें, ग़लत वाक्य-रचना है । उदाहरणतः, हम यह नहीं कह सकते 'हरिण मनुष्य है' क्योंकि 'हरिण' स्वयं उसी तार्किक प्रकार (लोजीकल टाइप) का पद है और यह वाक्य में केवल उसी स्थान पर प्रयुक्त होता है जहां 'मनुष्य' पद का प्रयोग हुआ है । तर्कवाक्यीय व्यापारों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इन का विधेय--पद निश्चित (कांस्टेंट) हो, हम विशुद्धरूप से अनिश्चितां का प्रयोग भी कर सकते हैं, उदाहरणतः 'ग (य)' ठीक रचना है और इसका रूपान्तरण होगा— 'य ग है', अथवा 'कुछ किसी गुण-विशिष्ट है' । अब इस वाक्य का सत्य मूल्य इन दोनों अनिश्चितां को संगत मूल्य देने पर निर्भर करता है ।

खुले वाक्यों की यह योजना इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि प्रत्येक सार्थक सरल वाक्य में कम से कम एक उद्देश्य घटित होगा । उद्देश्य पद अथवा विशिष्ट जबकि किसी अस्तित्व, किसी स्थूल का वाचक है, विधेय किसी अस्तित्व का वाचक नहीं है। यह केवल उद्देश्य का वर्गीकरण करता है ।[१६] अब अकेला उद्देश्य पद

१४ फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू, पृ० १२२-२३।

१५ मैथड्ज़ आफ लोजिक, पृ० २०५-६।

१६ हमारे ये विधान आनुभविक क्षेत्र से संबंधित हैं, तार्किक पुनरुक्तियों से नहीं । अतः तर्कशास्त्र के इस थ्योरम [(Ǝ व) (ग (य) V ~ ग (य)] सम्बन्धी विवाद से हमारी स्थापना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां निरर्थक है, 'राम' का अकेले कुछ अर्थ नहीं है जब तक कि यह पूरे वाक्य का अंग नहीं है। उदाहरणतः यह वाक्य उचित नहीं होगा '(ꗃ य) य=राम', अर्थात् 'कुछ राम से अभिन्न है'। इसी प्रकार यह भी गलत है '(ꗃ ग) ग=रक्त' अर्थात् 'कम से कम एक वस्तु रक्तता से अभिन्न है।'

किन्तु जबकि 'मनुष्य' अथवा 'रक्त' अनिवार्यतः विधेय ही हो सकते हैं,हम इनसे ऐसे पद भी बना सकते हैं जो उद्देश्य हो सकें, उदाहरणतः 'मनुष्यता' तथा 'रक्तता' आदि पद उद्देश्यों के समान प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे 'मनुष्यता मरणशील है' तथा 'रक्तता नीलिमा से भिन्न है', इसी प्रकार,'बुद्धिमत्ता बड़ा गुण है'।

अब, 'मनुष्यता', 'रकतता', नीलिमा' तथा 'बुद्धिमत्ता' पद इन वाक्यों में उद्देश्य हैं और अतएव संज्ञाएं हैं—ये किन्हीं एब्स्ट्रेक्ट वस्तुओं को इंगित करती प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तव में ये एब्स्ट्रेक्ट वस्तुएं क्या हैं? क्या केवल संज्ञाएं होने से ही किसी वस्तु का होना आवश्यक हो जाता है? तब तो हमारा संसार असंख्य नवीन वस्तुओं से भर जायगा। तब न केवल 'मनुष्यता' और 'रक्तता' संज्ञक वस्तुएं ही होंगी प्रत्युत 'अनेकता', 'असंख्यकता' आदि संज्ञक वस्तुएं भी अस्तित्व के क्षेत्र में भीड़ लगा देंगी। किन्तु सौभाग्यवश आज हम ऐसी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं।

हमारी अस्तित्वमीमांसा (ओन्टोलोजी) हमारी दार्शनिक प्रविधि के आधारभूत सिद्धांतों से, अथवा कहें, हमारी अवधारणाओं के ढांचे से, निर्धारित होती है। हम किन वस्तुओं को अस्तित्व के क्षेत्र में स्वीकार करना चाहते हैं और किन अन्य को केवल कल्पनायें अथवा रचनायें मानना चाहते हैं, यह हमारे आधारभूत दार्शनिक सिद्धांत पर आधारित है। हमारी दार्शनिक भाषा के अपरिभाषेय पद तथा संज्ञायें केवल ऐसी ही वस्तुओं को इंगित करते हैं जिन्हें हमारी दर्शन प्रणाली हमारे विश्व की रचना में स्थान देती है।प्लेटो का संसार हमारे संसार से भिन्न था,क्योंकि उसमें ऐसी वस्तुएं रह सकती थीं जिन्हें हमारे विश्व की रचना में कोई स्थान नहीं है —'रक्त','वर्ण', मानवता'आदि पद वास्तव अस्तित्वों की संज्ञायें थीं। अन्य दार्शनिकों के संसार में असंख्य सम्भाव्य तथा कल्पित अस्तित्व उचित तथा स्वीकृत अस्तित्व थे। उनके अनुसार, 'विधुशेखर नीलकण्ठ है' क्योंकि वाक्य है अतः अवश्य कोई नीलकण्ठ विधुशेखर भी है, अथवा क्योंकि 'विधुशेखर' सत्य वाक्यों में घटित हो सकता है,इस लिये कोई "विधुशेखर" है। उदाहरणतः [(विधुशेखर नील कंठ है) असत्य है]' वाक्य सत्य है अतः विधुशेखर का अस्तित्व है, यद्यपि यह अस्तित्व हमारे विचार में है, अथवा कुछ अन्य के अनुसार, सम्भावना में है। अब, जहां तक विचार में होने का सम्बन्ध है, यह "होना" उसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार से नहीं है जिस प्रकार से कमरे में होना "होना" है। विचार निश्चित रूप से तथ्य है, अथवा कहें "है";किन्तु विचार, अथवा कहें, विचार की उपज,विचार से स्वतन्त्र कुछ नहीं है, जिस प्रकार कि मेरे मित्र के विचार से मेरा मित्र स्वतंत्र है। 'विधुशेखर का विचार' तथा 'एक निरूपण को सन्तुष्ट करने वाला विधुशेखर' निश्चितरूप से दो पृथक् तथ्यों के वाचक हैं। जैसाकि रसल ने निरूपणों के सिद्धांत द्वारा दिखाया है,[१७] सब प्रतीयमान संज्ञाएं वास्तव में संज्ञायें नहीं हैं, ये निरूपण पद हैं। इस सिद्धांतानुसार उपर्युक्त वाक्य का रूपान्तरण इस प्रकार कर दिया जायगा--'एक और केवल एक वस्तु विधुशेखर और नीलकण्ठ है' ...... आदि। इस वाक्य में विधुशेखर केवल एक विधेय है, उसी प्रकार जिस प्रकार नीलकण्ठ, और अब यह केवल सत्य वाक्य में प्रयुक्त होने से किसी अस्तित्व का वाचक नहीं है क्योंकि इसका व्यापारक (ओपरेटर), 'एक और केवल एक वस्तु ......है',जो वास्तव में किसी अस्तित्व का विधान करता है, निरूपणात्मक नहीं है। यह केवल 'न —(प्रत्येक वस्तु इस प्रकार की नहीं है)' का तार्किक बाध मात्र है। इसी प्रकार उपर्युक्त का निषेध वाक्य, जिसकी सत्यता के द्वारा 'विधुशेखर' संज्ञक वस्तु का अस्तित्व स्थापित किया जाता है, इस प्रकार रूपान्तरित हो जायगा 'या तो प्रत्येक वस्तु विधुशेखर नहीं है अथवा दो या दो से अधिक वस्तुएं विधुशेखर हैं'। इस प्रकार ये तथाकथित संज्ञायें हमारी दर्शन की भाषा से बहिष्कृत कर दी गयीं।

निरूपणों का सिद्धांत यद्यपि संज्ञाओं और अस्तित्वों के संबंध में अन्तिम निर्णय नहीं देता, किन्तु यह एक बड़ा साधन है जिस के द्वारा हम अनेक भ्रमों से बच सकते हैं। उदाहरणतः 'मानवता ने दर्शन को जन्म दिया है' का रूपान्तरण होगा 'एक और केवल एक वस्तु दर्शन की जनक तथा मानवता से अभिन्न है, अन्यथा या तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो दर्शन की जनक तथा मानवता से अभिन्न है, अथवा कम से कम दो वस्तुएं दर्शन की जनक तथा मानवता से अभिन्न हैं।' अब यहां 'मानवता' पद संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसी लिये यह वाक्य ठीक प्रकार से रचित वाक्य नहीं है,क्योंकि 'एक और केवल एक' तथा 'कम से कम दो' प्रयोग 'मानवता' के साथ उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार,हमारे विचार में भाववाचक संज्ञाओं का निश्चित निरूपणों में उपयोग उचित नहीं है।

अब, कोई पद निरूपणात्मक किस प्रकार हैं! यह एक महत्वपूर्ण तथा आधारभूत

१७ द्रष्टव्य रसल-लोजिक एंड नोलिज में-ओन डिनोटिंग',प्रिंकिपिया तथा इंट्रोडक्शन टू मैथेमैटीकल फिलासफी में — 'थीयरी आफ डिस्क्रिप्शंज़', तथा क्वाइन के 'फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू में — 'ओन व्हाट देयर इज़' और "मैथड्ज़ आफ लोजिक' में पृ० १६६ से २५२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रश्न है। अनुभववाद का उत्तर है कि केवल वही पद उचितरूप से निरूपणात्मक पद हैं जो हमारे किसी अनुभव से प्रमाणित अथवा अप्रमाणित होते हैं किन्तु जो संकेतात्मक नहीं हैं। संकेतात्मक पद (ओस्टेंसिव टर्म्ज़) संज्ञायें हैं तथा अविश्लेष्य विशिष्ट हैं। ये इस अर्थ में संज्ञायें हैं कि ये उन तथ्यों के वाचक हैं जो संकेत द्वारा बोध्य हैं। अथवा कहें, उन तथ्यों के वाचक हैं जो "यह" हैं, कोई अन्य पद उनका बोध नहीं करा सकता और न इन का विश्लेषण अथवा निरूपण सम्भव है। अन्य पदों के साथ इनका सम्बन्ध निर्धार्य-निर्धारित का है, जैसे 'ग (य)' तर्कवाक्यीय व्यापार (प्रापोज़ीशनल फंक्शन) निर्धार्य तथा '$र_1$ (अ)' निर्धारित वाक्य है। इस सिद्धांत के अनुसार, 'यह रक्त है' मूल वाक्य है, 'रक्त वर्ण है' मूल वाक्य नहीं है और न 'रक्तता आकार को लागू करती है' मूल वाक्य है। निरूपण-वाक्य अतीत मूल वाक्यों से अर्थ ग्रहण करते हैं तथा भावी मूल वाक्यों से सत्य मूल्य ग्रहण करते हैं। अन्तिम दो वाक्यों के सम्बन्ध में हम अभी आगे विचार करेंगे। यहां प्रो० क्वाइन के प्रतिपादन पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

हमने पीछे प्रो० क्वाइन की व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को विधेयों में रूपान्तरित करने की विधि का उल्लेख किया था और कहा था कि यह मूलवाक्यों के अतिरिक्त शेष वाक्यों में व्यवहार्य है,जैसे'एक और केव। एक वस्तु ट्रूमन तथा राजनीतिज्ञ है'......आदि। किन्तु प्रो० क्वाइन इस विधि को मूलवाक्यों के लिये भी उचित मानते हैं। उन के अनुसार—"हम मान सकते हैं कि जो संकेत द्वारा वोध्य (ओस्टेंसिवली लर्टे)है, अथवा प्रत्यक्षतया उपलब्ध हुआ है, उसके व्यंजक पद भी संज्ञाएं नहीं हैं, प्रत्युत मात्र विधेय हैं। यह आग्रह हम ज्ञानमीमांसा को कोई हानि पहुँचाये बिना भी कर सकते हैं, क्योंकि हम ज्ञानमीमांसा द्वारा किन्हीं भी शब्दों के प्रयोग स्वीकार कर सकते हैं जो इस संकेत की (अथवा साम्मुख्य की) स्थिति के व्यक्तीकरण के लिये आवश्यक हों, हम केवल उस का वाक्य में विभाजन (पार्सिंग)भिन्न प्रकार से करते हैं। संकेत द्वारा शिक्षित पद को संकेतित की संज्ञा स्वीकार करने के बजाय हम इसे संकेतित को अनन्यरूप से (यूनीकली) व्यक्त करने वाला विधेय स्वीकार करेंगे, जो केवल संकेतित विषय के लिये ही प्रयुक्त हो सकता है। और तब हम संज्ञा की रचना इस प्रकार करेंगे—: '(7य) ग य' जहां 'ग' अपरिभाषेय विधेय है।"[१८]

उपर्युद्धृत रूपान्तरित संज्ञा को सामान्य भाषा में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—'कोई वस्तु य ग है' अथवा 'एक और केवल एक वस्तु यह-रक्त है'। 'यह-रक्त' हमने विधेय को अनन्यरूप से सम्बद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया है। आशा है, क्वाइन को

१८ क्वाइन—मैथड्ज़ आफ लोजिक, पृ० २१८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह अनुवाद मान्य होगा। अब यह समझना कठिन है कि क्वाइन इस प्रक्रिया से विशिष्टता की रक्षा किस प्रकार कर सकते हैं। प्रथम, जैसाकि प्रो० एयर ने आपत्ति की है, "यह हमें सर्वनामों से मुक्त नहीं कर सकता, और न, हमारे विचार में, यह हमारे व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सामान्य भाषा में प्रयोग को उचितरूप से रूपान्तरित करता है। क्योंकि यदि 'ट्रूमन होने' का विधेय अनन्यरूप से भी उदाहरित होता है तो भी यह केवल आकस्मिक है कि यह उदाहरित होता है। हमें इस सम्भावना को स्थान देना होगा कि कोई वस्तु 'ट्रूमनित नहीं होती' अथवा 'एक से अधिक वस्तुएं ट्रूमनित होती हैं'। और इनमें से किसी भी अवस्था में हम इस व्याख्या के आधार पर यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि वे सब प्रकथन, जो हम ट्रूमन के सम्बन्ध में प्रकथित करते हैं, असत्य हैं।"[१६] उपर्युक्त आपत्ति व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सामान्य प्रयोग को ध्यान में रख कर की गयी है, किन्तु यह और भी अधिक उस दृष्टि से सत्य है जिसको अपनी अवधारणाओं के ढांचे का आधार स्वीकार कर हम चल रहे हैं, वह है परिचय-सिद्धान्त। इस सिद्धान्त की दृष्टि से क्वाइन का उपर्युक्त उद्धरण और भी दोषपूर्ण हो जाता है। वास्तव में एयर ने क्वाइन के 'ओन व्हाट देयर इज़' में प्रतिपादित विधि पर आक्षेप किया है, जबकि उपर्युक्त उद्धरण अन्य पुस्तक से है। यह सीधे हमारी समस्या से सम्बन्धित है। क्वाइन परिचय सिद्धान्त को अस्वीकार करते प्रतीत नहीं होते, वे केवल परिचय सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत संज्ञाओं को निरूपण पदों में विघटित करना चाहते हैं और ऐसा करने का उद्देश्य है तर्कशात्र में सरलता लाना। किन्तु जैसाकि हम देखेंगे, संकेतात्मक संज्ञाओं में यह संभव नहीं है।

हम 'यह रक्त है' में 'रक्त' को भी विशिष्ट मानते हैं क्योंकि यह पद 'यह' (संकेत-पद) द्वारा एक ऐसी वस्तु–स्थिति का व्यंजक है जो केवल देखी गयी है। यह सिद्धान्ततः ऐसी स्थिति है जो भ्रान्ति की सम्भावना से परे है, जिससे शब्द अर्थ ग्रहण करते हैं। 'एक और केवल एक वस्तु इस–इस प्रकार की है' में अनिवार्यतः अनिश्चित पद (वेरि–येबल) घटित होता है और अनिश्चित पद सिवाय एक ढांचे के कुछ विधान नहीं करता, यह अर्थवान केवल उचित विधेय से स्थानान्तरित होने पर होता है और सत्य केवल उचित विशिष्ट के घटित होने पर होता है। अतः जबतक हम 'यह $ग_1$ द्वारा विशेषित है' का प्रयोग नहीं करते, जहां '$ग_1$' अपरिभाषित विधेय है और बन्द व्यष्टि संज्ञा (सिंगुलर टर्म) 'यह' द्वारा निर्धारित है, हम ऐसे वाक्यों को कोई अर्थ नहीं दे सकते जिनमें सिंगुलर टर्म घटित नहीं होती। वास्तव में क्वाइन का यह प्रतिपादन इतना विचित्र है कि वे इसमें स्वयं उलझे प्रतीत होते हैं। वे संकेत-संज्ञाओं (अथवा प्रदर्शित के वाचक पदों) का

१६. एयर-इंडीविडुअल्ज़-माइंड १६५२, पृ० ४५४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपसारण जिन विधेयों द्वारा करना चाहते हैं उनके सम्बन्ध में यह भी कहते हैं कि वे विधेय अनन्यरूप से प्रदर्शित के प्रसंग से ही सत्य हैं, इस प्रकार वे 'यह' पद से मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वाक्यीय व्यापारक (य7) प्रदर्शित के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता।

यहां थोड़ी देर के लिये इस चर्चा को स्थगित कर हम 'रक्त वर्ण है'–'व (र)' तथा 'मनुष्यता पीड़ित है' '(य) व (य) ⊃ आक (य)' वाक्यों के स्वरूप पर विचार करेंगे। यह समस्या हमारे इस विवेचन से सीधे सम्बन्धित न होने पर भी अपरिभाषित विधेयों के स्वरूप के स्पष्टीकरण में सहायक है, अतः यहां इस पर विचार प्रासंगिक है।

'रक्त वर्ण है' वाक्य में हमारे मूलवाक्यों का विधेय उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है तथा एक अन्य पद-'वर्ण' इसके विधेय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य का रूप और भी स्पष्ट करने के लिये इसे इस प्रकार लिखा जा सकता है–'र (अ). व (र)' अथवा संक्षेप में 'व (रअ)', जिसका साधारण भाषा में अनुवाद होगा–'यह रक्त है–तथा रक्त वर्ण है'। अब 'रक्त' का प्रयोग जबकि 'यह रक्त है' में उचित है, 'यह वर्ण है' में 'वर्ण' का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि 'वर्ण' पद से किसी संवेद्य का संकेत नहीं होता। केवल तार्किक भाषा में, जबकि 'रक्त' पद केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के साथ ही प्रयुक्त हो सकता है, 'वर्ण' पद केवल उन पदों का विधेय ही हो सकता है जो मूलवाक्यों में विधेय होते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में, 'रक्त' प्रथम स्तरीय पद है और 'वर्ण' द्वितीय स्तरीय पद है। इसका एक अन्य प्रमाण भी दिया जा सकता है. जबकि '$र_1$ (अ). ∽ $र_1$ (अ)' अनुचित प्रयोग है, 'वर्ण (र). ∽ वर्ण (र)' आत्मबाधक है। प्रथम का अनुवाद है '$यह_1$ रक्त है' और '$यह_1$ रक्त नहीं है'। किन्तु नियमानुसार एक विशिष्ट का प्रयोग दो वाक्यों में नहीं हो सकता। द्वितीय का अभिप्राय है- 'रक्त वर्ण है तथा रक्त वर्ण नहीं है' यह आत्मबाधक है, किन्तु यह दोषपूर्ण वाक्य रचना नहीं।

दूसरे वाक्य का प्रतीकों में अनुवाद होगा '(य) म (य) ⊃ प (य)' अर्थात् 'प्रत्येक वस्तु, यदि यह मनुष्य है तो यह पीड़ित है'। यहां आपत्ति की जा सकती है कि 'मनुष्यता पीड़ित है' का यह अनुवाद उचित नहीं है, क्योंकि इस वाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य पीड़ित है, इसका अभिप्राय केवल यह है कि (आज कल) अधिकांश लोग दुखी हैं यद्यपि इनमें से कुछ लोग दुखी नहीं भी हो सकते। उस अवस्था में 'मनुष्यता पीड़ित है' उचितरूप से निर्मित वाक्य नहीं है. इस आशय को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है '(∃य) म (य) ⊃ प (य)'–'कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो यदि ये मनुष्य हैं तो ये पीड़ित हैं', अथवा 'सब वस्तुएं ऐसी नहीं हैं कि यदि ये मनुष्य हैं तो ये पीड़ित नहीं हैं।' किन्तु इस वाक्य का कम से कम एक अर्थ और हो सकता है, कि 'कुछ भावनायें ऐसी हैं जिन्हें हम मानवता की भावनाएं कहते हैं, ये भावनायें आज के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(पूंजीवादी, कम्यूनिस्टिक, अथवा वैज्ञानिक, जैसा भी किसी को रुचता हो) युग से पीड़ित हैं। उस अवस्था में इस वाक्य का अर्थ सर्वथा भिन्न हो जाता है और उस अवस्था में इसका अनुवाद होगा—'कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो यदि ये मानवता की भावनायें हैं तो ये त्रस्त हैं'।

यहां रूपान्तरित वाक्यों में प्रयुक्त विधेयों से यह नहीं समझना चाहिये कि ये हमारे मूल अथवा अपरिभाषित विधेय हैं। इस लिये इस रूपान्तरण को केवल स्केच समझना चाहिये। पूर्ण विश्लेषण करने का यहां प्रसंग नहीं है और न आवश्यक रूप से हम कुमिटिड ही हैं कि विश्लेषण सर्वत्र सम्भव मानें। किन्तु उसी सीमा तक ऐसे वाक्यों को तत्वतः अस्पष्ट समझा जायगा।

इस अवान्तर चर्चा के पश्चात् हमें पुनः अपनी पूर्व समस्या पर लौटना चाहिये। हम पीछे 'अपरिभाषित विधेय' पद का, जिसके अनिश्चितों के साथ प्रयुक्त होने पर हम वाक्य को परिचय सिद्धान्तानुसार सार्थक मानते आये हैं, प्रयोग करते रहे हैं। हमने इनका स्पष्टीकरण भी किया है। यहां हमें देखना है कि 'इस परिचित होने' का क्या अभिप्राय है तथा ऐसे वाक्यों की, जिन में ये घटित होते हैं, सार्थकता का क्या अभि–प्राय है। एक उदाहरण लें—'चाँद का दूसरी ओर का भाग चपटा है', रूपान्तरण से 'कोई वस्तु चाँद का दूसरी ओर का भाग है और यह चपटा है'। यहां 'चाँद का दूसरी ओर का भाग' केवल एक अनिश्चित (वेरियेवल) पद है, जिसका मूल्य विशिष्ट पद है तथा 'रक्त' और सम्बन्ध वाचक 'दूसरी ओर' पद अपरिभाषित विधेय हैं। इस वाक्य में जबकि हम विधेयों से परिचित हैं, एकवस्तु "(य)" से परिचित नहीं हैं। विधेयों से परिचित होने से उपर्युक्त वाक्य हमारे लिये सार्थक है। अब यह सार्थक किस प्रकार है?

जैसाकि, 'मूलवाक्य' निबन्ध में हमने देखा है, हमारे परिचय के मूलवाक्य 'यह रक्त है'—'र (अ)' सद्यः में पूर्ण प्रस्तुत के वाचक हैं। हमने उस निबन्ध में, तथा इस निबन्ध में भी पीछे, देखा है कि ये 'पूर्ण प्रस्तुत' हमारे विशिष्ट हैं। पीछे हमने 'पूर्ण प्रस्तुत' तथा 'पूर्ण सन्निहित' को भिन्नार्थक अथवा पर्याय मानने में जो कठिनाइयां हैं, उनकी चर्चा भी की थी, किन्तु वहां इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दिया गया था। अब समय है कि उस प्रश्न पर निर्णय किया जाय।

जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, 'र' को पूर्णतः सन्निहित मानने में यह कठिनाई है कि 'र (य)' का कोई अर्थ नहीं रह जायगा और अतएव निरूपणों का ढांचा ही गिर जायगा। यदि 'कुछ चाँद का दूसरी ओर का भाग है और यह चपटा है' वाक्य को सार्थक होना है तो 'र' पूर्णतः सन्निहित नहीं होना चाहिये। इससे लागू होता है कि 'र' उस अवस्था में एक सामान्य है। तब विशिष्ट क्या है? क्या '(अ)' 'र' से अतिरिक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व

"कुछ" को व्यक्त करता है? जैसाकि "मूलवाक्य" तथा "वस्तुएं,तथ्य और अस्तित्वमीमांसा" में हमारे प्रतिपादन से स्पष्ट है,' (अ)' स्वयं किसी अस्तित्व का वाचक नहीं है,अन्यथा हम किसी अनुभवातीत अस्तित्व को मानने के लिये बाध्य होंगे। '(अ)' यहां केवल 'रक्त' के सद्यः का विषय होने का वाचक है, अथवा कहें, पूर्ण प्रस्तुत होने का वाचक है। इस प्रकार, हमारा '(अ)' किसी विशिष्ट तथा 'र' किसी सामान्य का पृथक्-पृथक् द्योतन नहीं करते। स्वभावतः उस अवस्था में हमारे मूलवाक्य में प्रयुक्त विधेय पूर्णतः प्रस्तुत ही नहीं प्रत्युत पूर्णतः सन्निहित भी है। 'र (अ)' किसी भी अवस्था में यह पूर्वकल्पित नहीं करता कि 'र' किसी अन्य विशिष्ट के साथ भी संयुक्त होगा। अतः 'र (अ)' वाक्य में ही 'र' अस्तित्व का वाचक है, यह निरपेक्षतया सत्तायुक्त है। जिस प्रकार अकेले '(अ)' का कुछ अर्थ नहीं है उसी प्रकार अकेले 'र' भी किसी अस्तित्व का वाचक नहीं है। अनिश्चित (वेरियेबल) किसी अस्तित्व का वाचक नहीं होता।

तब निरूपणों की सार्थकता का ग्रहण किस प्रकार होता है? यह स्पष्ट है, यद्यपि पीछे हमने इन्हें अर्थ देना समस्यात्मक बताया है। वास्तव में समस्यात्मक केवल इनके अस्तित्व की बात करना है, अर्थ देना नहीं। 'र (अ)' वाक्य हमारा मूल वाक्य है तथा 'समान' हमारा स्वीकृत अपरिभाषेय विधेय है, क्योंकि 'यह रक्त तथा वह रक्त समान हैं' भी मूल वाक्य है। अब यदि हम एक वाक्य '(⋿ य) र (य)' का प्रयोग करते हैं तो इस की सार्थकता का ग्रहण इस प्रकार होता है—'[(⋿ य,र) र (य)].[(रय) स(रअ) अर्थात् 'कुछ रक्त है जो इस रक्त के समान है'। 'कुछ रक्त' 'इस रक्त' के समान होने से सार्थक है। और जबकि यह अस्तित्व का दावा करता है, इसकी सार्थकता 'र (य)' के प्रमाणित होने में नहीं है। यह और भी स्पष्ट इस वाक्य से हो जाता है 'यह रक्त है, और प्रत्येक वस्तु, जो इसके समान है, रक्त है'। अब यदि संसार में कोई भी अन्य वस्तु रक्त नहीं है तो भी यह वाक्य पूर्णतः सार्थक है यद्यपि इसको कोई मूल्य सन्तुष्ट नहीं करता। यदि हम सामान्यों के अस्तित्व को किसी अन्य अर्थ में स्वीकार करते हैं तो "(⋿ य) र (य)" के अस्तित्व का हम किसी प्रकार से निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि "र" सर्वत्र विद्यमान होने से केवल विशेषीकरण (इन्स्टेंशियेशन) की प्रतीक्षा में रहता है। और तब हम सब्स्टांस का भी निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि यदि यह वाक्य सत्य होता है तो यह लागू करता है कि सामान्य-अस्तित्व विशिष्ट-अस्तित्व को विशेषित करता है। अथवा अधिक उचित शब्दों में, यदि कोई मूल वाक्य 'यह रक्त है' घटित नहीं भी होता तो भी '(⋿ य) र (य)' सत्य वाक्य होगा यद्यपि यह सार्थक नहीं है, क्योंकि यदि कोई सामान्य 'र' अस्तित्ववान है तो वह विशिष्टों से निरपेक्ष अस्तित्ववान है और परिणामतः विशिष्ट भी है, यद्यपि कोई भी विशेषित-विशिष्ट नहीं है। विटगिंस्टाइन के ट्रक्टेटस के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गुण-हीन (कलर लैस) विशिष्ट तथा स्वतन्त्र गुण कुछ इस प्रकार के विश्व की सम्भावना को तर्कतः लागू करते हैं।

इस प्रकार,हमारे विचारानुसार, अस्तित्व की समस्या इन प्रश्नों में केन्द्रित हो जाती है: (१) कौन पद हमारी भाषा के अपरिभाषित विधेय हैं (सार्थकता),और (२) किन वाक्यों में इन का सत्यमूल्य सत्य है (अस्तित्व)। अपरिभाषित विधेय वे विधेय हैं जो अन्य विधेयों में विश्लेष्य अथवा अन्य विधेयों द्वारा स्थानान्तरणीय नहीं हैं। हमारी भाषा के उद्देश्य-विधेय रूप की अपरिहार्यता हमारे केवल विशिष्टों को स्वीकार करने के सिद्धांत को पुष्ट करती है तथा अस्तित्व के प्रसंग में प्रश्न (२) की अनिवार्यता को पुष्ट करती है, क्योंकि उद्देश्य तर्कतः तभी उद्देश्य है यदि यह विधेय के अस्तित्व का वाचक है। अन्यथा सब उद्देश्य क्वाइन की प्रविधि के अनुसार विधेयों में विघटित किये जा सकते हैं। किन्तु क्वाइन की प्रविधि वास्तविक उद्देश्य, अथवा कहें, वास्तविक संज्ञा को विधेय में विघटित नहीं कर सकती।

अब अन्त में दो शब्द 'अस्तित्व'पद के स्पष्टीकरण में भी। हमारा 'अस्तित्व' से क्या अभिप्राय है ? सार्थकता को केवल अपरिभाषित विधेयों का व्यापार मान कर 'अस्तित्व' शब्द का हम क्या अर्थ समझते हैं ? हमारी इस योजना में अस्तित्व का परम्परागत अर्थ प्रासंगिक नहीं है, जिस अर्थ में ईश्वर सत् है, प्रकृति सत् है अथवा प्लेटो के सामान्यों का अस्तित्व है। 'अस्तित्व' का यह अर्थ हमारी शब्दावली में वास्तव में सार्थकतया कहा ही नहीं जा सकता, हमारी भाषा इस प्रकार के शब्दों को कोई अर्थ नहीं दे सकती। हमारे विशिष्ट सद्यः प्रस्तुत के वाचक हैं। 'एक घटना'प्रयोग एक अविश्लेष्य तथा पूर्णतः सन्निहित का वाचक है। 'घटना का अस्तित्व है'का स्पष्टतः और कोई अर्थ नहीं हो सकता कि यह घटना घटित हो रही है। घटना का घटित होना स्वयं घटना से स्वतन्त्र कुछ नहीं है, यह घटना स्वयं है। अतः 'अस्तित्व' शब्द किसी स्वतंत्र तथ्य का व्यंजक नहीं है। यह विशेषण भी नहीं है, क्योंकि यह किसी वाक्य में कोई गुण का कथन नहीं करता यह केवल पुनरुक्ति करता है।आप कह सकते हैं,"तो आप कहना चाहते हैं,विश्व में केवल अस्तित्व है और कुछ नहीं है और जो अस्तित्वमय नहीं है वह विश्व में नहीं हो सकता।"आप ऐसा भी कह सकते हैं,क्योंकि यह केवल एक पुनरुक्ति है, किन्तु जो'अस्तित्व'शब्द की विभिन्न अवधारणाओं के कारण भ्रामक हो सकता है।"जो भी है केवल वही है और जो नहीं है वह नहीं है" विधान हमें कोई जानकारी नहीं देता। किन्तु इस वाक्य का निर्माण ठीक प्रकार से न करने पर यह हमें भूलभुलैया में डाल देता है। अतः हमारा प्रतिपादन है : 'अस्तित्व' पद केवल 'है' क्रिया से भाववाचक संज्ञा है। 'है' पद कोई विधान नहीं करता, वास्तव में वह प्रतीकात्मक वाक्यों में इसी कारण से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपसारित कर दिया जाता है। अतः 'अस्तित्व' का प्रयोग भी कोई विधान नहीं करता, इस का प्रयोग ही गलत है, क्योंकि इसका अनुवाद होगा 'राम है है', जो अनुचित है । 'राम है' भी अतिरंजित प्रयोग है, क्योंकि यह केवल कहता है 'राम', किन्तु जैसाकि हम देख आये हैं, केवल उद्देश्य पद का प्रयोग उचित नहीं है अतः 'राम है वाक्य ग़लत है।कुछ लोग समझते हैं कि निरूपणा-त्मक वाक्य 'कुछ ऐसा ऐसा है' अस्तित्व का विधान करता है। किन्तु इस भ्रम का भी हम पीछे निराकरण कर आये हैं । अस्तित्व वाक्य के ये व्यापारक(ओपरेटर्ज़) केवल तार्किक हैं तथा शेष पद केवल अनिश्चित (वेरीयेवल) हैं, जो मात्र रूपात्मक हैं। इन को मूल्य केवल विशिष्टों द्वारा स्थानान्तरित करने से ही प्राप्त होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४

मानसिक और भौतिक

मन के अस्तित्व के प्रश्न ने दार्शनिकों को सम्भवतः पदार्थ के अस्तित्व के प्रश्न से, और शायद अन्य किसी भी वस्तु के अस्तित्व के प्रश्न से, अधिक चक्कर में रखा है। किन्तु जैसाकि हमने पीछे[1] देखा है, 'मन का अस्तित्व' अथवा 'पदार्थ का अस्तित्व' हमारी पुनारचित भाषा में अनुचित प्रयोग हैं। इस प्रकार, हमारे दर्शन की अत्यन्त उलझन–पूर्ण समस्या--"इस या उस वस्तु के अस्तित्व की समस्या" लुप्त हो जाती है। किन्तु कुछ अन्य महत्वपूर्ण समस्याएं, अथवा कहें, प्रश्न - यदि इन्हें प्राचीन समस्याओं से भिन्न करना आवश्यक हो तो—पुनः उत्पन्न होते हैं। कुछ दार्शनिक यह दावा करते हैं कि कोई प्रश्न तब तक उचित दार्शनिक प्रश्न नहीं है जब तक कि उसके उचित सुल-झाव की कम से कम दिशा की ओर संकेत नहीं किया जा सकता। जिन प्रश्नों का उत्तर संभव नहीं है वे वास्तव में उचित प्रश्न ही नहीं हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि अधिकांश दार्शनिक समस्याएं या तो ऐसी हैं जो भाषा के स्वभाव को न समझ सकने से उत्पन्न होती हैं अथवा ऐसी हैं जो स्वतः रचित परिभाषाओं के द्वारा निर्मित हैं। सब्स्टांस (तत्व)की समस्या प्रथम भूल का परिणाम है और मन सम्बन्धी समस्या दूसरी प्रकार से निर्मित है। अतः यदि हम इस सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाँय तो ऐसी समस्यायें स्वतः विलीन

१. विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो जाँय। उदाहरणतः यदि हम मन की परिभाषा ऐसी करें कि यह दैशिक-कालिक गुण रहित तत्व है तथा यह चेतन है, और पदार्थ की परिभाषा ऐसी करें कि यह दैशिक-कालिक गुणों से युक्त तत्व है तथा अचेतन है, और पुनः कारणता की ऐसी परिभाषा करें कि एक वस्तु दूसरी को तभी कारित कर सकती है यदि यह दैशक–कालिक गुणयुक्त हो, अथवा दोनों वस्तुएं एक ही प्रकार के गुणयुक्त हों, तो यह तर्कतः असम्भव हो जाता है कि शरीर मन को अथवा मन शरीर को कारित कर सके। किन्तु हम देखते हैं कि सूई चुभने पर दर्द होता है, इच्छा होने पर शरीर तदनुसार क्रिया करता है, इत्यादि। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः एक समस्या, अथवा कहें पहेली, उत्पन्न हो जाती है, जिसे हम "शरीर-मन की परस्पर क्रियाप्रतिक्रिया की पहेली" कह सकते हैं। इस पहेली ने प्राचीन दर्शन को युगों तक आलोडित किया है। किन्तु इसका सुलझाव, अथवा कहें विलीनीकरण (डिस्सोल्यूशन), जैसाकि कुछ दार्शनिक कहना पसन्द करते हैं, सम्भव नहीं हुआ।

किन्तु इस पहेली की स्थिति से निकलने का उपाय यह नहीं है कि हम ऐसी परिभाषाओं का निर्माण करें जिनसे हमारे प्रश्नों के हमारी इच्छानुकूल उत्तर तर्कतःअनुगत हों। इसके विपरीत, हमें किसी पद से सम्बन्धित अवधारणा का विश्लेषण करना है और उसका अपनी "सम्पूर्ण अवधारणात्मक योजना" (टोटल कांसेप्चुअल स्कीम) में स्थान नियत करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम परिभाषाओं का निर्माण नहीं करते, किन्तु सर्वप्रथम, परिभाषाएं परिभाषित के प्रयोग–प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिये होती हैं,२ और दूसरे, हम उनके उपयोग के सम्बन्ध में पहले से स्पष्ट रहते हैं और इस प्रकार उनके कारण पथ–भ्रष्ट नहीं होते। और पुनः, इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हमारी व्याख्या में कोई पूर्वपक्ष तथा उनसे तर्कतः अनुगत परिणामों के लिये स्थान नहीं है। यह एकदम असम्भव है, क्योंकि सब प्रकथन कुछ अन्य प्रकथनों को तर्कतः लागू करते हैं। किन्तु भ्रम से बचने के लिये यह आवश्यक है कि हम उनके इस स्वभाव के प्रति स्पष्ट हों।

हमने पीछे तथा ऊपर की पंक्तियों में भी, 'अवधारणात्मक योजना' पद का प्रयोग किया है। इसके सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण प्रासंगिक होगा। हम शब्दों का वाक्यों में प्रयोग करते हैं और वाक्य कुछ शब्दों के समवाय होते हैं।प्रत्येक शब्द का अपना निजी कुछ अर्थ होता है।किन्तु वाक्य में ये शब्द एक"अर्थ संस्थान"का निर्माण करते हैं। वाक्यों का निर्माण उचित और अनुचित दोनों प्रकार का हो सकता है।वाक्यों के इस औचित्य और अनौचित्यपूर्ण निर्माण का निर्णय अवधारणात्मक योजना से होता है।इस प्रकार,किसी भाषा के उचित वाक्य उस भाषा में निहित अवधारणात्मक योजना के वाचक हैं।उदाहरणतः

२ आगे–दार्शनिक विश्लेषण।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'राम जाता है' अथवा 'राम बैठा है' उचित प्रयोग हैं, किन्तु 'कुर्सी बैठी है' अथवा 'कुर्सी जाती है' उचित प्रयोग नहीं हैं। इसी प्रकार 'कुर्सी रखी है' उचित प्रयोग है, किन्तु 'राम रखा है' उचित प्रयोग नहीं है। इसी प्रकार 'राम चाहे शरीर से कुरूप है किन्तु सज्जन है' तथा 'राम चाहे शरीर से सुन्दर है किन्तु दुष्ट है' उचित प्रयोग नहीं हैं किन्तु 'राम चाहे शरीर से दुष्ट है किन्तु मन से सुन्दर है' अथवा 'राम चाहे शरीर से सज्जन है किन्तु कुरूप है' अनुचित प्रयोग हैं। वाक्यों के प्रयोग का यह औचित्य अथवा अनौचित्य हमारी इस अवधारणात्मक योजना का व्यंजक है कि हम कुछ वस्तुओं को मनयुक्त और दूसरी वस्तुओं को मनरहित मानते हैं और मन की हमारी अवधारणा ऐसी है कि उसके साथ हम 'सुन्दर'-'कुरूप' आदि विशेषणों का, (रूपकात्मक शैली के अतिरिक्त) प्रयोग नहीं कर सकते और न उन उद्देश्य पदों के साथ 'रखा है', 'पड़ा है' जैसे क्रिया-पदों का उपयोग कर सकते हैं जो मनयुक्त वस्तुओं की संज्ञाएं हैं। अब हमारी इस स्थापना से स्पष्ट है कि भाषा स्वयं अवधारणात्मक योजना नहीं है, यह हमारी अवधारणात्मक योजना का चित्र (अथवा रेखाचित्र) है। हमारी अवधारणात्मक योजनाएं भिन्न हो सकती हैं और तदनुसार ही हमारा वाक्यों का निर्माण भी भिन्न हो जायगा।

दार्शनिक, (और यदि इस शब्द के प्रयोग पर यहां किसी को आपत्ति हो तो, हम कहेंगे, विश्लेषणात्मक दार्शनिक) का कार्य हमारी इन अवधारणात्मक योजनाओं का स्पष्टीकरण, विशदीकरण, तथा विभिन्न योजनाओं में सम्बन्धों का उद्घाटन करना है। जैसाकि सब जानते हैं, प्रत्येक वाक्यीय प्रतिज्ञा(प्रोपोज़ीशन) कुछ अन्य वाक्यीय प्रतिज्ञाओं से लागू होती है। इन वाक्य-समुदायों को हम संस्थान कह सकते हैं। किन्तु यह सदैव स्पष्ट नहीं होता कि कोई वाक्य किन-किन वाक्यों से लागू होता है तथा किन-किन वाक्यों को लागू करता है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि कभी भी वे सब वाक्य ज्ञात नहीं होते जो किसी वाक्य को लागू करते हैं अथवा उस से लागू होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता कि प्रत्येक वाक्य हमारी अवधारणात्मक योजना को लागू करता तथा उससे लागू होता है, यद्यपि हम कभी भी इस संस्थान की रचना पूर्णतःजान नहीं पाते। दार्शनिक का कार्य इस संस्थान का उद्घाटन करना ही है। कुछ दार्शनिक कहेंगे कि उसका कार्य पूर्व विद्यमान संस्थान का उद्घाटन करना नहीं प्रत्युत निर्माण करना है। किन्तु इन सृजनशील दार्शनिकों ने इतिहास में जो वायवी रचनायें की हैं हम उनसे सुपरिचित तथा त्रस्त हैं। वास्तव में 'नवीन अवधारणात्मक योजना का निर्माण' प्रयोग का स्थूल विश्लेषण इस की उपहासास्पदता को सामने ला देता है। सर्वप्रथम, आप नवीन अवधारणात्मक योजना का निर्माण क्यों करना चाहते हैं? स्वभावतः इसका उत्तर होगा, सामान्य अवधारणात्मक योजना अनुपयुक्त है। किन्तु जब आप इस योजना का अनौचित्य सिद्ध करना चाहते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं तब आप केवल यही दिखाते हैं कि इस योजना में प्रयुक्त अन्य वाक्य अमुक वाक्य से संगत नहीं हैं। किन्तु इस एक वाक्य को अन्य वाक्यों से अधिक उचित क्यों माना जाय? और दूसरे, यदि आप वायु में ही अपनी योजना का निर्माण करना चाहते हैं तो वह एक निगमनात्मक (डिडक्टिव) योजना मात्र होगी, और उस से कभी भी व्याख्यात्मक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। किन्तु सब दार्शनिक स्पष्टीकरण करना चाहते हैं और अपनी योजनाओं का निर्माण तथ्यों के आधार पर करते हैं। यही कारण है कि उनमें मतभेद उत्पन्न होता है और एक दार्शनिक अन्यों से अधिक उचितरूप में "योजना के उद्‌घाटन" का दावा करता है।

वास्तव में कभी कभी विभिन्न योजनायें किन्हीं तथ्यों की उचिततर व्याख्या के लिये, अथवा वायवी योजना-निर्माण के उत्साह से, प्रेरित नहीं होतीं, ये स्वयं तथ्यों की स्वीकृति संबंधी मतभेद पर आधारित होती हैं। उदाहरणतः कुछ लोग दावा करते हैं कि वे ईश्वर का अनुभव करते हैं और इस प्रकार वे ईश्वर की अपनी अवधारणा को शेष अवधारणाओं के मध्य में रखना चाहते हैं; दूसरे पदार्थ को तथ्य नहीं मानते और इसके निषेध की अवधारणा को अवधारणात्मक योजना में स्थान देना चाहते हैं। इसी प्रकार कुछ मन को एक तथ्य स्वीकार करते हैं जबकि दूसरे इसे तथ्य स्वीकार नहीं करते। हेगल ने केवल "प्रत्यय" को तथ्य माना है और शंकर ने केवल "ब्रह्म" को तथ्य माना है। इसी प्रकार मार्क्स ने केवल "भूत" को तथ्य माना है।

यहां थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'तथ्य' का हमारा प्रयोग थोड़ा घपला उत्पन्नकर सकता है क्योंकि यहां यह पद कम से कम दो अर्थों, अथवा कहें,प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है। 'तथ्य की उचिततर व्याख्या' इस प्रयोग में'तथ्य' का अर्थ अन्य प्रयोगों में 'तथ्य' के अर्थ से भिन्न है। प्रथम प्रयोग में यह 'वस्तु स्थिति' (स्टेट आफ अफेयर्ज़) का प्रर्याय है जबकि शेष में यह मूल अस्तित्व अथवा मूल तत्व (सब्स्टांस) का पर्याय है। अब प्रथम अर्थ में मार्क्स, हेगल अथवा शंकर सब 'यह कुर्सी है' अथवा 'राम सज्जन है' वाक्यों को किसी वस्तुस्थिति के उचितरूप से वाचक मानने में सहमत होंगे। किन्तु वे "भूत" अथवा"मन"के अस्तित्व को स्वीकार करने में सहमत नहीं होंगे! यहां आधुनिक विश्लेषणात्मक दार्शनिक अन्य दार्शनिकों से अधिक लाभप्रद स्थिति में है।वह"अस्तित्व"की भ्रामक तथा भावुकतापूर्ण समस्या का अपने विश्लेषण द्वारा विलयन कर सकता है और "मन" अथवा'भूत"अथवा"प्रत्यय"को वस्तुस्थितियों के अथवा अवधारणात्मक संस्थान के अंगों के रूप में पुनः प्रवेश दे सकता है। इसी प्रकार, उस की योजना में "यह कुर्सी है" तथा "वह सज्जन है" पुनारचित (रीकंस्ट्रक्टिड) वाक्य हैं, जबकि '(केवल) प्रत्यय का अस्तित्व है' अनुचितरूप से रचित वाक्य है, और इसी प्रकार 'कुर्सी सज्जन है' तथा 'रक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पीत है' अनुचितरूप से रचित वाक्य हैं।

पिछले सूत्र को ही पुनः पकड़ते हुए, दार्शनिक अवधारणात्मक संस्थान का निर्माण ऊर्णनाभ के समान नहीं करता, वह विवेचक है, किन्तु उसकी विवेचना का क्षेत्र अवधारणाओं की तार्किक शक्तियों का अनुसन्धान करना होता है। दूसरे शब्दों में, उस योजना का अनुसन्धान करना होता है जो किसी अवधारणा के स्वरूप में निहित है। किन्तु जबकि वह किसी अवधारणा के सम्बन्ध-सूत्र की खोज करता है,वह उन अन्य अवधारणाओं तथा वस्तुस्थितियों का ध्यान रखने को बाध्य है जिनका वह निषेध नहीं कर सकता, अथवा कम से कम, जिन का वह केवल इसी लिये प्रत्याख्यान नहीं कर सकता कि वे किसी प्रस्तुत अवधारणा से तर्कतः असंगत हैं। किन्तु ऐसी अवस्था में उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक कसौटी का अनुसन्धान तथा एक सर्वतायी संस्थान का सृजन करे।

अब जब हम इस प्रकार से एक सर्वतायी अवधारणात्मक योजना के निर्माण में अग्रसर होते हैं तब हम उन वस्तुस्थितियों तथा अवधारणाओं की रक्षा करने के लिये सर्वाधिक उत्सुक रहते हैं जो हमारे दैनिक जीवन तथा अनुभव के कठोरतम तथ्य हैं। हमारा यह प्रकथन क्वाइन के इस प्रकथन से, कि गणित और रूपात्मक तर्क हमारी अवधारणात्मक योजना के केन्द्रबिन्दु पर हैं और सामान्य दैनंदिन की अवधारणाएं वृत्तरेखा पर हैं,[३] एकदम उलट प्रतीत होगा।किन्तु वास्तव में यह प्रकथन क्वाइन के प्रकथन से विपरीत नहीं है, यद्यपि हम उनके एतत्संबंधी विवेचन से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। हमारा अभिप्राय यहां केवल इतना ही है, और इससे तनिक भी अधिक नहीं है, कि हम 'कुर्सी कमरे में है' तथा "रक्त पीत से भिन्न है' इत्यादि वाक्यों की सार्थकता की रक्षा के लिये सर्वाधिक उत्सुक रहते हैं। किन्तु जैसाकि सर्वविदित है, दार्शनिकों ने सब से अधिक आक्रमण ऐसी अवधारणाओं पर ही किया है जिन्हें हम कठोरतम तथ्य संबंधी अवधारणाएं कहना चाहते हैं। इस का कारण स्पष्ट है : ये अवधारणाएं वास्तव में हमारे अवधारणात्मक संस्थान के कठोरतम भाग में नहीं हैं,क्योंकि यह रूपात्मक संस्थान है जोकि "लागू होना", "लागू न होना" के नियमों के आधार पर निर्मित है। किन्तु ये अवधारणाएं ऐसी हैं कि हम इनकी संगति तथा विसंगति के निश्चय के लिये सर्वाधिक उत्सुक रहते हैं और रूपात्मक संस्थान की रचना इस प्रकार करना चाहते हैं कि ये अवधारणाएं परस्पर संगत हो सकें। दार्शनिकों ने ऐसे संस्थानों की खोज की उत्सुकता में स्वयं इन कठोर अवधारणाओं का ही निषेध कर दिया, किन्तु जैसाकि आधुनिक तर्कशास्त्र ने दिखाया है,यह उन के स्वयं इन संस्थानों के निर्माण में भूल के कारण हुआ।

३. क्वाइन-मैथड्ज़ आफ लोजिक, प्राक्कथन।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसका कारण स्पष्ट है, उन्होंने अवधारणाओं की एक वर्गणा (कैटोगरी) को अन्य वर्गणाओं से घपला दिया। उदाहरणतः हेगल ने 'बिल्ली प्राणी है' तथा 'प्रसाद कामायनी का लेखक है' में निर्णयों में अन्तर के स्वभाव को नहीं समझा और हमारे नैयायिकों ने घड़े से कुम्हार के अनुमान तथा संसार से ईश्वर के अनुमान में प्रयुक्त "अनुमान" की प्रकृति में भेद को नहीं समझा। शंकर ने स्वप्न और जागृति के ज्ञान-विषयों में अभेद को जागृति के विषयों के निषेध के लिये प्रयुक्त किया। किन्तु आधुनिक तर्कशास्त्र तथा दार्शनिक विश्लेषण ने यह दिखा दिया है कि सामान्य अवधारणाओं की रक्षा केवल हमारे मनोवैज्ञानिक सन्तोष के लिये ही आवश्यक नहीं है प्रत्युत यह एक तार्किक अनिवार्यता है। दूसरे शब्दों में, यदि हमारा अवधारणात्मक संस्थान इन सर्वसामान्य,अथवा कहें,हमारे व्यवहारिक, जीवन की अवधारणाओं का निषेध करता है,इन्हें भ्रम अथवा प्रतीति मात्र सिद्ध करने का प्रयत्न करता है,तो उसमें कुछ आधारभूत गलती है; दूसरे शब्दों में, यह निर्णय कि मेरे कमरे का मेज़ वास्तव में मेरे संवेदों के अतिरिक्त तथा स्वतन्त्र कुछ नहीं है और इस प्रकार, जो मैं "वहां" कमरे में देखता हूं वह वास्तव में "यहां" मेरे मस्तिष्क में है, भ्रमपूर्ण है। ठीक इसी प्रकार, 'मैं दुखी हूँ' वाक्य 'मेरा अन्तः-शरीर अवस्था अ में है' का पर्याय है,भ्रामक है। यह भ्रम उसी प्रकार का है जिस प्रकार का यह भ्रम कि 'प्रत्येक अवस्था में'२+२=४' से 'प्रत्येक अवस्था में दो मनुष्य तथा दो मनुष्य चार मनुष्यों के बराबर होते हैं' अथवा 'क्योंकि हम किसी घड़े से यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी ने यह बनाया है अतः हम संसार के होने से यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी ने इसे बनाया है' है। ये सब वर्गणा-दोष (कैटोगरी मिस्टेक्स) हैं। इन भ्रमों के स्रोत भिन्न भिन्न हैं और निश्चितरूप से अन्तिम वाक्य-युगलों द्वारा व्यक्त भ्रम अधिक स्थूल हैं, किन्तु इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि ये सभी एक वर्गणा की अवधारणा की दूसरी वर्गणा की अवधारणा के साथ घपलाने के परिणाम हैं।

अपने विवेच्य विषय के विश्लेषण में प्रवृत्त होने के पूर्व यहां "अवधारणा" की अपनी अवधारणा बता देना उचित होगा। अवधारणात्मक संस्थान से हमारा अभिप्राय वाक्यीय प्रतिज्ञाओं (प्रोपोज़ीशंज़) के उस समवाय से है जो संगत अथवा विसंगत होने के सम्बन्ध से सम्बद्ध है। हमारी प्रत्येक वाक्यीय प्रतिज्ञा किसी अवधारणात्मक संस्थान की अंग है। इस प्रकार, 'यह मेज़ है' तथा 'रक्त, अब' दोनों वाक्य अवधारणाओं के व्यंजक हैं। अब, जैसा कि स्पष्ट है, अवधारणात्मक संस्थान असंख्य हो सकते हैं, और वास्तव में हैं भी, अतः इनमें निर्णय कैसे हो कि कौन सा संस्थान उत्कृष्टतर है? कुछ दार्शनिक शायद आपत्ति करेंगे कि 'रक्त, यहां,अब' जैसे वाक्य वास्तव में अवधारणात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं ही नहीं, ये तथ्य–व्यंजक हैं; ये अवधारणात्मक संस्थान के लिये तथ्यात्मक प्रदत्त (डाटा) प्रस्तुत करते हैं। किन्तु जैसा कि हमने अध्याय १ में पीछे देखा है, यह भ्रामक है, यह वास्तव में संवेदों के मनोवैज्ञानिक पक्ष को तार्किक पक्ष से चपला देता है। तार्किक उपयोग की दृष्टि से 'संवेद' अथवा 'संवेद वाक्य' अवधारात्मक हैं। अतः जबकि हमारे मूल वाक्य भी अवधारणात्मक हैं, अथवा, दूसरे शब्दों में, अवधारणात्मक संस्थान के अंग हैं, तो हमारे दार्शनिक व्यापार का पथ-प्रदर्शक फैक्टर क्या होना चाहिये ?

इसका उत्तर हम सीधे न देकर पहले स्पष्टीकरण द्वारा देंगे- 'यह मेज़ है' वाक्य एक सामान्य तथ्य को (स्थूल रूप में विचार करते हुए), अथवा कहें, एक वस्तुस्थिति को, व्यक्त करता है। इसी प्रकार 'यह मेज़ उस मेज़ के दायें है' एक सामान्य वस्तुस्थिति को व्यक्त करता है। किन्तु, 'मेज़ तथ्य नहीं प्रतीति है', 'सम्बन्ध वास्तव नहीं भ्रम हैं' वाक्य किसी वस्तुस्थिति के व्यंजक नहीं हैं, ये अत्यन्त उलझनपूर्ण अवधारणात्मक संस्थान के अंग हैं, और इसी प्रकार उपर्युक्त तथ्य-व्यंजक वाक्य भी, जब हम इनके निषेधक तर्कों से इनकी रक्षा करते हैं। हमारे प्रतिपादनानुसार, हमारा अवधारणात्मक संस्थान ऐसा होना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार की तथ्य–व्यंजक प्रतिज्ञाओं का उनके द्वारा निषेध लागू न हो तथा इनकी सार्थकता की रक्षा हो सके। किन्तु, जैसाकि हम पीछे भी कह आये हैं, यह कोई नैतिक विधान नहीं है, यह हमारे अवधारणात्मक संस्थान के तार्किक सौष्ठव की आवश्यक शर्त है। यह एक सीमा तक हमारे इस विवेचन का प्रस्थानबिन्दु है और 'अर्थमीमांसा' तथा 'दार्शनिक विश्लेषण' अध्याय इसके लिये उचित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

२

उपर्युक्त प्रतिपादन के पश्चात् हम''मानसिक''तथा ''भौतिक''की समस्या को विस्तृत तथा सर्वतायी परिप्रेक्ष्य में रख कर देख सकते हैं। कुछ समस्याएं तब भी ऐसी प्रतीत होंगी जिन का उत्तर शायद सन्तोषजनक प्रतीत न हो, अथवा जिनका उत्तर यहां न दिया जाय, किन्तु ये उत्तरहीन, अथवा कहें, समाधान रहित, समस्याएं नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि दार्शनिक की समस्याएं ऐसी नहीं होतीं जैसी किसी समाज–सुधारक की होती हैं। दार्शनिक की समस्या का समाधान उस समस्या को ठीक तरह से समझ लेने में ही निहित है।

जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, शब्दों का अर्थ संकेतात्मक(ओस्टेंसिव)अथवा शाब्दिक (वर्बल) होता है और वाक्य का अर्थ घटक शब्दों अथवा वाक्य--रचना के नियमों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानसिक और भौतिक

से उपलब्ध होता है। किन्तु इस प्रतिपादन में थोड़ा परिवर्तन अपेक्षित है। संकेतात्मक पद 'कुत्ता' 'यह कुत्ता है' वाक्य का भाग है। शाब्दिक अर्थ दो प्रकार का होता है, अनुवादात्मक तथा परिभाषात्मक। अनुवादात्मक अर्थ पर्यायवाची शब्दों द्वारा तथा परिभाषात्मक अर्थ किसी शब्द के प्रयोग-प्रसंग के वाचक अथवा उद्घाटक वाक्यों द्वारा उपलब्ध होता है। जैसे 'कुत्ता=कुक्कुर" तथा 'कुत्ता'=प 'अमुक अमुक प्रकार का प्राणी विशेष' आदि। अब कुछ पद ऐसे हैं जो हमारे मूलवाक्यों में घटित हो सकते हैं, जो हमारी पुनारचित (रीकंस्ट्रक्टिड) भाषा में विशिष्ट संज्ञाएं हैं, और दूसरे ऐसे हैं जो इस प्रकार से घटित नहीं हो सकते। इन दूसरी प्रकार के वाक्यों को हम अस्तित्वात्मक अभ्युपगम (एक्सिस्टेंश्यल हाइपोथिसिस) कहते हैं। ये अभ्युपगम वाक्य 'एक और केवल एक वस्तु इस इस प्रकार की है' अथवा 'कुछ इस इस प्रकार का है' इस रूप के होते हैं। ये वाक्य सत्यापित अथवा असत्यापित होने की अपेक्षा रखते हैं। इन दो प्रकार के वाक्यों में बड़ा अन्तर है, किन्तु जैसाकि हमने "विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व" अध्याय में देखा है, हमारी पुनारचित भाषा में अस्तित्व वाक्यों में 'रक्तता', 'वर्ण', 'कुत्ता' आदि पद घटित नहीं हो सकते, और यह और भी अधिक 'मन' तथा 'पदार्थ' जैसे अत्यंत उलझनपूर्ण शब्दों पर लागू होता है। इसके विपरीत, हम कह सकते हैं कि हमारे कुछ मूल तथा अस्तित्व वाक्य मनोवैज्ञानिक भाषा में प्रयुक्त होते हैं और कुछ भौतिक भाषा में। यह स्थापना हमारी अस्तित्व की सीमा का निर्धारण करती है। इस प्रकार, विश्लेषण-दर्शन के विभिन्न प्रवक्ताओं के शरीर-मन सम्बन्धी मतभेद को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: कुछेक के अनुसार हमारी आदर्श भाषा के विशिष्ट (संज्ञाएं, पर्टिकुलर्ज़) केवल शरीर को इंगित करते हैं। दूसरों के अनुसार, ये केवल मन को इंगित करते हैं, और अन्य शरीर तथा मन दोनों को विशिष्ट सज्ञाओं की पदावली में कथनीय मानते हैं। यहां 'शरीर', 'मन' आदि के प्रयोग से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ये किसी भौतिक तत्व अथवा मानसिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह केवल कथन का स्थूल ढंग है। अधिक उचित शब्दों में, वे अपने मूलवाक्यों तथा अस्तित्व वाक्यों का क्षेत्र मनोवैज्ञानिक विषयों तक, अथवा भौतिक विषयों तक, अथवा दोनों प्रकार के विषयों तक सीमित रखते हैं। 'मनोवैज्ञानिक विषय' तथा 'भौतिक विषय' पद किन्हीं तत्वों के वाचक न हो कर अवधारणात्मक संस्थानों के वाचक हैं, जिनके स्पष्टीकरण के लिये हम यहां प्रवृत्त हैं। मतभेदों के इस प्रसंग में ही व्यवहारवाद का उल्लेख भी अनुचित न होगा। एक सम्प्रदाय जबकि 'मैं क्रुद्ध हूँ' को अपनी आदर्श भाषा के मूलवाक्यों में 'मेरा शरीर क्रोधात्मक व्यवहार प्रदर्शित कर रहा है अतः क्रोध घटित हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहा है'[२] के रूप में स्वीकार करता है, और इस प्रकार उसके लिये 'मैं क्रुद्ध हूँ' तथा 'वह क्रुद्ध है' में कोई मौलिक अन्तर नहीं रहता, अन्य इन दोनों में मौलिक भेद समझते हैं। उनके अनुसार जबकि प्रथम मूलवाक्य है, द्वितीय अस्तित्ववाक्य है। वास्तव में दोनों स्थितियों की कुछ कठिनाइयां हैं।

हम अपने अवधारणात्मक संस्थान की पुनारचना में दो उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं। प्रथम उद्देश्य है पुनारचना में सामान्य अवधारणाओं के प्रसंग (कान्टेक्स्ट) तथा वस्तु (कांटेन्ट) की रक्षा। उदाहरणतः भौतिक भाषावाद (फिज़ीकलिज़्म) तथा उभय भाषावाद (इन्टरेक्शनिज़्म) दोनों इन उद्देश्यों से प्रेरित हैं जबकि वे 'मैं क्रुद्ध हूँ' तथा 'वह मेज़ है' वाक्यों को अपनी आदर्श भाषा में पुनारचित करते हैं। किन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, भौतिक भाषावादी मितव्ययिता के आग्रह के लिये सामान्य अवधारणाओं की वस्तु (कान्टेन्ट) तथा प्रसंग (कांन्टेक्स्ट) की उपेक्षा कर देता है।

हमारी साधारण भाषा में 'यह पदार्थ है' अथवा 'कम से कम एक वस्तु पदार्थ है' प्रयोग उचित नहीं समझे जायेंगे। ठीक इसी प्रकार 'यह मन है' अथवा 'कम से कम एक वस्तु मन है' अथवा 'कुछ वस्तुएं मन हैं' भी उचित प्रयोग नहीं समझे जायेंगे। ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता है, जैसा 'मेरा मन दुखी है'. किन्तु इसे हम शिथिल प्रयोग कह सकते हैं। 'मैं दुखी हूँ' साधारण भाषा का उचित प्रयोग है। इसी प्रयोग को हमारी आदर्श भाषा के मूलवाक्य के रूप में इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया जाता है, जैसे 'दुख. यहां, अब'। हमारे वि. स. अ. अध्याय के प्रतिपादनानुसार 'यह दुख' अधिक उचित प्रयोग होगा। अब जैसाकि 'मूलवाक्य' अध्याय में हमने देखा है, 'यह रक्त' आदि वाक्य भौतिक-विषय-वाक्यों की रचना के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध लागू करने तथा 'लागू होने' का है। जैसे, 'यहां मेज़ है' ⊃ 'यहां संवेद स१, स२ . . . सन घटित हो रहे हैं' आदि। मूलवाक्यों का उपयोग "लागू करने वाले" वाक्यों के प्रयोग प्रसंग का उद्घाटन तथा एक सर्वनायी ज्ञानमीमांसा की स्थापना करना है। अनेक बार हमें मेज़ दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वहां मेज़ नहीं होता। ऐसी स्थिति भी हो सकती है जबकि मेज़ हो किन्तु मुझे दिखाई न दे। ये दोनों सम्भावनाएं 'मेज़' पद के प्रयोग-प्रसंग की भाग हैं। मूलवाक्यों के प्रयोग-प्रसंग में इन सम्भावनाओं की प्रतिष्ठा नहीं है। अतः मूलवाक्य इन सम्भावनाओं की एक संस्थान के भीतर व्याख्या करने के लिये उपयुक्त हैं। हमें 'मेज़' पद के सामान्य प्रयोग के निषेध का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु यदि इसके प्रयोग-प्रसंग में कोई तार्किक स्खलन है तो हमें उसके अपसारण का पूर्ण अधिकार है।

२. कार्नप-साइकोलोजी इन फिज़ीकल लेंग्वेज (एयर द्वारा सम्पादित लोजीकल-पोज़िटिविज़्म, पृ० १७७).

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानसिक और भौतिक

अब मानसिक विषयों की इस प्रकार व्याख्या में थोड़ी कठिनाई है। 'क्रोध, अब' तथा 'मैं क्रुद्ध हूँ' एक जैसे ही वाक्य प्रतीत होते हैं,प्रथम द्वितीय की आदर्श भाषा में रचना कहा जा सकता है। 'मेज़' पद जबकि,विभिन्न प्रकार के असंख्य संवेद वाक्यां को लागू करता है, उसी प्रकार 'मैं क्रुद्ध हूँ' वाक्य अनिवार्यतः इस प्रकार का नहीं है। इस वाक्य में 'मैं' पद केवल वाक्यीय उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त भी हुआ हो सकता है और व्यक्तित्व की एकता का वाचक भी हो सकता है। दूसरी अवस्था में यह वाक्य 'क्रोध, अब' का अरचित रूप नहीं है, क्योंकि यह ऐसा ही वाक्य कहा जा सकता है जैसा 'मेज़ रक्त है' वाक्य, जबकि 'मेज़' एक भौतिक विषय का वाचक है। अब जब 'मैं' केवल एक वाक्यीय उद्देश्य है तब 'मैं क्रुद्ध हूं' केवल 'क्रोध, अब' का पर्याय है। और जबकि 'क्रोध, अब' उस व्यक्ति के इतिहास का अंग है जो मेरे से अभिन्न है, यह मेरे से भिन्न व्यक्ति के इतिहास का भाग भी हो सकता था और यह भी संभव है कि यह किसी इतिहास का भाग न होता, क्योंकि यह इतिहास से निरपेक्ष है। जैसे 'यह रक्त' भौतिक विषय $व_1$ का भाग है, किन्तु यह अन्तर्विरोधपूर्ण नहीं है कि यह भौतिक विषय $व_2$ का भाग होता, अथवा किसी भी भौतिक विषय का भाग न होता।

मूल वाक्यों का यह रूप तार्किक आवश्यकता से निर्धारित है, मनोवैज्ञानिक परीक्षा से नहीं, यह हमने मूल वाक्य अध्याय में पर्याप्त विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है। यहां यह पुनः स्पष्ट है। 'क्रोध, अब' किसी मानसिक वस्तु-स्थिति का व्यंजक नहीं है, ये वाक्य मानसिकता की अवधारणा के तार्किक विश्लेषण के लिये आनीत हैं। मूल वाक्यों के इस स्तर पर मेरे अनुभव तथा अन्यों के अनुभव की समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वास्तव में ये इस समस्या के समाधान के लिये ही आनीत हैं। 'मेरा मन' तथा 'अन्य मन' वाक्य इन मूल वाक्यां से पुनारचनायें हैं।

यहां हम एक आधारभूत समस्या के सम्मुख हैं : क्या हम मूल वाक्यां को अनुभव-वाक्य स्वीकार करते हैं अथवा नहीं? एयर ने यह समस्या उठाई है और इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, — 'ऐसा कहने में, कि अनुभवों में संबंध तथ्यात्मक है, मैं कहना चाहता हूँ कि यह तर्कतः अनिवार्य नहीं है कि कोई दो विशेष अनुभव इनके द्वारा सम्बद्ध किये जाँय। दो में से कोई भी एक अनुभव दूसरे के घटित हुए बिना घटित हो सकता है। अब जबकि इससे यह लागू होता है कि ऐसे विशेष कोई दो अनुभव नहीं हैं जिन से कोई विशिष्ट अनुभव सम्बद्ध किया जाय, इससे यह कदापि लागू नहीं होता कि इस अनुभव का किसी अनुभव से भी सम्बन्ध नहीं है। न ही इससे यह कदापि लागू होता है कि कोई अनुभव पूर्णतः असम्बद्ध रूप से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घटित हो सकता है[१]। यहां उस का अभिप्राय यह है कि मूल वाक्य अनुभव वाक्य हैं इस प्रकार यदि "व्यक्ति" की रचना मूल वाक्यों से की जाय तो लागू होता है कि अनुभव अनुभवकर्त्ता से पूर्व हैं, जबकि ऐसा भी नहीं हो सकता। अतः यह मानना होगा कि एक अनुभव अन्य अनुभव-विशेष के होने को लागू नहीं करता, यह किन्हीं अनिश्चित अनुभवों की परम्परा के होने को अवश्य पूर्वकल्पित करता है।

कोई वाक्य किसी अन्य वाक्य से उस अवस्था में तर्कतः लागू होता है जबकि यह पूर्व वाक्य के अर्थ का भाग है। जैसे 'कुछ मनुष्य हैं' तर्कतः लागू करता है कि 'कुछ तर्कशील द्विपद हैं'। तर्कतः लागू होने के इस अर्थ में 'अनुभव अ घटित हो रहा है' तर्कतः लागू नहीं करता कि 'अनुभव आ घटित हुआ है, होगा, अथवा हो रहा है'। यदि इन दो वाक्यों में तर्कतः लागू होने का सम्बन्ध माना जाय तो 'राम इस समय क्रुद्ध है' तथा 'राम एक घंटा पूर्व प्रसन्न था' परस्पर अर्थ के भाग होंगे और तब प्रथम या द्वितीय वाक्य ज्ञात होने पर अन्य वाक्य पुनरुक्ति मात्र होगा। अतः तर्कतः लागू होने का यह नियम जबकि सर्वस्वीकृत है और अतएव स्पष्ट है,यह सब अवस्थाओं में कभी भी स्पष्ट नहीं है कि एक वाक्य को दूसरे के अर्थ का भाग स्वीकार किया जाय या नहीं? यह हमारे उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है: कुछ दार्शनिक 'तर्कशील' तथा 'द्विपद' को संयुक्तरूप से 'मनुष्य' पद के अर्थ का भाग स्वीकार करना चाहेंगे जबकि अन्य ऐसा नहीं मानेंगे। फिर भी कुछ पदों तथा वाक्यों में सम्बन्ध स्पष्टतः तार्किक होता है, जबकि कुछ अन्यों में स्पष्टतः अतार्किक होता है। दो अनुभवों में सम्बन्ध स्पष्टतः अतार्किक होता है। किन्तु क्या यह तर्कतः अनिवार्य है कि प्रत्येक अनुभव किसी अन्य अनुभव से अनुगत हो? अथवा अधिक उपयुक्त शब्दों में, प्रत्येक अनुभव किन्हीं भी अन्य अनुभवों से सम्बद्ध हो? हमारे विचार में 'तर्कतः अनिवार्य' के उपर्युक्त अर्थ में यह तर्कतः अनिवार्य है; क्योंकि 'क्रोध का अस्तित्व है' अथवा 'क्रोध घटित होता है' वाक्य के प्रयोग प्रसंग के अनुसार यह असम्भव है कि यह वाक्य सत्य हो किन्तु कोई व्यक्ति क्रुद्ध न हो। किन्तु सर्व-प्रथम, 'क्रोध का अस्तित्व है' वाक्य मूलवाक्य नहीं है, और दूसरी तथा अत्यन्त महत्व-पूर्ण बात यहां यह है कि मूलवाक्य हमारी तार्किक आवश्यकताओं के सापेक्ष हैं, इनका प्रयोग-प्रसंग सामान्य अवधारणाओं से निर्धारित नहीं है! यदि 'रक्त, यहां, अब' के समान ही 'क्रोध, यह' भी मूलवाक्य है तो जिस प्रकार 'रक्त, यहां, अब' यह लागू नहीं करता कि कोई वस्तु रक्त है, उसी प्रकार 'क्रोध, यह' होने पर यह लागू नहीं होता कि कोई व्यक्ति क्रुद्ध है।

मानसिक मूलवाक्य केवल ऐसे ही नहीं हैं जैसे 'क्रोध, यह', प्रत्युत ऐसे भी हैं,

१. ए. जे. एयर-प्राब्लम आफ नोलेज, पृ० १९७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसे 'मैं जानता हूँ कि रक्त, यहां, अब', अथवा 'मैं जानता हूँ कि क्रोध, यह'। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि 'क्रोध, यह' तब तक मानसिक मूलवाक्य नहीं है जबतक कि यह 'यह अवगत है कि . . .' वाक्यांश से संयुक्त नहीं होता, क्योंकि 'क्रोध, यह' उसी प्रकार से किसी भौतिक वस्तुस्थिति का वाचक हो सकता है जैसे 'मेज़ रक्त है' वाक्य है, क्योंकि 'क्रोध, यह' किसी व्यवहार की संज्ञा हो सकता है।

किन्तु 'क्रोध, यह' की इस प्रकार रचना उचित प्रतीत नहीं होगी। किसी का लाल चेहरा, चढ़ी हुई आंखें आदि गोचर वस्तुएं हैं। अब चाहे इन्हें 'क्रोध' का पर्याय ही कहा जाय, किन्तु इनमें से एक एक को क्रोध का पर्याय नहीं कहा जा सकता, जैसे एक संवेद को मेज़ का पर्याय नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में 'क्रोध, यह' मनोवैज्ञानिक वाक्य तो हो सकता है किन्तु यह मूलवाक्य नहीं कहा जायगा। अतः यदि इसकी रचना कार्नप के अनुरूप इस प्रकार की जाय 'जब मैं (मेरा शरीर) क्रोध-व्यवहार करता हूँ तब क्रोध घटित होता है', तो 'क्रोध अब' वास्तव में मूलवाक्य नहीं रहता, यह एक अनुमान वाक्य हो जाता है, जैसे प१—'यह स्टील वर्ण है' से अनुमान वाक्य 'यह कठोर है' है। यह निम्न उद्धरण से और भी स्पष्ट है:—"अपने मन की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में वाक्य होने की अवस्था में, यथा, 'मैं क्रुद्ध हूँ', हमें संस्थान (सिस्टम) वाक्य प, तथा मूलवाक्य प१ में,जोकि इसी प्रकार का (जैसे'मैं अब क्रुद्ध हूँ') हो सकता है,में भेद करना चाहिये। अन्तर इस बात में निहित है कि संस्थान वाक्य का किन्हीं परिस्थितियों में बाध किया जा सकता है, जबकि मूलवाक्य ज्ञानमीमांसात्मक मोड़ बिन्दु होने से, उसका बाध नहीं हो सकता। मूलवाक्य प१, जोकि प, को तर्कतः आधार देते हैं, इस प्रकार के होते हैं—'मैं अपने हाथ कांपते देख रहा हूँ', 'मैं अपने हाथ कांपते अनुभव कर रहा हूँ', 'मैं अपनी आवाज़ कांपती हुई सुन रहा हूँ', आदि।"४ जैसाकि इस उद्धरण से स्पष्ट है, कार्नप के अनुसार 'मैं क्रुद्ध हूँ' जैसे वाक्य मूलवाक्य होने ही नहीं चाहियें, ये केवल संस्थान-वाक्य ही हो सकते हैं, क्योंकि 'मैं क्रुद्ध हूँ' केवल 'हाथ कांप रहे हैं' आदि वाक्यों के लिये अवधारणात्मक आरोपित (पोज़िट) है। किन्तु यही इस व्याख्या की दुर्बलता भी है। 'मेरे हाथ कांप रहे हैं' आदि वाक्यों का प्रत्याख्यान तर्कतः असंभव नहीं है। यह सम्भव है कि जबकि मैं देखता हूँ कि मेरे हाथ कांप रहे हैं तब वास्तव में मेरे हाथ नहीं कांप रहे हों। इसके विपरीत, जब यह अनुभव है कि "मैं क्रुद्ध हूँ" तब यह तर्कतः असम्भव है कि मैं क्रुद्ध नहीं हूँ।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि 'मैं क्रुद्ध हूँ' वाक्य 'य क्रुद्ध है' से स्थानान्तरण

४. कार्नप, वहीं पृ० १७७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नियम[४] द्वारा उपलब्ध होता है और इस प्रकार यह 'वह क्रुद्ध है' से भिन्न प्रकार का नहीं है। और जहां तक 'मेरे हाथ कांप रहे हैं' आदि मूलवाक्यों का सम्बन्ध है, इनमें 'हाथ कांपना' आदि वाक्य भौतिक विषयों के पर्यायरूप में प्रयुक्त न हो कर सद्यः के वाचक-रूप में प्रयुक्त हैं। अतः कार्नेप का उपर्युक्त प्रतिपादन ठीक है। यह तर्क एक सीमा तक ठीक है। किन्तु वास्तव में केवल हमारे एक उद्देश्य की पूर्ति का ध्यान रखते हुए ही यह ठीक तर्क है। वह उद्देश्य है मनोवैज्ञानिक भाषा की सर्वसामान्यस्तर पर पुनारचना करना। किन्तु यह तभी तक ठीक है जब तक इस उद्देश्य की सीमाओं का ध्यान रखा जाता है। अब कार्नेप के ही मूलवाक्य 'मैं देखता हूँ कि मेरे हाथ कांप रहे हैं' को लें। यहां इस वाक्य की मूलता इस बात में निहित हो सकती है कि यह ज्ञान-मीमांसात्मक दृष्टि से असंदिग्ध है और इसकी असंदिग्धता इसमें है कि 'यह अन्तर्विरोधपूर्ण है कि 'रत्र और रत्र नहीं है' '। इस प्रकार, मूलवाक्यों की असन्दिग्धता सद्यः प्रस्तुत के वाचकरूप में है। किन्तु ऐसे वाक्यों में सद्यःप्रदत्त कोई तथ्य किसी अवगति को होता है। चाहे यह आवश्यक नहीं है कि अवगत तथ्य मेरे अनुभव को प्रस्तुत हो, किन्तु जिस भी अनुभव को यह प्रस्तुत क्यों न हो केवल वही इसे 'रत्र' के रूप में व्यक्त कर सकता है। अन्य तो इसे 'कुछ अमुक अमुक प्रकार का है' के रूप में ही व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार वास्तव में, स्थानान्तरण नियम से 'य क्रुद्ध है' से प्राप्त 'मैं क्रुद्ध हूँ' तथा 'वह क्रुद्ध है' वाक्य मूलतः भिन्न हैं। इनमें केवल एक ढंग से अभेद किया जा सकता है, कि ये एक उपवाक्य के रूप में 'मैं जानता हूँ कि . . .' के साथ प्रयुक्त किये जाँय। इस प्रकार 'वह क्रुद्ध है' द्वारा व्यक्त तथ्य मेरे ज्ञान का उतना ही प्रस्तुत विषय है जितना 'मैं क्रुद्ध हूँ' द्वारा व्यक्त तथ्य। इससे 'मैं क्रुद्ध हूँ' तथा 'वह क्रुद्ध है' 'अमुक अमुक प्रकार के व्यवहार' के लिये संक्षेप मात्र होंगे। किन्तु इससे समस्या के समाधान में कोई प्रगति नहीं होती क्योंकि हम केवल समस्या का भार 'मैं क्रुद्ध हूँ' से उठा कर 'मैं जानता हूँ . . . .' पर रख देते हैं।

यहां हम 'मैं' और 'तुम' पदों की समस्या के सम्मुख हैं। किन्तु इस पर विचार करने से पूर्व हम 'ज्ञान' तथा 'ज्ञान विषय' की अवधारणाओं पर विचार करेंगे। सामान्यतः ज्ञानस्थिति को दो भागों में बांटा जा सकता है: ज्ञान तथा ज्ञान-विषय। यह विभाजन हमारे ज्ञानस्थिति को व्यक्त करने वाले वाक्यों में स्पष्टतः पूर्वकल्पित है। जैसे-'मैं जानता हूं कि यह वृक्ष है' अथव 'मुझे अवगत है कि मेरे सम्मुख वृक्ष है'। इन वाक्यों में 'अवगति' तथा 'विषय' पूर्वकल्पित प्रतीत होते हैं। इसीलिये ज्ञानस्थिति में इस द्वैत की विद्यमानता लागू की जाती है। किन्तु इसके विरुद्ध यह तर्क किया जाता है

४. पीछे 'वि. सा. अ.' तथा "अर्थ मीमांसा" निबन्ध द्रष्टव्य।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि यह अवधारणा असीम निवर्तन दोष को लागू करती है: यदि 'यह वृक्ष है' वाक्य के ज्ञानविषय का वाचक होने के लिये यह आवश्यक है कि यह 'मैं जानता हूँ कि यह वृक्ष है' वाक्य का अंग हो तो इस वाक्य के लिये भी यह आवश्यक है कि यह 'मैं जानता हूँ,कि मैं जानता हूं,कि यह वृक्ष है' वाक्य का अंग हो। ऐसी स्थिति में ज्ञानस्थिति में ज्ञान की विषय से पृथक् कल्पना दोषपूर्ण है। किन्तु हमारे विचार में इस दोष का परिहार एक अन्य प्रकार से हो सकता है। हमने "मनस्तत्व"* में यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान स्थिति में ज्ञान–व्यापार को ज्ञान–विषय से पृथक् नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार, जब वृक्ष मेरे ज्ञान का विषय है तो इस ज्ञान-स्थिति में ज्ञान स्वयं विषय से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। हमारे प्राचीन दार्शनिकों ने ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी है जो विषयां को प्रकाशित करता है। इस कल्पना का कारण यह है कि वे विषय को एक स्वतन्त्र और सर्वसामान्य अस्तित्व मानते हैं जो किसी रहस्यमय ढंग से इस रहस्यमय अस्तित्व—ज्ञान के सम्पर्क में आता है। इस कल्पना में यद्यपि ज्ञान स्वतन्त्र अस्तित्व है किन्तु यह व्यक्त तब होता है जब यह विषय के सम्पर्क में आता है। यह कल्पना सांख्य के प्रकृति–पुरुष की कल्पना जैसी है। किन्तु यह कल्पना न केवल तार्किक दृष्टि से दोष–पूर्ण है प्रत्युत यह किसी भी अन्य दृष्टि से अनावश्यक है। हमारी मूलवाक्यों की अवधारणा में यह स्वयं तिरोहित हो जाती है। 'यह रक्त है' द्वारा व्यक्त ज्ञानस्थिति में विषय स्वतन्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त, भ्रम की व्याख्या ज्ञानस्थिति में विषय की स्वतन्त्र कल्पना से असम्भव हो जाती है। यदि ज्ञानस्थिति में ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है तो रस्सी में सांप का भ्रम होने पर यह किस विषय को प्रकाशित करता है ! किन्तु हम "अवगति" को एक अन्य प्रकार से पुनः प्रवेश दे सकते हैं। 'यह वृक्ष है' एक अवगति की स्थिति का वाचक है और इसी प्रकार 'मैं जानता हूँ कि यह वृक्ष है' एक अन्य अवगति की स्थिति का वाचक है। प्रथम स्थिति में अवगति केवल 'यह वृक्ष है'–वत् है और द्वितीय में यह 'मैं जानता हूँ कि यह वृक्ष है'–वत् है। इस प्रकार द्वितीय स्थिति प्रथम स्थिति का समावेश करती है। इसी प्रकार 'मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ कि यह वृक्ष है'-वत् स्थिति भी हो सकती है और इसी प्रकार अनन्त स्थितियां तर्कतः सम्भव हैं; किन्तु कोई एक स्थिति अपने से अधिक काम्प्लेक्स स्थिति को लागू नहीं करती। किन्तु 'यह वृक्ष है' तथा 'मैं जानता हूँ कि यह वृक्ष है' वाक्यों में अन्तर है। प्रथम वाक्य में जबकि एक ही स्थिति है और इस प्रकार इसमें एक स्थिति दूसरी स्थिति की (टेक्स्ट) नहीं है, द्वितीय वाक्य में दो स्थितियां हैं और एक दूसरी में निहित है। इस स्थापना का लाभ स्पष्ट है। जबकि 'मैं जानता हूँ कि . . . .' आदि वाक्यों को उचिततया निर्मित वाक्य स्वीकार किया जाता है, इस

* द्रष्टव्य मनस्तत्व में मन और पदार्थ अध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकृति से अनन्तनिवर्तन दोष उत्पन्न नहीं होता ।

यहां प्रश्न किया जा सकता है कि 'यह वृक्ष है' वाक्य को अवगति के प्रसंग से पूर्णतः निरपेक्ष क्यों नहीं मान लिया जाता ?—क्योंकि यह वाक्य केवल वृक्ष की विद्यमानता का प्रकथन करता है और यह पूर्वकल्पित नहीं करता कि यह किसी की अवगति का विषय है । ब्राड की असंवेदित संवेदों की अवधारणा का एक आधार यह भी है । किन्तु जैसाकि हमने मनस्तत्व में दिखाया है, यह अवधारणा पूर्णतः भ्रान्त है । इसकी भ्रान्तता केवल इस बात में ही नहीं है कि 'जो संवेद है वह असंवेदित है' यह वाक्य परिभाषया अन्तर्विरोधपूर्ण है, प्रत्युत इस बात में भी है कि यह प्रदत्त (कांस्टेन्ट) तथा अनिश्चित (वेरियेबल) के भेद को भी समाप्त कर देता है । जैसाकि हमने वि. सा. अ. निबन्ध में दिखाया है, 'यह रक्त' वाक्य में 'यह' तथा 'रक्त' एक ही विशिष्ट स्थिति के वाचक हैं और इन्हें अस्तित्व वाक्य में नहीं बदला जा सकता । प्रदत्त तथा अनिश्चित का यह विभेद आधारभूत है और इसका विलय तार्किकरूप से घातक है । ब्राड की कठिनाई यह है कि संवेद विषयों को मानसिक किस प्रकार कहा जाय ? उनके अनुसार, मानसिक स्थितियां रक्त, त्रिकोण आदि नहीं हो सकतीं । किन्तु जैसाकि हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही कहा है,"मानसिक" तथा "भौतिक" की अवधारणाएं मूलवाक्यों की अवधारणा में पूर्वकल्पित नहीं हैं प्रत्युत "मानसिक" तथा "भौतिक" की अवधारणाओं में मूलवाक्यों की अवधारणा पूर्वकल्पित है । और मूलवाक्यों में प्रदत्त वस्तु तथा संवेद में भेद के लिये कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि यदि संवेद 'यह रक्त है' रूप नहीं है तो 'यह रक्त है' वाक्य इस प्रकार विश्लेष्य होगा 'यह संवेद है, तथा कुछ रक्त है जो इस संवेद को प्रदत्त है' । और यह स्थापना समस्याओं की एक दीर्घ शृंखला को जन्म देती है । सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि मूलवाक्यों की तार्किक अवधारणा का सम्पूर्ण उद्देश्य ही इससे पराजित हो जाता है । यह व्याख्या तार्किक अवधारणा को वैज्ञानिक विवेचन से अपला देती है । और वैज्ञानिक विवेचन के स्तर पर भी, जैसाकि मनस्तत्व में हमने दिखाया है, यदि संवेद रक्त-वत् है, तो संवेद को रक्त मानने में क्या आपत्ति है ? 'रक्तता' आदि संवेदों के उचित विशेषण नहीं हो सकते,किन्तु यह प्रश्न कि "रक्त के संवेदन में रक्तता संवेदन से पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व है क्योंकि संवेद रक्त नहीं हो सकते" भिन्न प्रकार का है और भ्रमात्मक है । ब्राड की समस्या परिभाषा की समस्या है और वे इसके प्रति सचेत प्रतीत नहीं होते । मानसिकता की अवधारणा परिभाषया ऐसी है कि उसके संज्ञा पद 'रक्त','त्रिकोण' आदि से विशेषित नहीं किये जा सकते । किन्तु वे यह नहीं देख पाते कि जिस स्तर पर 'रक्त', 'पीत' आदि का प्रयोग वे कर रहे हैं वह "मानसिकता" की अवधारणा के स्तर से अधिक प्राथमिक है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानसिक और भौतिक

इस प्रकार हम 'यह रक्त है' में संवेद तथा प्रदत्त में भेद नहीं करते प्रत्युत इसे सद्यः प्रदत्त का वाचक अथवा संवेद वाक्य ही मानते हैं। किन्तु यह कहा जा सकता है कि 'यह अवगत है कि यह रक्त है' में प्रदत्त का वाचक केवल 'यह रक्त है' ही है, 'यह अवगत है' नहीं। 'यह अवगत है' तो प्रदत्त तथा ग्राहक में भेद के स्वीकार पर आधारित है। अब इसमें सन्देह नहीं है कि यह मिश्र वाक्य है और इसमें दो उपवाक्य हैं, तथा ये उपवाक्य परस्पर सम्बद्ध हैं। यहां अनेक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्यायें सिर उठाती हैं: इस मिश्र वाक्य में उपवाक्यों का क्या सम्बन्ध है? कुछ दार्शनिकों के अनुसार प्रथम उपवाक्य मानसिक व्यापार का वाचक है और द्वितीय भौतिक वस्तुस्थिति का। (यहां हम 'यह रक्त है' द्वारा व्यक्त वस्तुस्थिति को उसी प्रकार 'अवगति' की वस्तु (कांटेंट) (अथवा अधिक ठीक शब्दों में—टैक्स्ट) के रूप में स्वीकार्य समझते हैं जिस प्रकार 'यह वृक्ष है' द्वारा व्यक्त वस्तुस्थिति को)। इनके अनुसार ऐसे वाक्य मानसिक और भौतिक में सम्बन्ध के वाचक हैं। दूसरों के अनुसार 'यह रक्त है' अथवा 'यह पत्थर है' आदि भी मानसिक वस्तुस्थिति के ही वाचक हैं, क्योंकि 'यह पत्थर है' द्वारा व्यक्त वस्तुस्थिति मानसिक वस्तुस्थिति की अंग मात्र (अथवा टैक्स्ट) है। प्रथम स्थिति परम्परागत मानसिक व्यापारवादियों (एक्शन थीयरिस्ट्स) की है और द्वितीय, जैसाकि कभी कभी कहा जाता है, प्रदृश्यतावादियों (फिनोमिनलिस्ट्स) की। हमारे विचार में ये दोनों ही स्थितियां युक्त हैं। प्रथम स्थिति की कठिनाई दर्शन के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं। यह कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब कि हम उस स्तर पर "मानसिक" तथा "भौतिक" की अवधारणाओं को ले जाते हैं जिस स्तर पर इन अवधारणाओं के विश्लेषक वाक्य प्रयुक्त होते हैं। 'मानसिक' अथवा 'भौतिक' परिभाषित विधेय हैं जबकि 'अवगत' आदि पद अपरिभाषित विधेय हैं। 'यह वृक्ष है' आदि में प्रयुक्त वृक्ष आदि पद समस्याएं उत्पन्न करते हैं, क्योंकि ये सद्यः प्रदत्त के वाचक नहीं हैं और हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि हम ऐसी वस्तुस्थितियों से भी अवगत होते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम ऐसी मिश्र वस्तुस्थितियों को भौतिक नहीं मानें अथवा इन्हें सरल वस्तुस्थितियां मानें। उचित यह है कि हम मानसिकता तथा भौतिकता की अवधारणाओं को इस प्रकार रचित करें कि ये 'यह अवगत है कि . . . यह वृक्ष है' जैसी वस्तुस्थितियों को अबूझ पहेली न बना दें। यही तर्क हमारा उस स्थिति के विरुद्ध है जिसे प्रदृश्यता-वादी की स्थिति कहा जाता है। किन्तु वास्तव में प्रदृश्यतावादी का इस स्थिति को स्वीकार करना न केवल आवश्यक ही नहीं है प्रत्युत अनुचित भी है। प्रदृश्यतावाद एक विश्लेषण प्रणाली है जो अवधारणाओं की व्याख्या सरल विधेयों की पदावली में करती है। इस पदावली के अनुसार 'यह अवगत है' अथवा 'यह स्मृत है' तथा 'यह सद्यः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रदत्त है' आदि वाक्यांश अपरिभाषित विधेयों को व्यक्त करते हैं, अथवा कहें, ये सरल वस्तुस्थितियों के वाचक हैं और एक अन्य वस्तुस्थिति की अपने टेक्स्ट के रूप में अपेक्षा करते हैं।

किन्तु इस स्थिति की एक दूसरी कठिनाई है: दो वस्तुस्थितियां तर्कतः स्वतन्त्र हैं, इस प्रकार कि एक वस्तुस्थिति के होने पर दूसरी का होना तर्कतः अनिवार्य नहीं है। किन्तु 'यह अवगत है . . .' वाक्य अपने आपमें पूर्ण नहीं है, यह एक अन्य वाक्य की अपेक्षा करता है जो किसी वस्तुस्थिति का वाचक है। इस प्रकार प्रथम वाक्य स्वयं किसी वस्तु-स्थिति का घटक नहीं हो सकता। हमारे विचार में इस समस्या का एक समाधान यह है कि 'यह अवगत है. . . .' वाक्य को विधेय तथा आधीन वाक्य को उद्देश्य के रूप में पुनारचित किया जाय। इस प्रकार यह वाक्य इस प्रकार पुनारचित किया जा सकता है 'यह अवगत है [वृक्ष (यह)]'। ब्रैकटों के भीतर के वाक्य को 'व०' संज्ञा देते हुए तथा बाहर के वाक्य को 'अव०' संज्ञा देते हुए इसे 'अव० (व०)' के रूप में रखा जा सकता है। अब 'व०' उसी प्रकार 'अव०' की विशिष्टता का विधान करता है जिस प्रकार 'र (अ)' में 'अ' विशिष्टता का विधान करता है। इन वाक्यों में 'अव०' एक विशेष अवगति की स्थिति है जो 'व०'-वत् है। अतः अपने मूल रूप में ये वाक्य होंगे: 'यह दृष्ट है कि (यह वृक्ष है)', 'यह स्मृत है कि (यह वृक्ष है)' आदि। जैसाकि हमने अभी पीछे कहा है 'व०' वाक्यों का सरल वस्तुस्थितियों का वाचक होना अनिवार्य नहीं है. अतः ये वाक्य कितने भी श्लिष्ट हो सकते हैं– यथा 'यह अवगत है कि (यह वृक्ष नहीं है)'। इन उद्देश्य वाक्यों के इस प्रकार श्लिष्ट (मिश्र) होने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। 'यह अवगत है' 'यह मेज़ है' द्वारा व्यक्त स्थिति को एक नवीन गुण से युक्त करता है जो अपने आपमें अविश्लेष्य है। किन्तु यह इसे इस प्रकार से किसी गुण से युक्त नहीं करता जिस प्रकार 'मेज़ लाल है' में 'लाल' पद 'मेज़' को करता है, क्योंकि 'यह अवगत है' वाक्य विशेषण वाक्य नहीं है।

'अवगति' इन प्रयोगों में किसी घटना का वाचक नहीं है, जैसे 'राम खेल रहा है' अथवा 'राम सोच रहा है' घटनाओं के वाचक हैं, और न ही यह यहां किसी योग्यता का वाचक है, जिस प्रकार 'राम बलिष्ठ है' अथवा 'राम चालाक है' योग्यताओं के वाचक हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'राम को अवगत है कि . . .' वाक्य योग्यता का वाचक भी है। वास्तव में यह अन्य अनेक प्रयोगों में योग्यता का वाचक है, जैसाकि राइल[7] ने दिखाया है, और इस अर्थ को इसका एक मात्र उचित प्रयोग-प्रसंग माना है। किन्तु यह पद 'यह अवगत

७. जी. राइल-दि कांसेप्ट आफ माइंड में 'नोइंग हाउ एंड नोइंग देट' अध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि 'यह मनुष्य है' आदि वाक्यों में एक वस्तुस्थिति के वाचक रूपमें भी प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि यहां इसका अनिवार्यतः यह अभिप्राय नहीं है कि वस्तुस्थिति स में य अमुक अमुक प्रकार का व्यवहार करेगा। इसके विपरीत, इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुस्थिति स१ के प्रसंग से एक घटना घ१ घटित होती है जो एक अन्य वस्तुस्थिति है, और यह घ१ केवल स१ के प्रसंग से ही घटित हो सकती है, स्वतन्त्ररूप से नहीं। जैसाकि हम पीछे कह आये हैं, 'अवगत' पद सदैव 'ज्ञात' का पर्याय नहीं है, क्योंकि 'अवगत' पद 'यह स्मृत है कि मैं अभी सो रहा था', 'यह स्मृत है कि मैंने प्रातराश किया था', 'यह अप रोक्षतः प्रदत्त है कि यह रक्त है' में प्रयुक्त 'स्मृत', 'अनुभूत' आदि के स्तर पर प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार यह 'अवगत' के घटनात्मक तथा योग्यतात्मक प्रयोगों से भिन्न है।

हमारे पिछले प्रतिपादनानुसार 'यह अवगत है' वाक्य 'यह रक्त है' वाक्य के अर्थ का भाग है, क्योंकि यह असम्भव है कि 'अ संवेद है' और 'अ संवेदित नहीं है'। किन्तु यह प्रतिपादन दोषपूर्ण है। उस अवस्था में 'यह अवगत है कि . . . .' का प्रयोग कोई नवीन सूचना नहीं दे सकता और तब 'यह अवगत है कि यह अवगत है कि . . . " भी कोई नवीन सूचना नहीं देगा, क्योंकि 'कि . . .' के पश्चात् अपेक्षित वाक्यांश पूर्व वाक्यांश–'यह अवगत है' के अर्थ का भाग हो जायगा। किन्तु स्पष्टतः 'यह अवगत है' का प्रत्येक नवीन प्रयोग नवीन सूचना देता है, यह आधीन वाक्य का समावेश कर उसका अतिक्रमण करता है। इस प्रतिपादन के अनुसार 'यह रक्त है' वाक्य अवगति की स्थिति का वाचक नहीं है; क्योंकि यदि 'यह अवगत है' वाक्य सार्थक है तो कम से कम एक वाक्य ऐसा होना आवश्यक है जो इसके साथ पूरकरूप में प्रयुक्त हो। 'यह अवगत है' कि यह अवगत है कि यह अवगत है कि यह रक्त है' में प्रथम 'यह अवगत है कि . . .' का अपसारण करने पर द्वितीय 'यह अवगत है कि . . .' अवगत वस्तु का वाचक नहीं रहता और इसी प्रकार द्वितीय 'यह अवगत है कि . . .' अवगत वस्तु का वाचक नहीं रहता। किन्तु अन्तिम 'यह अवगत है' का अपसारण एक नवीन स्थिति उत्पन्न कर देता है, उस अवस्था में हमारा वाक्य उसी प्रकार एक विधेय से वंचित हो जाता है जिस प्रकार बाहरी वृत्तों का क्रमशः अपसारण अन्त में सब से भीतरी वृत्त को 'भीतर होने' के विशेषण से वंचित कर देता है।

अनन्त निवर्तन दोष (इन्फिनीट रीग्रेस) इस व्याख्या में भी नहीं है, क्योंकि यह मूलवाक्य में अवगति तथा अवगत वस्तु में भेद नहीं करती। यह दोष केवल तभी उत्पन्न होता है यदि मूलवाक्य में यह भेद किया जाय तो। यह प्रतिपादन पूर्व प्रतिपादन से अधिक उचित है, क्योंकि मूलवाक्यों को इस प्रकार हम उनके प्रसंग तक सीमित रखते हैं। 'यह रवत है' वाक्य सर्वप्रथम एक घटना का वाचक है, जिसे हम रक्त संवेद की घटना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कह सकते हैं, और दूसरे, यह वस्तुवाक्यों से लागू होता है।

यहां एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। हमने पीछे 'यह वृक्ष है' को अवगति से युक्त वस्तु (कांटेंट) का वाचक माना है और इस सम्पूर्ण स्थिति को 'यह वृक्ष है'–वत् अवगति कहा है। इसके पश्चात् इसका निषेध करते हुए हमने कहा है कि न ऐसे वाक्य "अवगति"–मय* हैं और न ये "अवगति" की अनिवार्यतः अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार हमने द्वितीय प्रतिपादन से प्रथम का निषेध किया है। किन्तु प्रथम स्थिति में हमने अवगत तथा अवगति में भेद नहीं किया, इसके पश्चात् इस स्थिति का प्रत्याख्यान करते हुए यह भेद किया है, जो आवश्यक है। ब्राड भी वास्तव में 'यह रक्त है' वाक्य में अवगत तथा अवगति में भेद नहीं करते प्रत्युत संवेदन तथा संवेद-प्रदत्त में भेद करते हैं। संवेदन तथा संवेद-प्रदत्त में भेद करना अनुचित है, जैसाकि हमने मनस्तत्व में दिखाया है, और पीछे भी संकेत किया है। किन्तु अवगत तथा अवगति में भेद अनिवार्य है।

'अवगत' को विधेय स्वीकार करने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम "अवगत करने वाले" को भी स्वीकार करते हैं,जिस प्रकार 'रक्त है' स्वीकार करने का यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि कोई वस्तु रक्त है। हम अनेक बार ऐसी स्थितियां का अनुभव करते हैं, अथवा कहें, ऐसे अनुभव घटित होते हैं, जो 'अवगत हैं' द्वारा व्यक्त होते हैं,जबकि हम ऐसी स्थिति का अनुभव नहीं करते जिसमें अनुभवकर्ता घटित हो। इस प्रकार 'रक्त है' के समान ही 'अवगत है' भी सरल तथा अपरिभाषित विधेय है, अन्तर केवल इतना है कि जबकि 'रक्त' आदि विधेयों के उद्देश्य 'रक्त' की विशिष्टता से अधिक कुछ व्यक्त नहीं करते, उद्देश्य के रूप में 'यह रक्त है' आदि उपवाक्य तथ्य को व्यक्त करते हैं।

भौतिक भाषावादी (फिज़ीकलिस्ट्स) 'यह रक्त है' जैसे वाक्यों को व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'अमुक अमुक पदार्थ रक्त दिखाई देता है'। 'दिखाई देता है' का वे भौतिक भाषा की सीमा के अन्दर ही रखते हैं। इससे आगे, वे ऐसे वाक्यों जैसे 'मैं क्रुद्ध हूँ' को भी इस प्रकार पुनारचित करते हैं,यथा 'मैं (मेरा शरीर) अमुक अमुक प्रकार का व्यवहार कर रहा हूँ'। अब यह पुनारचना न तो तर्कतः युक्त है और न सामान्य प्रयोग के अनुसार है! उदाहरणतः यह कहना अन्तर्विरोधपूर्ण नहीं है: "मैं क्रुद्ध हूँ यद्यपि मेरा व्यवहार सर्वथा इसके विपरीत है' अथवा 'मैं क्रुद्ध था यद्यपि मुझे नहीं मालूम कि यह मेरे व्यवहार में भी प्रकट था'। किन्तु भौतिक भाषावादी कहेंगे कि उनकी प्रतिज्ञा यह नहीं है कि सब मनोवैज्ञानिक वाक्यों का अनुवाद प्रकट व्यवहार की भाषा में

*यह अभिव्यक्ति संक्षेप के कारण अपनायी गई है। वाक्य अवगतिमय नहीं होते। अभिप्रेत है-ऐसे वाक्यों से वाचित स्थितियां।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्भव है। किन्तु उनका दावा है कि सब मनोवैज्ञानिक वाक्यों का अनुवाद शरीर की भौतिक अवस्थाओं के वाचक वाक्यों में सम्भव है। उदाहरणतः 'मैं क्रुद्ध हूं' का अनुवाद वे करेंगे 'मेरा शरीर अमुक अमुक प्रकार की अवस्था में है' इत्यादि। 'मैं क्रुद्ध हूँ' जैसे वाक्यों को हम व० वाक्य कहेंगे। तर्क के लिये यह मान लेने पर भी कि व० वाक्य भौतिक भाषा में अनुवाद्य हैं, उससे हम अव० वाक्यों की अनुवाद्यता मानने के लिये वाध्य नहीं हैं, क्योंकि ये वाक्य व० वाक्यों से आधारतः भिन्न हैं, व० वाक्य अव० वाक्यों में एक घटक मात्र हैं। जैसे 'मैं क्रुद्ध हूँ' का अनुवाद भौतिक भाषा में कर लेने पर 'यह अवगत है कि मैं क्रुद्ध हूँ' वाक्य के स्थान पर 'यह अवगत है कि मेरा शरीर अवस्था अ में है' हो जायगा। अतः यदि 'यह अवगत है . . . .' उचित विधेय है तो इसका अनुवाद भौतिक भाषा में असम्भव है।

राइल ने अव० वाक्यों को व्यवहार-वाक्यों में अनूदित करने का प्रयत्न किया है। यहां हम उस विवाद के विस्तार में नहीं जाना चाहते। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि 'यह अवगत है . . . .' के कुछ प्रयोग निश्चितरूप से उस प्रकार से अनुवाद्य नहीं हैं। कुछ अवस्थाओं में 'यह अवगत है' योग्यता या डिस्पोज़ीशन का वाचक नहीं है, यह स्वयं एक घटना है जो 'यह रक्त है' आदि तर्कवाक्यों द्वारा व्यक्त घटनाओं से स्वतन्त्र और इनकी सहगामी है। इसके विरुद्ध उनकी अनन्त निवर्तन दोष लागू होने की आपत्ति भी परिहार्य है, यह हम देख ही चुके हैं।

किन्तु भौतिक भाषावाद की अप्रतिष्ठा प्रदर्शित करने के लिये 'अव०' वाक्यों की आवश्यकता नहीं है, इनकी अप्रतिष्ठा प्रदर्शित करने के लिये 'व०' वाक्य ही पर्याप्त हैं। 'रक्त संवेद घटित होता है' वाक्य ही लें। अब यह पूर्णतः स्थापित हो जाने पर भी कि अमुक अमुक प्रकार से शरीर व्यापारित होने पर रक्त संवेद घटित होता है, दोनों को किसी भी प्रकार से समानार्थक नहीं कहा जा सकता। सर्वप्रथम, शारीरिक व्यापार सम्बन्धी वाक्य संवेद वाक्यों में विघटनीय हैं, और दूसरे 'रक्त संवेद' तथा 'अमुक अमुक प्रकार का शारीरिक व्यापार' उतने ही परस्पर भिन्नार्थक हैं जितने 'मुझे गर्मी लग रही है' तथा 'वैरोमीटर पर तापमान त डिग्री है' भिन्नार्थक हैं। यहां पुटनम तर्क करता है कि यद्यपि ये दोनों वाक्य अर्थ में भिन्न हैं किन्तु इनका संकेत्य (रेफरेंस) एक ही है, जिस प्रकार, 'भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा' के संकेत्य एक ही हैं किन्तु अर्थ भिन्न हैं। किन्तु पुटनम का यह तर्क यहां पूर्णतः निराधार है, क्योंकि जबकि 'भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा' का एक ही संकेत्य होना पूर्वज्ञात है, 'रक्त संवेद' था 'शारीरिक व्यापार' का एक ही संकेत्य होना न केवल पूर्वज्ञात नहीं है प्रत्युत यह किसी खोज के आधार पर भी कभी स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि कोई खोज अधिक से अधिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह दिखा सकती है कि अमुक प्रकार की शारीरिक स्थिति होने पर अमुक अमुक प्रकार के संवेद घटित होते हैं, किन्तु वह यह नहीं दिखा सकती कि 'शरीर स्थिति' तथा 'संवेद' समानार्थक पद हैं। यह चपला तीन भ्रान्तियों के कारण उत्पन्न हुआ हो सकता है। सर्वप्रथम, यह भुला दिया गया है कि 'अमुक अमुक प्रकार की शरीर स्थिति' स्वयं 'अमुक अमुक संवेद' में विघटनीय है; और दूसरे, जबकि संवेद अ किसी भौतिक स्थिति भ का घटक कहा जा सकता है, यह उस स्थिति का घटक नहीं कहा जा सकता जो इससे सम्बन्धित (कोरिलेट) की जाती है। तीसरे, 'भोर का तारा' तथा 'संध्या का तारा' का संकेत्य एक ही वस्तु है जो न मात्र भोर का तारा है और न मात्र संध्या का तारा है, किन्तु 'रक्त श्रव' तथा 'शरीर स्थिति . . . .' द्वारा संकेत्य ऐसी किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती जो दोनों में समान हो। कार्नप आदि भौतिक भाषावादियों ने इस अर्थ तथा संकेत के भेद का लाभ इस प्रसंग में नहीं उठाया है, उन्होंने तो मानसिकता सम्बन्धी वाक्यों को शरीर सम्बन्धी वाक्यों में विघटनीय माना है। उनका तर्क है कि मनोवैज्ञानिक वाक्य सर्वसामान्य रूप से (इन्टर सब्जेक्टिवली) प्रमाणीकरणीय नहीं हैं, अतः यदि ये भौतिक भाषा के वाक्यों में विघटनीय नहीं हैं तो ये निरर्थक हैं। किन्तु प्रमाणीकरण की शर्त से भौतिक भाषावादी द्वैतवादी स्थिति का खण्डन नहीं कर सकता क्योंकि द्वैतवादी मानसिकता की अवधारणा के लिये व्यक्तिगतता (सब्जेक्टिविटी) को अनिवार्य शर्त मानता है। अतः भौतिक भाषावादी को दिखाना यह है कि किन्हीं भी वाक्यों का वाच्य विषय व्यक्तिगत नहीं है। कार्नप ने ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे न केवल सफल ही नहीं रहे हैं प्रत्युत उन्होंने भ्रामक रचनाओं का आश्रय भी लिया है। वास्तव में सर्वसामान्यता को भाषा की सार्थकता की आवश्यक शर्त मानने वाले यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि कुछ व्यक्तिगत है, चाहे वे इसे भाषा द्वारा अप्रकाश्य ही मानें। और जैसाकि हमने मूलवाक्य अध्याय में दिखाया है, भाषा की सार्थकता व्यक्तिगतता को पूर्वकल्पित करती है। उदाहरणतः, कार्नप वाक्य प२ 'मैं अब आवेश में हूं' तथा प२ 'मैं अब आवेश में हूँ' को क्रमशः योजना (सिस्टम) वाक्य तथा मूलवाक्य कहते हैं और मूलवाक्य को अप्रत्याख्येय मानते हैं। पुनः, सिस्टम वाक्य को मूलवाक्य प१ 'मैं अपने हाथ कांपते देख रहा हूँ', 'मैं अपने हाथ कांपते अनुभव कर रहा हूं' आदि द्वारा प्रमाणीकरणीय मानते हैं, और फिर इस सिस्टम वाक्य को भौतिक वाक्य प२ 'मेरा शरीर अब उस अवस्था में है जो मेरे अपने निरीक्षणों में अमुक-अमुक प्रकार के आवेशात्मक गुण प्रकट करता है' का पर्याय बताते हैं और तब आगे कहते हैं कि ये गुण वे हैं जो मेरे प१ प्रकार के तथा प२ प्रकार के मूलवाक्यों में घटित होते हैं।[९] यह

९. पोज़ीटिविज़्म-सं० ए. जे. एयर, पृ० १६१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानसिक और भौतिक

एक अत्यन्त विचित्र स्थिति प्रतीत होती है कि सिस्टम वाक्य, जिसके मूलवाक्य 'मैं अपने हाथ कांपते देखता हूँ' आदि हैं, उसी के ऐसे मूल वाक्य भी हों जैसे 'मैं अब आवेश में हूँ', क्योंकि इन दो प्रकार के मूल वाक्यों के निर्देश सर्वथा भिन्न हैं। दूसरे, 'मैं अपने हाथ कांपते देख रहा हूँ' केवल इतना लागू करता है कि 'चाक्षुष संवेद घटित हो रहे हैं', जबकि 'मैं अब आवेश में हूँ' लागू करता है कि आवेशवत् अनुभव विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, जबकि सिस्टम वाक्य, 'मैं आवेश में हूँ' और 'मैं अपने हाथ कांपते नहीं देखता हूँ' आत्मबाधक (सेल्फ कंट्रेडिक्टरी) नहीं हैं, इसके विपरीत, यह आत्म बाधक है कि 'मैं आवेश में हूँ' और 'न-(मैं अब आवेश में हूँ)'।

कार्नेप का उत्तर होगा कि अनुभव सम्बन्धी वाक्य भी वास्तव में व्यक्ति के व्यवहार अथवा उसकी शरीर-स्थिति के सम्बन्ध में वाक्य हैं। इस प्रकार कार्नेप, जो 'भौतिकवादी भाषा' उन प्रकथनों को कहते हैं जो भौतिक विषयों अथवा घटनाओं के सम्बन्ध में प्रकथन हैं, तथा "प्रोटोकोल भाषा" उन प्रकथनों के लिये प्रयुक्त करते हैं जो व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभवों के वाचक हैं, पुनः यह प्रतिपादित करते हैं कि हम भौतिक भाषा को तभी समझ सकते हैं यदि प्रोटोकोल भाषा का समावेश भी इसी में किया जाय। उनके अनुसार, भौतिक वाक्यों के प्रमाणीकरण के लिये यह आवश्यक है कि वे प्रोटोकोल वाक्यों को लागू करें, अन्यथा भौतिक वाक्य अनुभवों से विच्छिन्न हो कर अधर में लटकेंगे। किन्तु यदि प्रोटोकोल वाक्य भौतिक वाक्यों से लागू होते हैं तो स्वंय इन वाक्यों को भी भौतिक तथ्यों के सम्बन्ध में होना चाहिये, क्योंकि अन्यथा इसका एकमात्र अन्य सुलझाव यह है कि भौतिक वाक्य अनुभव के विषयों के सम्बन्ध में हों। किन्तु अनुभवों के व्यक्तिगत होने पर यह असम्भव हो जाता है। इस प्रकार यह तर्कपरम्परा अन्तर्विरोधपूर्ण है। कार्नेप की इस पहेली का समाधान हम मूलवाक्य तथा अर्थमीमांसा अध्यायों में कर चुके हैं। जैसाकि हमने वहां प्रतिपादित किया है, भौतिक-विषय-वाक्य अनुभवों से विच्छिन्न नहीं हैं, वे अनुभववाक्यों के सम्बन्ध में ही प्रकथन हैं, किन्तु वे किसी निश्चित इस या उसके अनुभवों के सम्बन्ध में प्रकथन नहीं हैं, वे किसी के भी अनुभवों के सम्बन्ध में प्रकथन हैं।

इस प्रकार, भौतिक भाषावाद सामान्य अवधारणाओं का निषेध कर किसी समस्या का अधिक सरल समाधान प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत प्रश्नों को अपला देता है। यह कहना एकदम भ्रामक है कि यदि मन को व्यवहार अथवा शरीर-स्थिति न माना जाय तो मनोवैज्ञानिक वाक्य अप्रमाणीय होंगे। यदि इनका यह तर्क मान लिया जाय तो 'मेरे हाथ कांप रहे हैं', 'मेरा चेहरा लाल है' आदि वाक्य सत्य होने पर यह केवल पुनरुक्ति मात्र होगी कि 'मैं क्रुद्ध हूं'; जिस प्रकार 'मेज़ वर्गाकार है' सत्य होने पर 'मेज़ के चारों कोने परस्पर समान दूरी पर हैं' पुनरुक्ति मात्र है। किन्तु मनोवैज्ञानिक वाक्यों के प्रमाणीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने के लिए उनको व्यवहार आदि से अभिन्न मानना आवश्यक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे मनोवैज्ञानिक नियमों की स्थापना की जाय जिनके आधार पर मनःस्थितियों के सम्बन्ध में प्रकथन पश्चानुभविकरूप से व्यवहार (अथवा शरीर स्थितियों) के सम्बन्ध में प्रकथनों को लागू करें। यही वास्तव में सामान्यतः होता भी है। किसी की विशेष प्रकार की मुद्रा देख कर हम कहते हैं, वह दुखी है। उससे हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि मुद्रा म तथा 'दुखी' विधेय पर्याय हैं। हम केवल इन दो विधेयों में ससम्बन्ध स्थापित करते हैं, अतः भौतिकभाषावादी को अधिक से अधिक यह दावा करना चाहिये कि प्रत्येक मनोवैज्ञानिक विधेय के लिये कोई सम्बद्ध भौतिक विधेय खोज पाना सम्भव है, और कि इस प्रकार प्रत्येक मनोवैज्ञानिक विधेय सिद्धान्ततः भौतिक विधेयों द्वारा प्रमाणीय है।

यहां पुनः एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। सर्वप्रथम भौतिकभाषावाद की यह संशोधित प्रतिज्ञा भी स्वीकार्य नहीं है, किन्तु इसे मान लेने पर भी, मानसिक विधेय प्रमाणीय भौतिक विधेयों अथवा आरोपितों के समान स्थायी अभ्युपगम नहीं हैं। मानसिक विधेय, जैसे 'दुख', 'संवेद' आदि कुछ अवस्थाओं में (उदाहरणतः जब 'वह दुखी है' में कहने वाला 'वह' से अभिन्न है) प्रदत्त के वाचक होते हैं और अतएव अभ्युपगम नहीं होते।

मनोवैज्ञानिक भाषा तथा भौतिक भाषा में यह आधारभूत अन्तर है कि जबकि भौतिक भाषा के विधेय स्थायी अभ्युपगम होते हैं, यथा 'यह मेज़ है' में 'मेज़' स्थायी अभ्युपगम का वाचक है, मनोवैज्ञानिक भाषा के कोई विधेय स्थायी अभ्युपगम नहीं होते। वास्तव में इसी से अन्य मनों की समस्या एक समस्या है। जबकि मैं 'मैं दुखी हूं', 'मेरे सिर दर्द है' आदि वाक्यों को अपने व्यवहार तथा शरीर-स्थिति का पर्याय नहीं मानता, 'उसके सिर दर्द है', 'वह दुखी है' आदि वाक्य न तो सद्यःप्रदत्त के वाचक हैं और न कोई ऐसी विधि ही है कि इन्हें व्यवहार अथवा शरीरस्थिति से सम्बद्ध किये बिना सत्यापित किया जा सके। इस प्रकार, 'मैं दुखी हूँ' तथा 'वह दुखी है' वाक्य आधारतः भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। वास्तव में यदि 'वह दुखी है' वाक्य के सत्यापन का अन्य कोई उपाय नहीं है, सिवाय विशेष व्यवहार अथवा शरीर-स्थिति सम्बन्धी वाक्यों का सत्यापन करने के, तो यह वाक्य या तो व्यवहार-वाक्यों का पर्याय है अथवा व्यवहार-सम्बन्धी विघटन वाक्यों (रिडक्शन सेंटेंसिस) द्वारा प्रस्तावनीय (इन्ट्रोड्यूसेबल) है। प्रथम अवस्था में ऐसे कुछ निश्चित व्यवहार-वाक्य हो सकते हैं जो प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक वाक्य की परिभाषा कहे जा सकें। द्वितीय अवस्था में, व्यवहार-वाक्य अपूर्णरूप से ऐसी अवस्थाओं का विशेषीकरण करते हैं जिनमें प्रस्तावित (इन्ट्रोड्यूस्ड) वाक्य को सत्यापित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया जा सके। ये विघटन वाक्य किसी भी अवस्था में प्रस्तावित विधेय के पर्याय नहीं होते, ये केवल हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं कि अमुक अमुक अवस्था में किसी विधेय को स्वीकार (एस्सर्ट) करने के लिये अमुक अमुक आधार हैं। ये विघटन वाक्य प्रस्तावित विधेय के अर्थ को अधिकाधिक निश्चित करते हैं, किन्तु ये कभी भी इसके पर्याय नहीं हो सकते। यदि प्रयोग की किसी स्थिति में, सिद्धान्त वाक्य-'यदि किसी का मुख लाल है और हाथ कांप रहे हैं तो वह क्रुद्ध है' को विशिष्ट वाक्य 'उसका चेहरा लाल है और हाथ कांप रहे हैं, किन्तु वह क्रुद्ध नहीं है' द्वारा खण्डित पाते हैं तब हम सिद्धान्त वाक्य अथवा विशिष्ट वाक्य किसी का भी निषेध कर सकते हैं। इस प्रकार विघटन वाक्यों का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए, यह स्वीकार्य है कि 'राम की मुख-मुद्रा दुखाभिव्यंजक है किन्तु सम्भव है कि वास्तव में वह दुखी न हो'। यहां हम राम के व्यवहार के परे नहीं पीछे झांकते हैं। 'पीछे झांकने' का यह अभिप्राय नहीं है कि हम किसी मानसिक वस्तु का अस्तित्व स्वीकार कर रहे हैं, प्रत्युत यह कि 'राम दुखी है' सार्थक वाक्य है और यह ऐन्द्रिय संवेदवाक्यों में विश्लेष्य नहीं है। इस स्थिति को स्वीकार करने के विरुद्ध अनेक कठिनाइयां हैं जिन पर विचार करना यहां आवश्यक है। 'राम अमुक अमुक प्रकार का व्यवहार कर रहा है' वाक्य श्याम के लिये कुछ मूलवाक्यों द्वारा सार्थक है, जो ऐन्द्रिय संवेद वाक्य हैं। वे सब वाक्य, जिनमें उत्तम पुरुष सर्वनाम घटित नहीं होते, हमारी अवधारणात्मक योजना के अनुसार ऐसे ही ऐन्द्रिय संवेद वाक्यों द्वारा सत्यापित होते हैं। किन्तु 'राम दुखी है' को हम ऐन्द्रिय संवेद वाक्यों द्वारा परिभाषित स्वीकार नहीं करते। अन्य मनों की समस्या का यही आधार है। किन्तु ऐसे वाक्यों को अनुमानात्मक कहना भी तार्किक भ्रम है, क्योंकि अनुमानात्मक वाक्य अगमनात्मक होते हैं: दृष्ट से अन्य अदृष्ट दृश्यों की ओर संक्रमण अनुमान है। अतः अनुमित वाक्य सिद्धान्ततः सत्यापनीय है। 'वह दुखी है' तर्कतः अदृश्य स्थिति का वाचक है यदि 'दुखी' पद ऐंद्रिय संवेदों के वाचक वाक्यों द्वारा प्रमाणीय नहीं है। अतः यह वाक्य अनुमान वाक्य नहीं हो सकता।

यह तर्क-प्रणाली हमें निम्न परिणाम पर पहुँचाती है: प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव व्यक्तिगत हैं और एक अनुभव परिभाषया दो मनों का उपभोग्य नहीं हो सकता। अतः जबकि 'मैं दुखी हूँ' वाक्य सद्यः प्रदत्त का वाचक है, 'वह दुखी है' या तो विशेष व्यवहार-वाक्यों का वाचक है अथवा निरर्थक है।

किन्तु यह निष्कर्ष कम भयावह नहीं है। सर्वप्रथम, यदि कोई मेरे से यह प्रश्न करता है कि 'क्या तुम दुखी हो?' तब मेरे लिये यह प्रश्न सिद्धान्ततः मेरे अनुभव के सम्बन्ध में नहीं होगा और इस प्रकार मैं इसका उत्तर हां या न में नहीं दे सकता। दूसरे,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रश्नकर्ता का यह प्रश्न मेरे लिये उसके व्यवहार-संस्थान का पर्याय होगा, मेरे अनुभव अथवा व्यवहार संस्थान के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं होगा। तीसरे, इससे यह सिद्धान्त, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही अनुभव को जान सकता है अन्य के अनुभव को नहीं, निराधार हो जायगा, क्योंकि 'अन्य व्यक्तियों के अनुभव' का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, अन्य व्यक्ति केवल व्यवहार समवाय हैं। यह पहेली, हमारे विचार में, बहुत कठिन पहेली नहीं है। 'वह दुखी है' वाक्यों को हम पीछे भी सार्थक कह आये हैं और इनकी सार्थकता हमारी भाषा के तर्क में निहित है। 'दुखी (अ)' वाक्य में 'अ' उत्तम पुरुष सर्वनाम का स्थानीय होने पर सद्यः प्रदत्त का वाचक है और अस्तित्व वाक्य '(∃ य) दुखी (य)' को लागू करता है। और अस्तित्व वाक्य किसी एक के लिए ही सत्य होने पर भी किसी के भी लिये सत्य हो सकता है। अब यदि इसका सत्यापन केवल तभी सम्भव हो जबकि यह उत्तम पुरुष सर्वनामी वाक्यों द्वारा स्थानान्तरित होता हो, इसकी सार्थकता के लिये स्थानान्तरण वाक्य की आवश्कता नहीं है। इस प्रकार, 'वह दुखी है' वाक्य हमारे लिये सार्थक है क्योंकि इसमें प्रयुक्त विधेय हमारे लिये सार्थक है। समस्या केवल इसके सत्यापन की है।

सत्यापन की समस्या अर्थ की समस्या से सर्वथा भिन्न है। 'वह दुखी है' वाक्य ही लें। यह कैसे कहा जा सकता है कि राम दुखी है जबतक कि राम के व्यवहार या कथन से यह प्रकट नहीं होता कि वह दुखी है? यह दावा करने का, कि हम राम के दुख-व्यवहार के बिना भी यह देख सकते हैं कि वह दुखी है, यह अभिप्राय होगा कि यह देखना कि "राम दुख-व्यवहार कर रहा है" तथा यह देखना कि "राम दुखी है" दो भिन्न बातें हैं। किन्तु राम के व्यवहार को दुख-व्यवहार कैसे कहा जा सकता है जब तक 'दुख' पद या तो सद्यः प्रदत्त का वाचक नहीं है अथवा परिभाषित पद नहीं है? और पुनः, राम के दुख-व्यवहार के बिना यह कैसे जाना जा सकता है कि वह दुखी है? इस प्रकार किसी व्यवहार को दुख-व्यवहार कहते हुए हम अनिवार्यतः मनोभौतिक द्वैतवाद को पूर्वकल्पित करते हैं। जहां तक दूसरी समस्या (व्यवहार से अनुभव के अनुमान की समस्या) का सम्बन्ध है, कुछ लोग उत्तर देना चाहेंगे कि हम टेलीपेथी के द्वारा व्यवहार से अनुमान करने के बजाय प्रत्यक्षरूप से भी अन्यों के मानसिक व्यापारों को देख सकते हैं। किन्तु यह उत्तर केवल ऊपरी दृष्टि से ही ठीक है, क्योंकि टेलीपेथी की स्थिति में भी मेरी मानसिक घटना राम की मानसिक घटना से तर्कतः भिन्न है, स्वयं राम के दुख के सम्बन्ध में हम केवल विश्वास की स्थिति में ही रहते हैं और अतएव इसका प्रमाणीकरण केवल राम द्वारा ही कराया जा सकता है। यह केवल राम के व्यवहार से ही निश्चय हो सकता है कि हमारा विश्वास सत्य था या नहीं? अतः पालज़िफ के साथ यह कहा जा सकता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि यह विनिश्चिय करने में कि वह दुखी है या नहीं, तथा यह विनिश्चय करने में कि वह दुख-व्यवहार कर रहा है या नहीं, कोई अन्तर नहीं है!"१० किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि 'कभी कभी मैं यह नहीं जान पाता कि 'तुम दुखी हो' निरर्थक वाक्य है, क्योंकि जबकि मैं यह कभी प्रमाणित नहीं कर सकता कि 'वह दुख-व्यवहार नहीं कर रहा है किन्तु वह दुखी है' मैं यह निश्चितरूप से कह सकता हूँ कि 'वह दुख-व्यवहार नहीं कर रहा है किन्तु सम्भव है वह दुखी हो'। मान लीजिये कि कोई मनुष्य म१ काल क१ पर कोई दुख—व्यवहार नहीं करता किन्तु काल क२ पर वह कहता है कि वह काल क१ पर दुखी था। अब उसके इस कथन से हम यह जानते हैं कि वह काल क१ पर दुखी था यद्यपि तब उसने अपना दुख प्रकट नहीं किया था। यह सम्भव था कि वह अपना काल क१ पर अनुभूत दुख कभी व्यक्त न करता। उस अवस्था में हम यह कभी नहीं जान सकते थे कि वह दुखी था। इस प्रकार यह कथन कि 'कभी कभी मैं यह नहीं जान पाता कि तुम दुखी हो', निरर्थक नहीं है। (यहां 'जान पाता' तथा 'सिद्धान्ततः नहीं जान सकता' में अन्तर का ध्यान रखना आवश्यक है)। इसे निरर्थक कहना सार्थकता तथा सत्यापन की समस्याओं को परस्पर घपलाना है।

किन्तु इस निष्कर्ष से, जोकि अनिवार्य तथा स्वाभाविक दिखाई देता है, एक दूसरी उलझन उत्पन्न होती है जिसका संकेत हम पीछे भी कर आये हैं। यदि 'वह दुखी है' का सत्यापन केवल व्यवहार द्वारा ही सम्भव है (जबकि व्यवहार में भाषा प्रयोग भी सम्मिलित है) और 'यह ज्ञेय है कि वह दुखी है' और 'यह ज्ञेय है कि वह दुख-व्यवहार कर रहा है' पर्याय हैं, और पुनः 'वह दुखी है' तथा 'वह दुख-व्यवहार कर रहा है' के अर्थ भिन्न भिन्न हैं, तो क्या 'वह दुखी है' वाक्य स्थायी अभ्युपगम (अथवा आरोपित) का वाचक नहीं है? और इस प्रकार, इसके अर्थ की भिन्नता केवल इस बात में नहीं है कि यह विभिन्न व्यवहार वाक्यों को एक द्रष्टा अथवा विभिन्न द्रष्टाओं के लिये लागू करता है?

हम पीछे इसका उत्तर नकारात्मक दे चुके हैं और यहां पुनः द्विगुणित बल के साथ इसका निषेध करना चाहते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। 'यह मेज़ है' वाक्य कुछ ऐसे वाक्यों द्वारा प्रमाणीकरणीय है जिनमें 'मेज़' पद घटित नहीं होता है और इसीलिये यह अस्तित्ववाक्य '(ᴟ य) मेज़ (य)' को लागू नहीं करता, क्योंकि 'यह मेज़ है' वाक्य स्वयं प्रमाणीय है। इसके विपरीत 'वह दुखी है' कम से कम एक अवस्था में प्रमाणीकरण निरपेक्ष तथा सद्यःप्रदत्त है और अतएव यह उचिततया अस्तित्व-वाक्य को लागू करता है। अतः विधेय 'दुख' की सार्थकता सार्वभौम है, क्योंकि किसी पद के अर्थ की

10. Paul Ziff-About Behaviourism, Analysis, June 1950.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्वभौमता का अभिप्राय केवल यही है कि यह अस्तित्व वाक्य को लागू कर सकता है।

इस प्रकार 'वह दुख-व्यवहार कर रहा है ⊃ वह दुखी है' एक ससम्बन्ध (कोरिलेशन) के नियम के सम्बन्ध में विधान है, यह समानार्थकता का विधान नहीं है।

हमारे उपर्युक्त विवेचन में व्यक्तितत्व-सारूप्य (पर्सनल आइडेंटिटी) को पूर्वकल्पित किया गया है। किन्तु प्रदृश्यतावाद (फिनोमिनलिज़्म) को स्वीकार करते हुए 'व्यक्तित्व सारूप्य' स्वयं एक समस्या है और विश्लेषण का विषय है। इसका वहुत सुन्दर विवेचन एयर ने अपनी पुस्तक प्राब्लम आफ नोलेज में किया है। उससे सामान्यरूप से सहमत होते हुए भी हम यत्र-तत्र उससे कुछ भिन्नमत हैं। यहां पहले संक्षेप में समस्या को प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। किन्तु हम उस सम्पूर्ण प्रसंग को यहां नहीं उठायेंगे जिस पर एयर ने विचार किया है।

सर्व-प्रथम व्यक्तित्व सारूप्य के दो सर्वथा भिन्न प्रसंगों का ध्यान रखना आवश्यक है, जिसका ध्यान सम्भवतः एयर ने नहीं रखा। राम के व्यक्तित्व की एकता, सामान्य-रूप में, उसके शारीरिक रूप की दो कालों में समता तथा उसकी देश-काल में निरन्तरता पर आधारित कही जा सकती है। किन्तु जव मेरे निजी व्यक्तित्व के सारूप्य का प्रश्न प्रस्तुत होता है तव इस सारूप्य को इन कसौटियों पर आधारित नहीं कहा जा सकता। अतः व्यक्तित्व के सारूप्य के निकश के रूप में शारीरिक समता तथा आनुभविक एकता दो पूरक अथवा विकल्प नहीं हैं, जैसाकि एयर समझते प्रतीत होते हैं।[११] क्योंकि राम के पूछने पर कि तुम कैसे जानते हो कि तुम वही व्यक्ति हो जो कल थे?—वह यह उत्तर नहीं देगा कि मेरे कल तथा आज के शारीरिक रूप में कोई अन्तर नहीं आया है। उसके लिये अपने शरीर की एकता अपने व्यक्तित्व की एकता का आधार नहीं है। कि मैं शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी रह सकता हूँ, पूर्णतः चिन्त्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम "अन्य व्यक्तियों" के व्यक्तित्व की एकता की अवधारणा का "उनकी शारीरिक एकता की अवधारणा" के साथ अभेद स्थापन कर रहे हैं। किन्तु अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व की अवधारणा में शारीरिक सारूप्य की प्रायिकता जबकि प्रासंगिक है, "मेरे व्यक्तित्व" की अवधारणा में यह सारूप्य प्रासंगिक नहीं है।

यहां केवल प्रदृश्यतावादी दृष्टिकोण से हमें इस समस्या पर विचार करना है। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'शरीर' अथवा 'मन' पद सद्यः-प्रदत्तों के वाचक पदों में विश्लेष्य हैं। अतः प्रदत्तों की अवधारणा शरीर अथवा मन की एकता की अवधारणा को पूर्वकल्पित नहीं करती। स्मृति, अवगति, परिचय, कल्पना आदि प्रदत्त मानसिक-प्रदत्त हैं तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिवत् प्रदत्त संवेद-प्रदत्त हैं। भौतिक आदि विशेषण लगाने का यह अर्थ नहीं है कि "मानसिक" तथा "भौतिक" आदि अवधारणाएं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रदत्तों में पूर्वकल्पित हैं, स्वयं प्रदत्तों के साथ वास्तव में इनका उपयोग अप्रासंगिक है। इस प्रकार,'रक्त','समान','पीड़ा' तथा 'ऐसा हुआ' प्रदत्त के वाचक हैं और "मानसिक" तथा "भौतिक" की अवधारणाओं से निरपेक्ष हैं। "मानसिक" तथा "भौतिक" की अवधारणाएं इन पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव न 'रक्त अब' यह लागू करता है कि "कुछ वस्तु रक्त है" और न 'ऐसा हुआ' ही यह लागू करता है कि "वर्तमान से पूर्व भी कुछ था",। अब "मानसिक" की अवधारणा "ऐसा हुआ" का उपयोग "आत्म" की एकता की रचना में करती है, अथवा कहें, "आत्म" की रचना "ऐसा हुआ" प्रदत्तों से की जाती है। जैसाकि मूल वाक्य निबन्ध में स्पष्ट किया गया है, यह किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का विवरण नहीं है, यह "भौतिक" तथा "मानसिक" की अवधारणाओं का तार्किक विश्लेषण है।

प्रदत्तों की इस अवधारणा के अनुसार, प्रत्येक प्रदत्त अपने आप में स्वतन्त्र अस्तित्व है और कोई प्रदत्त $प_1$ अन्य प्रदत्तों के अस्तित्व को लागू नहीं करता। अब यह स्थापना एयर के लिये समस्या उत्पन्न करती है। उनके अनुसार "यदि किसी व्यक्तित्व व का अस्तित्व प्रदत्तों में विद्यमान सम्बन्धों पर आधारित किया जाता है तो ये सम्बन्ध आनुभविक (एम्पीरिकल) होंगे। दूसरे शब्दों में, किन्हीं प्रदत्तों का अभीष्ट संबंध केवल आकस्मिक होगा, अनिवार्य या तार्किक नहीं। यह कल्पनीय है कि ये अभीष्ट प्रकार से सम्बन्धित प्रदत्त घटित न होते। किन्तु इसका अर्थ होता है कि कम से कम यह तर्कतः सम्भव है कि ऐसे संवेद हों जो किसी व्यक्ति (संवेद कर्ता) के संवेद न हों अथवा उनका अन्य संवेद-प्रदत्तों से सम्बन्ध ऐसा नहीं हो जो "व्यक्ति" अथवा किसी भी प्राणी की रचना करने के लिये आवश्यक हो। उदाहरणतः हेल्यूसीनेशन की अवस्था में ऐसे संवेद प्रदत्त होते हैं जो किसी भौतिक विषय की प्रतीति नहीं कहे जा सकते। अतः उन के स्वभाव के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण के अनुसार,ऐसे वास्तव संवेद हो सकते हैं जो किसी संवेदनशील प्राणी के संवेद न हों। यह स्पष्ट है कि यदि ऐसे संवेद प्रदत्त हों तो उनका अस्तित्व किसी को अवगत नहीं होगा।[१२] इस समस्या का समाधान वे इस प्रकार करते हैं कि "यद्यपि कोई संवेद $स_1$ के अस्तित्व को लागू नहीं करता, किन्तु वह किन्हीं अन्य संवेदों सथ को अवश्य लागू करता है"।[१३]

किन्तु हमारे विचार में, एयर की यह समस्या तर्कतः अप्रतिष्ठित है। संवेद प्रदत्तों के प्रसंग में संवेद-कर्ता अथवा संवेदी प्राणी की कल्पना अयुक्त है। किन्तु यह मान कर भी हम इससे असंवेदित संवेदों की अतर्कसम्मत स्थिति को स्वीकार करने

१२. वहीं पृ० १६१।

१३. वहीं पृ० १६२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को वाध्य नहीं हैं। संवेदों की पदावली के स्तर पर 'घटित होना' उचित प्रयोग है 'संवेदित होना' नहीं, यदि 'संवेदित होना' किसी संवेदन–कर्ता के अस्तित्व को लागू करता है तो। अतर्कसम्मत (अथवा कहें अकल्पनीय) अघटित संवेद प्रदत्त हैं असंवेदित संवेद प्रदत्त नहीं। यहां अभिप्रेत यह स्थापित करना नहीं है कि वास्तव में संवेदन-कर्ता के विना संवेद होते हैं अथवा नहीं, प्रत्युत यह कि इनका होना तर्कतः युक्त है, और वास्तव में, तर्कतः आवश्यक है। संवेद स१ होने पर संवेद स२ . . . . सन भी हों, यह रचनाओं को पूर्वकल्पित करता है और इस पूर्वकल्पना के होने पर यह अनिवार्य है कि स१ होने पर स२ . . . . सन घटित हों।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संवेदवाद यह दावा करे कि विषयों (मानसिक व भौतिक) की हम वास्तव में रचना करते हैं, अथवा, कि वे कल्पित हैं। यह तो विचारणीय ही नहीं है। विचारणीय केवल यह है कि हम किस प्रकार हैल्यूसीनेशन, भ्रम, कल्पना तथा वास्तव आदि को एक अवधारणात्मक योजना के अन्तर्गत लाते हैं। इस प्रकार, 'वहां मेज़ है' लागू करता है कि 'संवेद स१, स२, सन घटित होते हैं'। किन्तु 'संवेद स१, स२, सन . . . .' यह लागू नहीं कर सकते कि 'यहां मेज़ है'। इसके विपरीत 'यहां मेज़ है' वाक्य की सत्यता के लिये यह आवश्यक शर्त है कि 'संवेद स१ स२, स३ . . . . सन घटित हों'।

अब व्यक्तित्व-सारूप्य की क्या कसोटी है?—यह प्रश्न संवेदवाद से इस प्रकार संबन्धित है: उदाहरणार्थ यह वाक्य लें-'राम की मृत्यु हो गयी है किन्तु उसका दुःख अभी तक नहीं मिटा'। अथवा 'राम मर कर पुनः भी उत्पन्न हो सकता है'। इन वाक्यों में राम का व्यक्तित्व उसके शरीर के अस्तित्व पर निर्भर नहीं माना गया है। अब क्या ये वाक्य सार्थक हैं? हमारे विचार में ये वाक्य उसी प्रकार सार्थक हैं जिस प्रकार 'राम दुखी है चाहे वह इसे प्रकट न होने दे' वाक्य सार्थक है। ये वाक्य सत्यापनीय नहीं हैं, क्योंकि न इनका कथन करने वाला और न इनको सुनने वाला इनका सत्यापन कर सकता है। किन्तु यदि सत्यापन को श्लिक को तथा एयर की कसौटी स्वीकार की जाय तो सत्यापन की समस्या भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि इनका सत्यापन राम कर सकता है। इन वाक्यों की सत्यापनीयता राम के अतिरिक्त अन्य के लिये असम्भव है किन्तु इनकी सार्थकता सम्भव है। इनकी सत्यापनीयता तथा सार्थकता की यह अवधारणा संवेदवादी अवधारणा में मूलित है।

'मानसिकता' तथा 'भौतिकता' की अवधारणाओं में मौलिक अन्तर यह है कि द्वितीय प्रकार की अवधारणाओं के वाचक पद पंचेन्द्रिय संवेदों के वाचक पदों को लागू करते हैं जबकि प्रथम प्रकार के पद इन पदों को सर्वथा लागू नहीं करते, ये अन्तरनुभव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्धी पदों को लागू करते हैं। द्वितीय अन्तर यह है कि भौतिक विषय सर्वसामान्य हैं और मानसिक सर्वसामान्य नहीं हैं, ये व्यक्तिगत हैं। इस प्रकार यह उचित वाक्य है कि 'राम तथा श्याम मेज़१ देख रहे हैं' और यह अनुचित वाक्य है कि 'राम तथा श्याम पीड़ा प१ अनुभव कर रहे हैं'। जिन्होंने मानसिकता की अवधारणा का भौतिकता की अवधारणा में समावेश करने का प्रयत्न किया है उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि तथाकथित मानसिकता के वाचक वाक्य व्यक्तिगतता को लागू नहीं करते। इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन के अनुसार, उनकी यह स्थापना तर्कतः अप्रतिष्ठत है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५

सार्थकता

आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन-प्रणाली में अर्थ का प्रश्न एक आधारभूत प्रश्न बन गया है और इस समस्या पर किसी भी अन्य दार्शनिक समस्या से कम विचार नहीं किया गया है। यह प्रश्न उस समय और भी अधिक ज्वलन्त प्रश्न बन गया जब विटगिंस्टाइन ने दार्शनिक वाक्यों को निरर्थक कहा। विटगिंस्टाइन के पश्चात् तार्किक-भाववादियों ने वाक्यों का अर्थ उनकी प्रमाणीकरणविधि को बताया और प्रतिपादित किया कि अनुभववादी दार्शनिकों के अतिरिक्त शेष दार्शनिकों के अधिकांश प्रतिपादन अर्थ-हीन हैं।

भाववादियों की प्रमाणीकरण सम्बन्धी यह प्रतिज्ञा बहुत संकुचित और दोषपूर्ण थी, यह स्वयं पीछे इसके प्रतिपादकों ने स्वीकार किया। वास्तव में अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त की कोई भी प्रतिज्ञा पर्याप्त संकुचित है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हम अर्थ की कोई भी ऐसी कसौटी स्वीकार करें, जो सामान्य धारणा के विपरीत न हो, तो भी हम पाएंगे कि बहुत से दार्शनिक, और दूसरे लोग भी ऐसे वाक्यों का प्रायः ही प्रयोग करते हैं जिन्हें अर्थ नहीं दिया जा सकता। ऐसे वाक्यों अथवा वाक्य समूहों का प्रयोग अस्पष्ट और अर्ध-पक्व तर्क, भावुकता और कभी कभी शब्द-मोह से होता है। उदाहरणतः डा० राधाकृष्णन के एक भाषण से दो उद्धरण देखें। वे लिखते हैं—"पहले केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अस्तित्व था, ... पहले केवल ब्रह्म था. . . . ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है. . . . अहं को अनिवार्यतः अपनी वास्तव सत्ता में निहित होना चाहिये"[1] आदि। इसी प्रकार, "हमें सर्वातीत, ज्ञानातीत की अभिज्ञता दी जाती है। विश्व जो है वह वही क्यों है, अन्य प्रकार का क्यों नहीं है ? यह (प्रश्न) अस्तित्त्व को मुक्ति के साथ सम्बद्ध करता है। प्राकृतिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन हमें तथ्यों से परे ज्ञानातीत सत्ता की ओर ले जाता है, जो मुक्ति भी है।"[2]

अब इन वाक्यों को देखें। ये वाक्य केवल इसीलिये अर्थ-हीन नहीं हैं क्योंकि इनमें 'सर्वातीत', 'ज्ञानातीत' आदि पद घटित होते हैं, प्रत्युत 'पहले केवल अस्तित्व था . . .' आदि वाक्य तथा 'ज्ञानातीत सत्ता का मुक्ति से सम्बन्ध' आदि वाक्य किसी भी अवधारणात्मक संस्थान में कुछ प्रकथन करने अथवा कुछ व्यक्त करने में असमर्थ हैं। किसी वाक्य की सार्थकता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके द्वारा प्रकथित वस्तुस्थिति वास्तव में हो, किन्तु उसके लिये यह आवश्यक है कि वह वाक्य स्वयं अथवा अन्य वाक्यों को लागू करने के द्वारा यह प्रकथित करने में समर्थ हो कि कौनसी वस्तु-स्थिति उसे सत्यापित करेगी। अब जब तक यह दिखाया नहीं जाता कि कोई वाक्य किस प्रकार की वस्तु-स्थिति का प्रकथन करता है तब तक वह वाक्य निरर्थक है; और हमें नहीं पता कि उपर्युक्त उद्धरण किस प्रकार कुछ प्रकथित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं।

अब मान लीजिये कोई कहता है "सब प्राणी अपनी वास्तव सत्ता में शीर्षस्थ होते हैं, पेड़-पौधे प्रत्येक अवस्था में शीर्षस्थ हैं, अतः वे प्रत्येक-अवस्था में अपनी वास्तव सत्ता में निहित हैं।"

अब यह प्रकथन इसलिये निरर्थक नहीं है कि इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, यह इसलिये निरर्थक है क्योंकि 'वास्तव सत्ता' पद द्वारा किसी वास्तव, संभाव्य या असंभाव्य वस्तु-स्थिति का निर्देश नहीं होता। अब मान लें कि इस पद की इस प्रकार परिभाषा की जाती है कि यह किसी वस्तु-स्थिति का निर्देश करने में समर्थ होता है, उस अवस्था में हम पाएंगे कि वे परिभाषा-वाक्य अन्ततः अनुभव से निर्धारित होंगे।

यहां निरर्थक वाक्यों या वाक्य-समूहों का एक और उद्धरण देना उपयुक्त होगा। यह उद्धरण कार्नप ने अपने एक निबन्ध-इलिमिनेशन आफ मैटाफिज़ीक्स में दिया है और इसकी निरर्थकता दिखाई है। उद्धरण इस प्रकार है: "हम अनस्तित्व (नकारता) को

१. राधाकृष्णन-उद्‌घाटन भाषण, प्रोसीडिंग्ज़ आफ इंडियन फिलोसफीकल कांग्रेस, १६५०, पृ० १६।

२. वहीं, पृ० १२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहां खोजते हैं ? हम अनस्तित्व को किस प्रकार प्राप्त करते हैं ? ....हम अनस्तित्व को जानते हैं........उत्सुकता (भय) अनस्तित्व का अनावरण करती है........ जिसके लिये तथा जिसके कारण हम भयाकुल हैं। वास्तव में अनस्तित्व ही था। वस्तुतः अनस्तित्व स्वयं विद्यमान था। यह अनस्तित्व स्वयं अपना निषेध करता है।"३ इन वाक्यों को कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता, वास्तव में इनका विधान करने वालों ने कभी इनका प्रयोग इनका अर्थ विचार कर किया भी नहीं, ऐसे वाक्यों का स्रोत भावुकता तथा पूर्वाग्रहों में है। कुछ दार्शनिक, भारतीय और पाश्चात्य, यह समझते हैं कि ऐसे कथन सार्थक तो हैं किन्तु केवल आनुभविक तथा वैज्ञानिक अर्थ में सार्थक नहीं हैं। जहां तक 'आनुभविक' का सम्बन्ध है, हमारे विचार में इसके सिवाय सार्थकता का कोई निकष (क्राइटीरिया) तर्कसम्मत नहीं है, जहां तक 'वैज्ञानिक' का सम्बन्ध है, यह आग्रह कुछ भाववादी दार्शनिकों का होने पर भी, यह सभी अनुभववादियों का आग्रह नहीं है।

किन्तु इस निबन्ध की समस्या किन्हीं वाक्यों के अर्थ का विचार नहीं है प्रत्युत स्वयं अर्थ ही यहां विचारणीय है। 'अर्थ क्या है ?' यह प्रश्न जितना आधारभूत है उतना ही उलझनपूर्ण और अतएव दुःसाध्य है। इसके अतिरिक्त, अर्थ विभिन्न स्वतन्त्र अध्ययनों का विषय हो सकता है; उदाहरणतः मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, कोश-रचना-शास्त्र, व्याकरण, दर्शन इन सब में यह पृथक् पृथक् स्वतन्त्र प्रश्न है, यद्यपि ये अध्ययन एक दूसरे के क्षेत्र में सहायक भी होते हैं।

हमारी समस्या यहां दार्शनिक है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से भी अर्थ का विचार कम उलझनपूर्ण नहीं है। 'यह मेज़ है' इस वाक्य को लें। इसका क्या अर्थ है ? क्या अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद के नियम इसका अर्थ हैं ? अथवा, क्या अन्य समानार्थक वाक्य (समानार्थकता) इसका अर्थ हैं ? अथवा इस वाक्य का व्याकरण इसका अर्थ है ? याकि इसके सरलतर वाक्यों में रूपान्तरण के नियम इसका अर्थ हैं ? याकि इसके प्रमाणीकरण की विधि इसका अर्थ है ? या इस वाक्य से सम्बद्ध मानसिक कल्पनायें अथवा पूर्वप्रत्यक्ष (एसोसियेशंज़) इसका अर्थ हैं ? इसी प्रकार, सार्थक शब्द अथवा वाक्य क्या विशिष्ट घटना के रूप में अर्थ का वाचक है अथवा सामान्य रूप में

3. "Where do we seek the nothing ? How do we find the nothing..... We know the Nothing......Anxiety reveals the Nothing, Nothing...... That for which and because of which we were anxious, was 'really'— Nothing. Indeed: the Nothing itself—as such—was present. What about this nothing?—The Nothing itself nothings." (R. Carnap's "Elimination of Metaphysics" से उद्धृत, A.J. Ayer(Ed.)Logical Positivism P. 69).

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(सब वास्तव–संभाव्य घटनाओं के समवाय के रूप में) अर्थ का वाचक है ? अर्थात्, क्या अर्थ 'मेज़' शब्द के एक उच्चारण अथवा घटना का होता है या कि 'मेज़' के सब वास्तव-संभाव्य उच्चारणों का होता है ? और फिर, क्या अर्थ शब्दों अथवा वाक्यों से अभिन्न है याकि इनसे स्वतन्त्र है ? दूसरे शब्दों में, 'यह मेज़ है' का अर्थ इस वाक्य की वास्तव-संभाव्य घटनाओं से स्वतन्त्र कुछ तथ्य है याकि कोई अन्य समानार्थक वाक्य ही इसका अर्थ है ? एक शब्द के सब उच्चारणों को एक ही शब्द मानते हुए, प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उच्चारण-साम्य मात्र के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि वे एक ही शब्द के उच्चारण हैं अथवा किसी अन्य मानदण्ड की आवश्यकता है ? उदाहरणतः, यदि 'मेज़' शब्द के उच्चारण के समान ही उच्चारण वाला शब्द किसी अन्य भाषा में भी हो और उसका अर्थ हिन्दी में प्रयुक्त 'मेज़' से भिन्न कुछ हो तो यह कठिनाई उत्पन्न होगी। इसी प्रकार, एक ही भाषा तक सीमित रहते हुए, उच्चारण में कितनी समता होने पर किन्हीं ध्वनियों को एक ही शब्द के उदाहरण कहा जायगा ? इत्यादि अनेक प्रश्न इस सम्बन्ध में किये जा सकते हैं और कोई भी एक प्रश्न विवादों की शृंखला को जन्म दे सकता है।

'अर्थ क्या है ?' प्रश्न को हम यहां सीमित कर सकते हैं– "शब्द का अर्थ क्या है ?" क्योंकि 'अर्थ' शब्द का प्रयोग कम से कम दो भिन्न तथा स्वतन्त्र प्रसंगों में होता है, अथवा कहें, 'अर्थ' शब्द के कम से कम दो भिन्न अर्थ हैं। उदाहरणतः आकाश में काले बादलों का अर्थ है कि शीघ्र वर्षा होगी, मुंडेर पर कव्वा बोलने का अर्थ है कि अतिथि आयेगा, म्याऊं म्याऊं आवाज़ हो रही है का अर्थ है कि यहां कहीं बिल्ली है, आदि। इन प्रयोगों में 'अर्थ' का प्रयोग 'शब्द का अर्थ' से सर्वथा अथवा कम से कम बहुत अधिक, भिन्न प्रयोग है। इस में एक घटना दूसरी घटना का संकेत है, क्योंकि दो घटनाओं में पूर्व–दृष्ट सहानुगमिकता का सम्बन्ध है। किन्तु शब्दों का घटनाओं से अथवा अर्थों से सम्बन्ध इसी प्रकार का नहीं है। उदाहरणतः " 'गधा' का अर्थ है 'पशु विशेष' " में द्वितीय पद प्रथम पद का अर्थ है, और इसी प्रकार, " 'गधा' का अर्थ है यह पशु जो कि तुम्हारे सामने विद्यमान है' " भी है। वास्तव में, प्रथम प्रकार से अर्थ-व्यंजना जबकि स्पष्टतः भाषीय है, इसका अन्तिम आधार प्रत्यक्ष अनुभव कहा जा सकता है। उदाहरणतः 'पशु–विशेष' का क्या अर्थ है ? इसकी भी भाषीय परिभाषा दी जा सकती है, किन्तु अन्ततः परिभाषाओं की यह शृंखला हमें ऐसे वाक्यों पर ले जायगी जिनकी भाषीय परिभाषा नहीं दी जा सकती, ये वाक्य किन्हीं अपरोक्ष अनुभवों के वाचक होंगे। भाषा में अधिकांश शब्द संश्लिष्ट होते हैं। इनका अर्थ अधिक सरल शब्दों द्वारा दिया जा सकता है। किन्तु सरलतर की ओर संक्रमण की यह शृंखला अनन्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं है, अन्ततः हम सरलतम शब्दों पर पहुँचेंगे जिनका आगे अन्य शब्दों द्वारा अर्थ व्यक्त नहीं किया जा सकता। 'रक्त', 'कोमल' आदि पद ऐसे ही हैं।

इस प्रकार, शब्दों की सार्थकता अन्ततः उनके किसी अनुभव के वाचक होने में है। यह स्वीकार करने पर ऐसा प्रतीत होगा कि 'गधा' का अर्थ है 'वह पशु' तथा "काले बादलों का अर्थ है कि वर्षा होगी", में 'अर्थ' किन्हीं भिन्न सम्बन्धों का वाचक नहीं है, दोनों में दो घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध सहानुगमिकता का है। गधा देखने पर मैंने 'गधा' शब्द सुना और इस प्रकार विभिन्न स्थितियों में गधा देखने पर और साथ ही 'गधा' शब्द सुनने पर गधा' शब्द तथा गधा पशु में ससम्बन्ध स्थापित हो जाने से मेरे लिये 'गधा' शब्द का अर्थ गधा पशु हो गया। ठीक इसी प्रकार, काले बादलों को देखने के पश्चात् वर्षा होती मैंने अनेक बार देखी तो काले बादलों का अर्थ मेरे लिये वर्षागमन हो गया। रसल का 'प्रोपोज़ीशनल एटीट्यूड' तथा 'प्रासेस आफ लीडिंग' से कुछ ऐसा ही अभिप्राय है।[४] किन्तु इस समानता के बावजूद इनमें गंभीर भेद भी हैः सर्वप्रथम 'गधा' शब्द का अर्थ जबकि गधा है, तब इससे यह लागू नहीं होता कि वास्तव में कोई वस्तु गधा यहां विद्यमान है। हम कह सकते हैं 'गधे के कान लम्बे होते हैं,' किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जब यह वाक्य बोला गया है तब वहां कोई गधा विद्यमान हो, यह भी आवश्यक नहीं है कि गधा कभी भी विद्यमान हो। उदाहरणतः, हम विधान कर सकते हैं "यदि कोई प्राणी ऐसा होता जो शेष सब प्रकार से गधे जैसा होता किन्तु कान मनुष्य के से होते तो हम इसे 'गधर' कहते"। किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि 'गधा' शब्द का अर्थ भाषीय अनुवाद द्वारा संभव है, जैसे 'गधा = गर्दभ = डंकी' उस प्रकार से "काले बादल का अर्थ है वर्षा' का अनुवाद संभव नहीं है। इसी-प्रकार, जबकि शब्द के भावात्मक (Connotative) तथा संकेतात्मक (Denotative) अर्थ होते हैं, जैसे 'गधापन' तथा 'सब गधे', उस प्रकार से निर्देशक घटना के अर्थ संभव नहीं हैं। एक घटना द्वारा दूसरी घटना की प्रत्याशा को हम कारणात्मक अर्थ अथवा अगमनात्मक अर्थ (इंडक्टिव मीनिंग) कहेंगे। अब, शब्द भी अगमनात्मक होते हैं, किन्तु केवल अत्यन्त आदिम प्रयोग में, जबकि घटनाओं का अर्थ-बोध-व्यापार अगमनात्मकता की स्थिति से आगे बढ़ ही नहीं सकता।

शब्द का अर्थ उससे निर्मित वाक्यीय व्यापार (सेंटेंश्यल फंक्शन) है, यथाः 'य गधा है'; जो न किसी वस्तु के अस्तित्व को लागू करता है और न किसी अगमनात्मक मानसिक स्थिति को; यह एक ढांचा है जिसका विस्तार वे सब संकेतात्मक वाक्य हैं जो 'य' के

4- Meaning of Propositions in Logic and Knowledge, (Allen & Unwin; London; 1256).

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संज्ञा पद द्वारा स्थानान्तरण से प्राप्त होते हैं। फिंडले से उपमा लेते हुए, शब्द का अर्थ 'बांह भर दूरी' के समान है; 'बांह भर दूर' एक विस्तार है, और कोई भी वस्तु जो अढ़ाई फ़ुट दूर है उस पर यह लागू होता है। किन्तु इससे यह लागू नहीं होता कि "हम ने बांह फैलाई है और अँगुली के अग्रभाग से किसी वस्तु का स्पर्श किया हुआ है।"५ जब किसी वाक्य का प्रयोग इस प्रकार से भी किया जाता है कि वह किसी वस्तुस्थिति का प्रकथन करता है, जैसे 'उस कमरे में मेज़ है', तब यह वाक्य दो प्रकार से अर्थवान् है— अगमनात्मक अर्थ में तथा वर्णनात्मक अर्थ में। मान लीजिये कि संकेतित कमरे में जाने पर मैं मेज़ नहीं पाता हूँ; तब भी यह वाक्य निम्नवाक्यों के द्वारा सार्थक है— 'य मेज़ है, व कमरा है, य तथा व में सम्बन्ध स है'। इन वाक्यों में सब उद्देश्य-पद (सब्जेक्ट वर्ड्स) अनिश्चित हैं और अतएव सब वाक्य वाक्यीय व्यापार हैं। किसी वाक्य अथवा शब्द का अर्थ* समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम जानते हों कि कौन सी वस्तुस्थितियों में यह सत्य होगा, किन्तु इससे यह लागू नहीं होता कि कोई वस्तु-स्थिति वास्तव में ऐसी है। इस प्रकार, 'गधा' शब्द का अर्थ है 'य गधा है'; 'य गधा है' का अर्थ है 'अमुक अमुक प्रकार की वस्तु-स्थिति (अथवा अवस्था य) होने पर वाक्यीय व्यापार 'यह गधा है' सत्य होगा'। अब जैसे 'य गधा है' यह लागू नहीं करता कि कोई वस्तु वास्तव में गधा है, उसी प्रकार 'य अवस्था है' वाक्यीय व्यापार भी किसी अवस्था-विशेष के होने को लागू नहीं करता। कि शब्द अथवा वाक्य का अर्थ कोई संकेतित विषय-विशेष नहीं है, यह सामान्य वाक्यों अथवा हेतुहेतुमद् वाक्यों से और भी स्पष्ट हो जाता है। 'कव्वे काले होते हैं' अथवा 'सब पक्षी अंडज हैं' (सामान्य) अथवा 'यदि वर्षा हुई होती तो खेती अच्छी होती' (हेतुहेतुमद्) वाक्यों का सत्यापन परिभाषया असंभव है, क्योंकि 'सब पक्षी' अथवा 'सब कव्वे' अथवा 'न हुई हुई वर्षा' उपलब्ध नहीं किये जा सकते। किन्तु यह वाक्य किसी एक पक्षी, अथवा पक्षियों की किसी संख्या, का भी वाचक नहीं है। फिर भी हम इसका अर्थ समझते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि इन वाक्यों में प्रयुक्त शब्द सार्थक हैं और इस प्रकार हम जानते हैं कि किन अवस्थाओं में ये वाक्य सत्य होंगे।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी वाक्य के सत्यापन की अवस्थायें कम से कम संभाव्य अवश्य हों। हम यह विश्वास करते हुए भी कि अमुक वाक्य के सत्यापन की अवस्था कभी चरितार्थ नहीं होगी, वाक्य का अर्थ समझ सकते हैं। वैसे तो सामान्य

5. J. N. Findlay-Some Reflections on Meaning. The Indian Journal of Philosophy, Aug. 1959.

* वाक्य का अर्थ शब्द के अर्थ के समान ही ग्रहण नहीं होता, इनमें कुछ भेद है, जो आगे विश्लेषण में स्पष्ट होंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य के सत्यापन.की 'अवस्था' कभी चरितार्थ नहीं हो सकती, किन्तु सामान्य वाक्य के अगमनात्मक होने से इसका अर्थ-ज्ञान विशेष-अवस्थाओं (पर्टिकुलर इन्स्टांसिस) में निहित होता है। किन्तु 'अगस्त ऋषि ने सागर पी लिया' अथवा 'त्रिनयन तांडव करेंगे' वाक्य के सम्बन्ध में हम यह विश्वास करते हुए भी कि कोई अवस्था इन्हें चरितार्थ नहीं करेगी, हम उनका अर्थ समझ सकते हैं। इस प्रकार हम किसी वाक्य के सत्यापन की अवस्था तथा उसके अर्थ—व्यक्तीकरण (एक्स्प्रेशन) की अवस्था में भेद कर सकते हैं। 'सब मनुष्य मरते हैं' का अर्थ समझने के लिये इतना पर्याप्त है कि हमने कोई मनुष्य तथा कोई मृत्यु की घटना देखी हो। 'मनुष्य' तथा 'मृत्यु' का अर्थ अन्य विघटन-वाक्यों (रिडक्शन सेंटेंसिस) अथवा अनुवाद के द्वारा थी जाना जा सकता है। इसी प्रकार सब का अर्थ भी विघटन द्वारा जाना जा सकता है। इस प्रकार 'इस कमरे की सब कुर्सियां लाल हैं' में 'सब' का अर्थ है "क१, क२, क३. . . . . कन कुर्सियां हैं और इनके अतिरिक्त यहां कोई कुर्सी नहीं है"। यद्यपि इस वाक्य में 'सब' का अर्थ सब मनुष्य' में 'सब' के अर्थ से भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु 'सब' के केवल इस प्रयोग में ही हम इस पद के अर्थ को जानते हैं और इसी अर्थ में इसका प्रयोग दूसरी प्रकार के वाक्यों में करते हैं। प्रथम प्रकार के वाक्यों में 'सब' का अर्थ पूर्ण परिगणन है और इनमें यह पूर्ण परिगणन संभव है, 'सब मनुष्य' प्रयोग में यह संभव नहीं है। इसीलिये हम दूसरे वाक्यों में सत्यापन को असंभव मानते हैं।

रसल ने पूर्ण परिगणन को प्रत्येक अवस्था में असंभव माना है। उनके अनुसार, जब हम कहते हैं 'इस कमरे की सब कुर्सियां ······',संभव है उस समय कोई कुर्सी हमारी दृष्टि से छिपी हो और हमने उसे गिना न हो। किन्तु हमारे विचार में, यह आपत्ति उचित नहीं है। मान लीजिये कि एक छोटे कमरे में केवल तीन कुर्सियां ही हैं अन्य कुछ नहीं। उस अवस्था में पूर्ण परिगणन संभव है। अब मान लीजिये कि कोई आपत्ति करता है कि "संभव है हम किसी कारण से एक कुर्सी को न देख पा रहे हों"। उस अवस्था में वाक्य का निर्देश और सीमित किया जा सकता है: हम कह सकते हैं "इस कमरे में मुझे दिखाई देने वाली केवल तीन कुर्सियां हैं"। एक दूसरा उपाय और है, एक कमरे में परिभाषया कुर्सियों की संख्या स० ही समा सकती है, इस से अधिक नहीं। हम उतनी कुर्सियां उस कमरे में रख देते हैं और कहते हैं 'इस कमरे में स० संख्या में कुर्सियां हैं'। इस प्रकार, सब कुर्सियां गिन लेने पर हम कह सकते हैं कि 'इस कमरे की सब कुर्सियां रक्त हैं'। रसल इस प्रसंग में एक अपरिगणनीय सामान्य को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, 'इस कमरे में केवल तीन कुर्सियां हैं' वाक्य 'अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस कमरे में है और कुर्सी है' वाक्य को पूर्वकल्पित करता है। वे निषेधात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य वाक्यों को प्रत्यक्ष अनुभव के परिणाम मानते हैं, जैसे 'यहां कौन है ?' 'कोई नहीं !' इसमें उत्तर वाक्य सामान्य निषेधात्मक वाक्य है और प्रत्यक्ष संवेद का परिणाम है।६

हमारे विचार में, ऐसे वाक्य उचित सामान्य वाक्य नहीं हैं। जब हम कहते हैं 'यहां कोई मनुष्य नहीं है' तब 'यहां' पद को भुला नहीं देना चाहिये। मान लीजिये कोई कहता है 'इस कमरे की सब कुर्सियां रक्त हैं', तब वह सामान्य वाक्य का प्रयोग करते हुये भी परिगणनीय सामान्य वाक्य का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि 'इस कमरे' अथवा 'यहां' पद परिगणनीयता को लागू करते हैं। इसी प्रकार, 'इस कमरे में कोई कुर्सी रक्त नहीं है' सामान्य वाक्य है, किन्तु परिगणनीय है, क्योंकि सब कुर्सियां देख कर इस परिणाम पर पहुँचा गया है। अब जब कि 'यहां 'कोई मनुष्य नहीं है' कहा जाता है तब 'कोई मनुष्य नहीं' द्वारा "यहां" की वस्तुओं के "मनुष्य" होने का निषेध है। किन्तु तार्किक दृष्टि से यह अपरिगणनीय सामान्य ही है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि यह 'राम अथवा मोहन . . . . .' किसी के भी 'यहां' होने का निषेध करता है। मान लीजिये, कोई पूछता है "यहां राम है ?" इसका सकारात्मक उत्तर '(∃य) यहां (य)' 'कम से कम एक यहां है' वाक्य को लागू करता है। अब इसका निषेध–यहां कोई नहीं है '∼(∃म) यहां (म)' को तर्कतः लागू करता है। इस प्रकार, यदि प्रमाणीयता एक-एक को गिन-गिन कर निषेध करने में है तो निषेधात्मक सामान्य वाक्य पूर्णतः प्रमाणीय भले हों न हों किन्तु यह अनुभवीय तथा प्रत्यक्षगम्य अवश्य हैं।

हमने ऊपर देखा कि वाक्यों अथवा शब्दों का अर्थ समानार्थक वाक्यों के प्रयोग द्वारा, अथवा विघटन वाक्यों के द्वारा, अथवा प्रत्यक्ष से, जाना जा सकता है। इसका क्या अभिप्राय है ? विघटन वाक्य हम अनुभव अथवा संवेद-वाक्यों को कहते हैं। किसी वाक्य के विघटन-वाक्य वे वाक्य हैं जो उस वाक्य के चरितार्थन (Fulfilment or Partial Validation) के लिये प्रासंगिक संवेदों के वाचक वाक्य हों। समानार्थक-वाक्य शाब्दिक परिभाषाएँ हैं, जैसे 'विधवा' = 'वह स्त्री जिसका पति मर चुका है'। इन्हें रूपान्तरण-वाक्य अथवा परिभाषा-वाक्य भी कहते हैं। कार्नप तथा अन्य अनेक तार्किक भाववादी विघटन-वाक्यों को भी वास्तव में शाब्दिक परिभाषाएं ही मानते हैं। उदाहरणतः, कार्नप के अनुसार, "किसी भाषा के रूप-निर्धारण के लिये (१) उस भाषा के शब्द–कोश तथा वाक्य-रचना के नियमों का निश्चय करना तथा (२) उन नियमों का निश्चय करना जो उस भाषा के वाक्यों के उसी भाषा-

६. द्रष्टव्य–ह्यू मन नोलेज में जनरल नोलेज अध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अन्य वाक्यों में अनुवाद के लिये तथा अन्य भाषा के वाक्यों में अनुवाद के लिये आवश्यक हैं। किन्तु क्या वाक्यों का 'अभिप्राय' समझने के लिये उनका अर्थ समझना आवश्यक नहीं है ? नहीं; इसके द्वारा चित्र शैली (मैटीरियल मोड) में प्रस्तुत की गई मांग इसके साइंटेक्स (वाक्यरचना) के रूपात्मक नियम (फार्मल रूल्ज़) देने से सन्तुष्ट की जा सकती है, क्योंकि शब्द का अर्थ अनुवाद अथवा परिभाषा द्वारा दिया जा सकता है। अनुवाद एक भाषा के शब्दों के दूसरी भाषा के शब्दों में रूपान्तरण के नियम हैं, (जैसे 'घोड़ा = होर्स'); तथा परिभाषा एक ही भाषा में शब्दों के रूपान्तरण के नियम हैं। यह शाब्दिक परिभाषाओं के लिये भी ठीक है (जैसे, 'हाथी' = 'अमुक अमुक प्रकार की विशेषताओं से युक्त पशु-विशेष') तथा तथाकथित संकेतात्मक परिभाषाओं के लिये भी (जैसे, हाथी='उसी प्रकार का पशु जिस प्रकार का इस या उस देश-काल स्थिति में पशु')। दोनों परिभाषाएँ शब्दों का अनुवाद हैं।"[७]

यह एक विचित्र स्थिति है। एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द द्वारा ग्रहण हो सकता है और इस दूसरे शब्द का तीसरे शब्द द्वारा, किन्तु एक शब्द दूसरे का समानार्थक किस आधार पर है ? यही बात परिभाषा वाक्यों के लिये कही जा सकती है। 'हाथी' की परिभाषा 'अमुक अमुक प्रकार का पशु विशेष' क्यों ठीक है ? 'अमुक अमुक प्रकार में गृहीत वर्णन-पद (डिस्क्रिप्टिव टर्म्ज़) ऐसे होने चाहियें जो अनन्यरूप से 'हाथी' शब्द द्वारा संकेतित प्राणी का बोध करायें, जिनको सुनने वाला हाथी के सामने आने पर पहिचान सके कि वर्णन-पद इस प्राणी के लिये प्रयुक्त थे, आदि आदि। कार्नप, न्यूरथ, शिलक आदि जबकि वाक्यों का अर्थ मूलवाक्यों में विघटन द्वारा देते हैं, वे मूल वाक्यों को भाषीय तथा आभिरौढ़िक मानते हैं। वास्तव में वे इस प्रश्न को ही कि 'सद्यः प्रदत्त के विषय क्या हैं ?' चित्रशैली में (और अतएव भ्रामकतया) प्रस्तुत साइंटेक्टीकल (रूपात्मक) प्रश्न मानते हैं, जो रूपात्मक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाना चाहिये— 'मूलवाक्यों (प्रोटोकोल सेंटेंसिस) में कैसे पद प्रयुक्त होते हैं ?'[८] किन्तु हमारे विचार में समानार्थकता का प्रश्न अनिवार्यतः भाषेतर प्रसंग को पूर्वकल्पित करता है। जैसे 'हाथी'= अमुक अमुक प्रकार का पशु विशेष' में निरूपणात्मक पद घटित होते हैं जो अन्ततः सद्यः संवेदों के वाचक हैं और इसीसे ये मूलवाक्यों में घटित होते हैं। इन मूलवाक्यों के प्रसंग से ही किन्हीं दो वाक्यों की समानार्थकता का ग्रहण होता है, अथवा कहें, जब दो वाक्य एक ही वस्तु-स्थिति के वाचक होते हैं तब वे समानार्थक होते हैं। कल्पना (Image) तथा प्रतिक्रिया (Reaction) में अन्तर समझ लेना आवश्यक है—'पिता=

७. यूनीटी आफ साइंस, पृ० ३८, लोजीकल साइंटेक्स आफ लेंग्वेज, पृ० २७७-३३१।
८. यूनीटी आफ साइंस, पृ० ४५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाता का खसम' समानार्थक हैं* क्योंकि ये एक ही "कल्पना" से सम्बद्ध हैं, किन्तु ये भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं के जनक हो सकते हैं। 'य के पुत्र की मृत्यु हो गयी' को सुनने वाले दो व्यक्तियों में यदि एक य का मित्र है और दूसरा शत्रु तो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न होगी, किन्तु मानसिक कल्पना एक ही होगी। समानार्थकता का सम्बन्ध संक्रमणात्मक (ट्रांज़िटिव) तथा समात्मक (साइमीट्रीकल) है: यदि य र के समान है और र ल के समान है तो य ल के समान है (संक्रमणात्मक), और इसी प्रकार, यदि य र के समान है तो र य के समान है (समात्मक)। अब ऐसे सम्बन्धों के लिये यह आवश्यक है कि ये सम्बन्ध किसी अन्य के प्रसंग से हों, जिसे हम 'किस दृष्टि से' अथवा 'किस आधार पर' के द्वारा व्यक्त करते हैं। 'राम श्याम का भाई है' तथा 'श्याम राम का भाई है' समानार्थक वाक्य हैं क्योंकि दोनों वाक्यों की संज्ञाएं एक ही हैं तथा सम्बन्ध समात्मक हैं। इसके विपरीत 'राम श्याम से बड़ा है' तथा 'श्याम राम से बड़ा है' समानार्थक नहीं हैं, क्योंकि 'बड़ा' द्वारा व्यक्त सम्बन्ध समात्मक नहीं है। विस्तारात्मक भाषा में समानार्थक वाक्य एक ही वस्तुस्थिति का विधान करने के कारण समानार्थक हैं। 'वस्तु स्थिति' प्रयोग पुनः समस्यायें उत्पन्न करता है,किन्तु यहां हम इसका प्रयोग घटनाओं तथा अपने उन विश्वासों के अर्थ में कर रहे हैं जो कि सत्य या असत्य हैं। दूसरा रसल की प्रोपोज़ीशंज़ की परिभाषा के अनुरूप है। प्रथम (घटनाओं) पर हमने "विशिष्ट,सामान्य और अस्तित्व",निबन्ध में विचार किया था। इस अर्थ में 'वस्तु-स्थिति' की अभिव्यक्ति वाक्यीय व्यापार 'र (य)' के स्थानान्तरण वाक्यों 'र१ (अ)' आदि द्वारा होती है। घटनाएँ जबकि सरल और अनिवार्यतः सत्यापन-निरपेक्ष हैं, विश्वास संश्लिष्ट और अतएव सत्यापनीय हैं। वास्तव में प्रमाणीकरण सिद्धान्त के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भाषेतर प्रसंग को स्वीकार करे।

किन्तु अर्थ की यह व्याख्या संकुचित कही जा सकती है। वास्तव में अर्थ अनेक प्रकार के हैं – संवेगात्मक अर्थ (इमोशनल मीनिंग), विध्यात्मक अर्थ (मोटीवेटिव मीनिंग) तथा विध्यात्मक अर्थ (Semantic Meaning) आदि। 'आह्! कैसा भयानक है!' संवेगात्मक अर्थ का व्यंजक है, 'चले जाओ' विध्यात्मक अर्थ का व्यंजक है तथा 'मेज़ रक्त है' प्रकथनात्मक अर्थ का व्यंजक वाक्य है। प्रथम दो के अर्थों का विश्लेषण यहां अभीष्ट नहीं है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से इनका विश्लेषण अप्रासंगिक है, यद्यपि अब तक हमारा अर्थ का विश्लेषण बहुत अंशों में इस प्रकार के वाक्यों पर भी लागू होता है। प्रकथनात्मक वाक्यों के भी तीन प्रकार हैं: अभिधात्मक, लाक्षणिक तथा

* समानार्थकता सम्बन्धी समस्याओं पर विशेषरूप से विचार अध्याय ६–८ में किया जायगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यंजक। यहां केवल अभिधात्मक अर्थ ही अभिप्रेत है।

अब प्रकथनात्मक अभिधा वाक्य 'यह मेज़ है' स्वयं एक तथ्य है (जबकि यह ध्वनियों अथवा मुद्राओं का समवाय है) और एक विलक्षण ढंग से अन्य तथ्यों से सम्बन्धित है। एक तथ्य के रूप में, जिसे हम वाक्यीय तथ्य कह सकते हैं, यह विशिष्ट भी है और सामान्य भी। इस की एक घटना विशिष्ट तथ्य है, और जब यह घटनाओं के सम्पूर्ण वर्ग का वाचक है तब यह सामान्य तथ्य है। 'व१' को 'यह मेज़ है' का स्थानापन्न मानते हुए हम 'व१ (अ)' द्वारा इस की एक घटना तथा 'व१ (य)' द्वारा इस के सामान्य रूप (पर्टीकुलर फोर्म एन्ड यूनीवर्सल फोर्म) को व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार, सामान्य के रूप में इसका रूप वाक्यीय व्यापार का है। इसके अस्तित्व का विधान करने के लिये हम इसे '(य)व१ (य)' द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, क़िन्तु जैसाकि हम वि. स. अ. अध्याय में देख चुके हैं, यह किसी 'सामान्य तथ्य' के अस्तित्व–का वाचक नहीं है। हमारे विचार में 'सामान्य तथ्य' पद किसी पर लागू नहीं होता! किन्तु जबकि हम सामान्य तथ्य के अस्तित्व से इन्कार कर सकते हैं, सामान्य वाक्य से इन्कार नहीं कर सकते। वास्तव में सामान्य वाक्यों के होने के कारण ही हम सामान्य तथ्यों के अस्तित्व को स्वीकार करने को भी प्रेरित होते हैं। किन्तु '(य) व१ (य)'–'प्रत्येक वाक्य व१' . . .' किसी सामान्य अस्तित्व का विधान नहीं करता, केवल स्थानापन्न विशिष्ट वाक्य (उदाहरण वाक्य) 'व१ (अ)' ही अस्तित्व का विधान करते हैं। यदि हम प्रत्येक घटना को, चाहे वह सरल हो या संश्लिष्ट, पृथक् संज्ञा दें तो यह समस्या समाप्त हो जाती है। आपत्ति की जा सकती है कि 'समानार्थकता' की परिभाषा हमने सामान्य (एक ही वस्तु–स्थिति) के द्वारा दी है, तब हम सामान्य का निषेध किस प्रकार कर सकते हैं? किन्तु यह भ्रम वास्तव में पुनः उसी अवधारणा (कांसेप्ट) पर प्रतिष्ठित है जिसका निराकरण हमने यहां करने का प्रयत्न किया है। 'गज़ भर लम्बाई' को लें। अब यह 'गज़ भर लम्बाई' क्या है? 'प्रत्येक इतनी लम्बी रेखा' गज़ भर लम्बाई का निर्धारण करती है। इसी प्रकार 'कोई संख्या' क्या है? समान संख्यक सदस्यों वाले वर्ग किस संख्या का निर्धारण करते हैं? अब 'इतनी लंबी' अथवा 'समान वर्ग' स्वतः किसी अस्तित्व का विधान नहीं करते, जैसाकि वि. सा. अ. अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है।

तब क्या हम 'यह मेज़ है' वाक्य के दो उदाहरणों को भिन्न-भिन्न वाक्य कहेंगे? वास्तव में यह, अथवा अन्य वाक्य भी इसी प्रकार, अपनी भिन्न भिन्न घटनाओं में भिन्न अर्थ के वाचक हो सकते हैं। उदाहरणतः 'यह मेज़ है' वाक्य के दो प्रयोग दो भिन्न वस्तुस्थितिओं में प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसेः 'यह मेज़ है' मेज़१ के लिये तथा दूसरा 'यह मेज़ है' मेज़२ के लिये प्रयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार, इसका प्रयोग एक ही मेज़ की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ओर संकेत करने के लिए दो व्यक्ति भी कर सकते हैं और अतएव ये भिन्न भिन्न तथ्यां के वाचक हैं। जब एक ही व्यक्ति एक ही मेज़ के लिये इस वाक्य का प्रयोग करता है तब भी वह मेज़ की दो भिन्न अवस्थाओं की ओर संकेत करता है, जिस प्रकार नदी की ओर कोई दो बार संकेत करने पर दो भिन्न धाराओं की ओर संकेत करता है। यहां आपत्ति की जायगी कि 'मेज़' शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होने पर विशेष मेज़ की सब अवस्थाओं के संकलन का वाचक है। अतः कम से कम उस अवस्था में, जबकि एक ही व्यक्ति एक ही संकलन – मेज़—को लक्ष्य कर 'यह मेज़ है' के लगभग समान ध्वनियों का उच्चारण करता है तब एक ही वाक्य-प्रकार की दो घटनाएं वास्तव में एक ही वाक्य हैं और हम इन वाक्यों को एक ही संज्ञा दे सकते हैं।

स्पष्टतः यह बहुत चक्करदार स्थापना है और किसी भी प्रकार से स्पष्ट नहीं है। हम अवस्थाओं के विशेष संकलन को एक संज्ञा दे सकते हैं, यद्यपि यह स्वयं अपने आप में स्पष्ट नहीं है कि किस प्रकार उस संकलन की ओर संकेत किया जा सकता है।[८] मेज़ के समान ही द्रष्टा भी एक संकलन है। किन्तु इस समस्या की यहां उपेक्षा करते हुए भी यह समस्या एक भयानक समस्या है कि दो लगभग समान, अथवा सर्वथा समान, ध्वनियों को भी एक ही वाक्य कैसे कहा जा सकता है? सर्वथा समान दो रेखाएं, सर्वथा समान दो आकार, सर्वथा समान दो गतियां क्या एक ही रेखा, एक ही आकार, एक ही गति के भिन्न भिन्न उदाहरण कहे जा सकते हैं? दो समान ध्वनियों द्वारा एक ही वस्तुस्थिति का बोध होने पर भी इन्हें एक ही वाक्य नहीं कहा जा सकता, यद्यपि एक ही भाषा की दो ध्वनियां अथवा दो भाषाओं के समानार्थक वाक्य एक ही वस्तु-स्थिति के बोधक हो सकते हैं। इस प्रकार, हमारे विचार में, किसी वाक्य को उसकी घटनाओं से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं कहा जा सकता।

किन्तु फिर भी वाक्यों की समानता एक स्वीकृत तथ्य है-'सीता राम की पत्नी है' तथा 'राम सीता का पति है' केवल एक वस्तु-स्थिति के व्यंजक होने से ही समानार्थक नहीं हैं प्रत्युत इस लिए भी समानार्थक हैं क्योंकि एक का स्वीकार और दूसरे का निषेध अन्तर्विरोधपूर्ण है। इन्हें 'व१=व२' इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। इन दोनों वाक्यों की समता का आधार स्पष्ट है: यदि दोनों वाक्यों में प्रयुक्त संज्ञायें उन्हीं व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हैं तो 'राम=राम', 'सीता=सीता' पुनरुक्ति मात्र है, 'पति' तथा 'पत्नी' इस प्रकार के सम्बन्धवाचक पद हैं कि एक के दूसरे का पति होने पर यह असंभव है कि दूसरी उसकी पत्नी न हो। यह तथ्य हमें एक विचित्र समस्या में डाल देता है। किन्तु यहां

८. इस प्रसंग में विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्यः क्वाइन की पुस्तक 'फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू में अध्याय ४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है कि वास्तव में यहां समस्या क्या है ? प्रथम तथा स्पष्ट समस्या यह है कि दो वाक्य–घटनाओं में परिभाषया कोई संबंध नहीं हो सकता। अतः दो वाक्य–घटनाओं को समान कहना समस्यात्मक है। किन्तु यह समस्या केवल ऊपरी है। वाक्यीय घटना अपने से भिन्न तथ्य की व्यंजक है। अब जब हम एक मेज़ को देख कर कहते हैं 'यह मेज़ है', उस समय इसके साथ ही मेरे मन में एक वाक्य 'दिस इज़ ए टेबल' भी घटित हो सकता है। ये दोनों वाक्य एक अर्थ के व्यंजक होने से समानार्थक वाक्य हैं। किन्तु जब हम कहते हैं 'राम सीता का पति है'='सीता राम की पत्नी है' तब इन वाक्यों की समता वाक्य–घटनाओं की समता नहीं है प्रत्युत वाक्य-सामान्यों की समता है, क्योंकि जब हम दो वाक्यों में समता का विधान करते हैं तब यह विधान हम इनकी दो घटनाओं में नहीं प्रत्युत इनके सामान्य रूपों में करते हैं। घटनाओं के रूप में संभव है ये समान नहीं हों, संभव है इनका प्रयोग करने वालों में इनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं आदि भिन्न हों, संभव है 'राम' तथा 'सीता' दो भिन्न वाक्य–घटनाओं में दो भिन्न व्यक्तियों की संज्ञाएं हों। अतः इन दो वाक्यों की समता दोनों के सब प्रयोगों में 'राम' तथा 'सीता' पदों के उपलक्षों की अभिन्नता को तथा 'पति' और 'पत्नी' द्वारा व्यक्त वर्गों के विस्तार की अभिन्नता को, और पुनः इनके यहां उदाहरित होने की अभिन्नता को, पूर्वकल्पित करती है। वास्तव में दो वाक्यों में किसी भी तार्किक सम्बन्ध के विधान का यह पूर्वाग्रह है कि वाक्य एक घटना नहीं प्रत्युत सामान्य हो।

यह ठीक है, किन्तु इससे इस तथ्य का खंडन नहीं होता कि वाक्य-सामान्य केवल वाक्यीय व्यापार द्वारा बोध्य है और इस प्रकार इसके अस्तित्व का प्रश्न अन्य वाक्यीय व्यापारों के समान है। जब हम कहते हैं कि दो विधेय पदों का अथवा उनसे निर्मित वाक्यों का विस्तार एक ही है, तब इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वर्ग अथवा एक भी सदस्य का अस्तित्व है, यह केवल उसके विस्तार का, अथवा पहुँच का बोधक है।

इस प्रकार यह लागू करता है कि सत्य अथवा असत्य वाक्य-घटनाएँ हैं, वाक्य–सामान्य नहीं, क्योंकि यह संभव है कि एक वाक्य-घटना तथा उसी प्रकार की दूसरी वाक्य-घटना के लक्ष्य सर्वथा भिन्न हों, अथवा एक वाक्य-घटना का उच्चारण सलक्ष हो और दूसरी का केवल शाब्दिक हो, अथवा एक का उच्चारण हिन्दी में हो और दूसरी का किसी अन्य भाषा में हो। किसी वाक्य का प्रकथन सम्पूर्ण वाक्य द्वारा निर्धारित होता है जबकि उसका अर्थ शब्दों द्वारा ग्रहण होता है। और जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, शब्द सत्य या असत्य नहीं होते, ये केवल सार्थक या निरर्थक होते हैं।

अब, शब्द सार्थक किस प्रकार होते हैं ? इसका उत्तर कोई एक नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द कम से कम दो प्रकार से सार्थक होते हैं। शब्दों का अत्यन्त आदिम प्रयोग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह है जब वे किसी विषय की उपस्थिति में उसको लक्ष्य कर बोले जाते हैं।[९] यदि बच्चे को कुत्ता दिखा कर 'कुत्ता' शब्द का उच्चारण किया जाता है तो 'कुत्ता' शब्द सार्थक-रूप से प्रयुक्त किया गया है। अब यह आवश्यक नहीं है कि कुत्ता देखने पर 'कुत्ता' शब्द द्वारा ही उसका निर्देश सार्थक है: यदि 'बिल्ली' शब्द का हम उच्चारण करते हैं और उसका लक्ष्य कुत्ता दिखाना ही है तब भी हम शब्द का सार्थक तथा उचित प्रयोग करते हैं, यद्यपि हम उसका परम्परया स्वीकृत प्रयोग नहीं करते। इससे कम किन्तु पर्याप्त आदिम प्रयोग वह है जबकि कुत्ते की अनुपस्थिति में इस शब्द का उच्चारण कुत्ता लाने के आदेश के लिये, अथवा डराने के लिये, अथवा इस प्रकार के अन्य किसी उद्देश्य से किया जाता है। दूसरी अवस्था में शब्द का यह प्रयोग अगमनात्मक (इंडक्टिव) है, क्योंकि यह ससम्बन्ध द्वारा मानसिक आकृतियों तथा प्रत्याशाओं को उसी प्रकार जन्म देता है जिस प्रकार बिजली का चमकना बादल की गरज सुनने के लिये प्रस्तुत होने की मानसिक स्थिति को जन्म देता है। किन्तु दूसरे प्रयोग में (विषय की अनुपस्थिति में) शब्द का प्रयोग अनिवार्यतः वाक्यात्मक है, शब्द अकेला अगमनात्मक नहीं है। किन्तु हमारे विचार में, अकेला शब्द भी अनेक बार अगमनात्मक रूप से प्रयुक्त हो सकता है। कोई शेर को देख कर 'शेर' शब्द का उच्चारण करता है, जबकि दूसरे ने शेर की ओर पीठ की है। अब दूसरा व्यक्ति यह शब्द सुन कर चौंक उठेगा। इस व्यक्ति के लिये यह प्रयोग अगमनात्मक होगा और यह वाक्यीय नहीं होगा, क्योंकि बोलने वाले के मन में यह विचार नहीं आया होगा कि वह दूसरे को बताये कि "शेर आया है, भागो," और न श्रोता का भागना या चौंकना उसके इस विचार से प्रेरित होगा कि अब दौड़ना चाहिये। किन्तु इसके बावजूद आप इसे वाक्यीय प्रयोग कह सकते हैं, क्योंकि आप इस सम्पूर्ण व्यवहार को वाक्यीय व्यवहार (सेंटेंश्यल बिहेव्यर) कह सकते हैं।

यह मनोवैज्ञानिक मतभेद हमारी इस व्याख्या में महत्वपूर्ण नहीं है, हमारा उद्देश्य यहां केवल शब्द के आदिम सार्थक प्रयोग को देखना है। यह यहां अप्रासंगिक है कि वह अनिवार्यतः वाक्यात्मक है या नहीं।

शब्द के अर्थ-निर्धारण का दूसरा ढंग उसके व्याकरण (साइंटेक्स) का निर्धारण करना है। कार्नप, श्लिक आदि भाववादी दार्शनिक केवल व्याकरण-निर्धारण को ही अर्थ-निर्धारण को एकमात्र विधि समझते हैं। वे प्रश्न करते हैं "शब्द का अर्थ क्या है? शब्द के सार्थक होने के लिये कोन से नियमों का निश्चय आवश्यक है? प्रथम, शब्द के वाक्य-रचना के नियम अवश्य निर्धारित होने चाहियें, अर्थात् ऐसे सरलतम

९. रसल-इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रूथ, अध्याय १,४। एच. एच. प्राइस, थिंकिंग एंड एक्स्पीरीयेंस, अ. ४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्यों में इसके प्रयोग का रूप निर्धारित होना चाहिये जिन में यह घटित हो सकता है। जैसे 'पत्थर' शब्द के लिये सरल वाक्य-रूप 'य पत्थर है' है।"[१०] किन्तु जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, यह अनेक में से केवल एक विधि है और किसी भी प्रकार से अन्य विधियां को स्थानान्तरित करने के अयोग्य है।

वैयाकरण का कार्य सार्थक वाक्यों से आरम्भ होता है, क्योंकि वह पहले सार्थक वाक्यों को एकत्र करता है और देखता है कि उसकी अध्येय भाषा में कौन से वाक्यीयरूप सार्थक हैं। वह सार्थक वाक्यों के छोटे से छोटे रूप का निश्चय करता है और तब उनके बड़े वाक्यों में संकलन के नियमां का निश्चय करता है। इस प्रकार, वैयाकरण का कार्य सार्थकता को पूर्वकल्पित करता है। अतः अर्थ सार्थक अनुक्रम (सिग्नीफिकेंट सीक्वेंस) की अवधारणा का निश्चय करना नहीं है, क्योंकि जब तक आप शब्द के तार्किक प्रकार (लोजीकल टाइप) को नहीं जानते तब तक आप वाक्य की सार्थकता का निश्चय नहीं कर सकते। वास्तव में, व्याकरण केवल सार्थक वाक्य के रूप का निश्चय करता है, किन्तु केवल वाक्य-रूप वाक्य की सार्थकता का निर्धारण नहीं करता। 'चतुष्कोण शराब पीता है' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है किन्तु इसका कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि चतुष्कोण ऐसी वस्तु नहीं है जो शराब पी सके। 'चतुष्कोण' और 'शराब' शब्द तर्कतः भिन्न प्रकारों के हैं, जैसाकि रसल के 'तार्किक प्रकारों'[११] (लोजीकल टाइप्स) के सिद्धान्त से स्पष्ट है।

कार्नप निस्संदेह तार्किक व्याकरण (लोजीकल साइंटेक्स) को शब्द के अर्थ-निश्चय के लिये आवश्यक मानते हैं न कि सामान्य व्याकरण को, किन्तु वे शब्द के अर्थ-निर्धारण के प्रथम प्रकार की उपेक्षा करते हैं, यह पीछे देखा जा चुका है। यह उनके वाक्यार्थ निर्धारण सम्बन्धी निम्न प्रतिपादन से स्पष्ट है:- "कोई वाक्य व किन अन्य वाक्यों से निगमनीय (डिड्यूसीवल) है तथा व से कौन से वाक्य निगमनीय हैं।"[१२] इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कार्नप वाक्यों में तार्किक सम्बन्धों को तथा तार्किक निगमन को ही वाक्य के अर्थ-निर्धारण का आधार मानते हैं। वास्तव में तार्किक भाववादियों ने प्रमाणीकरण सिद्धान्त को भी तार्किक निगमन के नियमां द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, किन्तु जैसाकि पीछे अनुभव किया गया, यह प्रयास सफल नहीं हो सका।

१०. लोजीकल पोज़ीटिविज़्म में कार्नप का लेख-इलिमीनेशन आफ मेटाफिज़ीक्स, पृ० ६२।

११. इस सिद्धान्त की सरल व्याख्या के लिये द्रष्टव्य-रसल की इन्ट्रोडक्शन टू मैथेमैटीकल फिलासफी, अ. ५.

१२. लोजीकल पोज़ीटिविज़्म पृ० ६२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"इसका परिणाम या तो अल्पव्याप्ति दोष हुआ अथवा अतिव्याप्ति दोष।"[१३] तो भी यह देखना रोचक होगा कि कार्नप, जो रूपात्मक शैली के आवरण में छिपना चाहते हैं[१४], अनुभव को संकेतात्मक वाक्यों के लिये किस प्रकार आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, "तर्क-वाक्य का अर्थ उसके प्रमाणीकरण की विधि है। प्रकथन (स्टेटमेंट) उतना कथन करता है जितना इसके द्वारा प्रमाणीय है। अतः एक वाक्य आनुभविक प्रतिज्ञा (एम्पीरिकल प्रोपोज़ीशन) का तभी विधान करता है यदि यह कुछ भी प्रकथित करता है। यदि कुछ सिद्धान्ततः अनुभवातीत है तो न उसका प्रकथन किया जा सकता है, न चिन्तन और न उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया जा सकता है।"[१५]

वास्तव में कार्नप तथा अन्य भाववादियों का प्रथम उद्देश्य ही उस दर्शन-प्रणाली का निषेध था जो अलक्ष्य (अन्पर्सीविवल), अनुभवातीत अस्तित्व की चर्चा अपना उद्देश्य बनाती है। अतः वे अनुभव को अन्तिम कसौटी स्वीकार किये विना नहीं चल सकते थे। किन्तु तार्किक शुद्धता (लोजीकल प्योरिटी) के आग्रह ने उन्हें कभी कभी विचित्र सिद्धान्त स्वीकार करने को भी वाध्य किया। प्रमाणीकरण सिद्धान्त वास्तव में अनुभव को अन्तिम कसौटी स्वीकार किये विना असंभव है। अतः यदि प्रमाणीकरण सिद्धान्त के प्रवक्ता अन्य उद्देश्यों (अल्टीरियर मोटिव्ज़)से वाक्यों की परस्पर संगति को सत्य की कसौटी मानते हैं तो यह केवल दुराग्रह है, क्योंकि (१) यदि एक वाक्य अन्य अनेक वाक्यों से संगत है तो इससे यह लागू नहीं होता कि वह वाक्य सत्य है, क्योंकि वह वाक्य केवल वाक्यों की उस योजना (सिस्टम) में ही संगत है, और योजनाओं का आधार विशुद्धरूप से स्वीकृत रूढ़ियां हैं। "अब वाक्यों की अन्य ऐसी योजनायें संभव हैं जिनमें यह वाक्य असंगत हो और ये योजनायें अपने आपमें पूर्णतः संगत हों।"[१६] "इसी प्रकार वाक्यों की समानार्थकता के सम्बन्ध में भी। 'कोई वाक्य दूसरे वाक्य का समानार्थक है' से अभिप्राय है कि दोनों वाक्य श्रोताओं में समान कल्पना उत्पन्न करते हैं, अथवा दोनों

१३. लोजीकल पोज़ीटिविज़्म में हैम्पल का लेख-एम्पीरिकल क्राइटीरियन आफ मीनिंग-पृ० ११३।

१४. कार्नप अब इस मत को छोड़ चुके हैं।

15. ......the meaning of a statement lies in the method of its verification. A statement asserts only so much as is verifiable with respect to it. Therefore a sentence can be used only to assert an emperical proposition, if indeed it is used to assert anything at all. 1f something were to lie, in principle, beyond possible experience, it could be neither said nor thought nor asked. (Logical Positivism, P. 76).

१६. ए. जे. एयर—एक्सपीरीयेंस एंड वेरीफीकेशन, (लोजीकल पोज़ीटिविज़्स।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में प्रयुक्त शब्द समान तथ्यों का निर्देश करते हैं, आदि। यही कारण है कि जब हम किसी से पूछते हैं कि " 'राम सीता का पति है' का क्या अर्थ है?" और वह उत्तर देता है कि "इसका अर्थ है 'सीता राम की पत्नी है' " तो हम केवल खीझ सकते हैं। हम उससे सरलतर (अथवा कहें, स्थूलतर) शब्दों में इसका विश्लेषण चाहते हैं, जिसे हम व्याख्यात्मक परिभाषा कहते हैं*।

अब यह विश्लेषण अथवा विघटन यद्यपि अन्य वाक्यों में होता है,जो विश्लेष्य वाक्य के समानार्थक होते हैं, किन्तु विघटन वाक्यों का उपलक्ष अपेक्षाकृत स्थूलतर और परिचित (इंटरप्रेटिड) होता है; और हम इस विघटन में तबतक प्रग्रसर हो सकते हैं जबतक हम ऐसे वाक्यों पर नहीं पहुँचते जो सरलतर, अथवा कहें स्थूलतर, वाक्यों में विश्लेष्य नहीं हैं। ये हमारे मूलवाक्य हैं। कार्नप के विघटन वाक्य ऐसे ही वाक्य हैं, यद्यपि हमारे विचार में वे इनको रचना भ्रामकरूप से करते हैं। उनके मूलवाक्य–'संवेद्य गुण ग देश-काल य; र; ल; व; पर है' में 'देश-काल' तथा 'पर' को बिना किसी व्याख्या के स्वीकार कर लिया गया है, जो अनुचित है द्रष्टव्य, विशिष्ट, सामान्य और अस्तित्व)।

प्रो॰ क्वाइन कार्नप, तथा उनसे भी अधिक अन्य, अनुभववादियों की इस विघटन–प्रणाली पर आपत्ति करते हुए कहते हैं–'विघटनवादी अन्धविश्वास इस धारणा के रूप में विद्यमान है कि प्रत्येक प्रकथन सम्बद्ध अन्य प्रकथनों से स्वतन्त्र पुष्ट अथवा अनुमित (कन्फर्म्ड और इन्फर्म्ड) हो सकता है। इसके विपरीत मेरा सुझाव, जो कार्नप के 'आँफबा' में प्रतिपादित भौतिक संसार सम्बन्धी सिद्धान्त से प्रेरित है, यह है कि भौतिक विश्व सम्बन्धी हमारे प्रकथन संवेदों के न्यायालय के सम्मुख व्यक्तिगतरूप से नहीं प्रत्युत सावयव सायुज्य (कोर्पोरेट बोडी) के रूप में प्रस्तुत होते हैं" ।१९

'सावयव सायुज्य' से उनका अभिप्राय सम्पूर्ण तार्किक अवधारणात्मक योजना (लोजीको साइंटीफीक कांसेप्चुअल स्कीम) से है। और भी, वे ऐसे वाक्यों, जैसे 'साथ के कमरे में मेज़ है' को इस अवधारणात्मक योजना से शिथिलरूप से सम्बद्ध मानते हैं, अथवा उनकी उपमानुसार, ये वृत्त के बाह्य छोर के निकिट हैं, जो अनुभव से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है। संभवतः इसके विरुद्ध किसी विघटनवादी को आपत्ति नहीं हो सकती, आपत्ति केवल इस बात पर हो सकती है कि क्वाइन समझते हैं कि वह इससे भिन्न कुछ कह रहा है। फिर भी क्वाइन को उचित दिशा की ओर उचित आग्रह के साथ संकेत करने का श्रेय दिया जाना चाहिये।

* यहां किसी भी प्रकार से समानार्थकता की समस्या के सामान्य समाधान का प्रयत्न नहीं किया गया है।

१९. फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू में 'टू डोग्माज़ आफ एम्पीरीसिज़्म।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्थकता

जैसाकि हमने मूलवाक्य अध्याय में वार-वार ज़ोर देकर कहा है, प्रत्येक भौतिक-विषय-वाक्य एक अवधारणात्मक योजना का भाग है और अतएव यह तवतक कुछ प्रकथित नहीं करता जवतक हम इससे कुछ मांग नहीं करते। किन्तु जव हम अवधारणात्मक योजना के अन्तर्गत इसके स्थान का निश्चय कर लेते हैं तव इसके सत्यासत्य का निश्चय अन्ततः किन्हीं ऐसे सरल वाक्यों के द्वारा ही हो सकता है जो हमारे अनुभव के वाचक हैं। अव यह अवधारणात्मक योजना क्या है ? यह हमारे सत्यासत्य निर्णय की कसौटी के विधान से स्पष्ट है: "प्रत्येक अवधारणात्मक योजना अन्ततः अपने औचित्य के प्रमाण-पत्र के लिये हमारे अनुभव के न्यायालय की मुखापेक्षी है।" (क्वाइन) किन्तु इस उत्तर का अनुक्रम वदला भी जा सकता है और यह परिवर्तन हमें समस्या के आधार तक पहुँचा देगा; हम कहेंगे: "हम कुछ अनुभव करते हैं और विभिन्न अनुभवों में एक शृंखला देखते हैं; और साथ ही, हम कुछ अन्य अनुभव करते हैं और उनमें वह शृंखला नहीं देखते। हमारी अवधारणात्मक योजना इस शृंखला के नैरन्तर्य तथा शृंखला-हीनता में शृंखलता स्थापित करने की क्रिया है।" यह व्याख्या वास्तविकता के अनुरूप है। क्वाइन की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है जैसे अवधारणात्मक योजना मौलिक है तथा अनुभव का न्यायालय केवल गौण तथा अवान्तर महत्व रखता है। किन्तु ऐसा केवल विकसित स्थितियों में ही होता है, जव हम अवधारणाओं को विना मूल प्रसंग के समझने में अभ्यस्त हो जाते हैं। हमारी यह आपत्ति वाल की खाल उतारना नहीं है प्रत्युत वास्तविक भ्रान्ति के निराकरण का प्रयत्न है। अर्थ का प्रमाणीकरण सिद्धान्त तथा मूलवाक्यों और अस्तित्व के प्रश्न सम्वन्धी सुविधापेक्षता अथवा रूढ़ि (Matter of Convenience or Convention) के सिद्धान्त इसी भ्रान्ति पर आधारित हैं।

प्रमाणीकरण सिद्धान्त वाक्यों का अर्थ प्रमाण-विधि का सापेक्ष मानता है। कार्नप के अनुसार स्थूलरूप में इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: "विज्ञान की सम्पूर्ण भाषा भ का प्रत्येक पद संवेद-प्रदत्तों की पदावली में विश्लेष्य है।"[१६] जैसाकि हमारे प्रतिपादनों में स्पष्ट है, इस पर हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती और न विघटन-सिद्धान्त से कोई मतभेद है, आपत्ति केवल इस सिद्धान्त के पूर्वाग्रहों से है जो इसे उपहासास्पद वना देते हैं। "वाक्यों का अर्थ उनकी प्रमाण-विधि है" प्रकथन यह पूर्वकल्पित करता है कि जो वाक्य प्रमाण-विधि द्वारा निर्धार्य नहीं हैं वे सार्थक वाक्य नहीं हैं। अव स्वयं विश्लेषणान्त में प्राप्त ये मूलवाक्य प्रमाण-विधि-सापेक्ष नहीं हैं, जैसाकि 'मूलवाक्य' में हमने स्पष्ट किया है। प्रमाणीकरण सिद्धान्त इन वाक्यों की सार्थकता अस्वीकार नहीं करता क्योंकि तव स्वयं प्रमाणीय वाक्य निरर्थक हो जाएंगे, किन्तु जिस

१६. टैस्टेबिलिटी एंड मीनिंग, ४६३-६४.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है उस रूप में यह इन वाक्यों को प्रभावहीन पृष्ठभूमि में धकेल देता है, यद्यपि यह इन्हें न्यायपीठिका पर ससम्मान बैठा देता है। यह केवल ऐसे वाक्यों का ध्यान रखता है जैसे 'मेज़ साथ के कमरे में है' अथवा 'देश–काल द१ पर त२ डिग्री तापमान है'। यह ऐसे वाक्यों का ध्यान नहीं रखता, जैसे 'यह रक्त है' अथवा 'यह कठोर है' आदि। हमारे विचार में प्रमाणीकरण सिद्धान्त एक अधिक विस्तृत सिद्धान्त में, जिसे हम परिचय सिद्धान्त कहते हैं, एक अंग के रूप में आना चाहिए।

परिचय-सिद्धान्त के अनुसार कोई वाक्य सार्थक है यदि इसके सब अतार्किक पद प्रत्यक्षरूप से, अथवा अन्य मध्यान्तर (इंटरवेनिंग) शृङ्खलाओं के द्वारा, प्रदृश्यों के वाचक हैं, तथा वाक्य की रचना भाषा–विशेष के तार्किक व्याकरण के अनुरूप है। इस प्रकार, 'यह रक्त है' तथा 'इस कमरे में मेज़ है' सार्थक वाक्य हैं, क्योंकि प्रथम प्रत्यक्ष-रूप से तथा द्वितीय परोक्षरूप से प्रदृश्यों के वाचक हैं। प्रथम प्रकार के पदों को हम 'प्रदृश्य प्रकार के पद' कह सकते हैं। इस प्रदृश्यता सिद्धान्त के अनुसार 'ईश्वर असीम शक्ति सम्पन्न है' अथवा 'ईश्वर एक है' निरर्थक वाक्य हैं क्योंकि प्रथम वाक्य में द्वितीय पद प्रदृश्य प्रकार का नहीं है तथा द्वितीय वाक्य तार्किक नियमों के अनुसार निर्मित नहीं है। दूसरे वाक्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित है: ईश्वर पद तार्किक संज्ञा नहीं है तथा न ही यह अनिश्चित उद्देश्य पद (साब्जेक्टिव वेरीयेवल) है, यह विधेय है जिस प्रकार 'मेज़', 'मनुष्य', 'पत्थर' आदि विधेय हैं। इस प्रकार 'ईश्वर' पद 'ईश्वर · · · · · है' (· · · · (ईश्वर)') इस प्रकार से नहीं प्रयुक्त हो सकता, यह 'ईश्वर (य)'-'कोई ईश्वर है' अथवा 'कुछ ईश्वर है' इस प्रकार के वाक्यों में प्रयुक्त हो सकता है। पुनः 'एक' भी विधेय पद है। अतः इस वाक्य की उचितरूप से रचना इस प्रकार होगी: (१) य के सब मूल्यों में, य एक तथा ईश्वर है, अथवा (२) य के कम से कम एक मूल्य में य एक तथा ईश्वर है, अथवा (३) य के अधिक से अधिक एक मूल्य में य एक तथा ईश्वर है। अब जैसाकि स्पष्ट है, इन रचनाओं में 'एक' विधेय अनुपयुक्त है। इसी प्रकार "अहं को अनिवार्यतः अपनी वास्तव सत्ता में निहित होना चाहिये" अर्थहीन वाक्य है। 'अहं' को अपनी भाषा में परिभाषित मानते हुए, उसके 'सत्ता में निहित होने' का क्या अर्थ है? सत्ता की वास्तविकता का क्या अर्थ है? क्या कोई सत्ता अवास्तविक भी होती है? 'अनिवार्यतः' का अर्थ क्या है, क्या इसका अर्थ 'आकस्मिकता का विपरीत' है? इन प्रश्नों का उत्तर संभव नहीं है क्योंकि यह वाक्य इसका उचित अर्थ विचार कर नहीं प्रत्युत इसकी रहस्यात्मकता से प्रभावित हो कर लिखा गया है। इस रहस्यात्मकता में इस वाक्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का कोई भी पद–'अहं', 'अपनी वास्तव सत्ता में निहित' प्रतिपादनात्मक अर्थयुक्त नहीं है, केवल संवेगात्मक अर्थयुक्त है। जैसाकि हमने वि. सा. अ. में देखा है, 'अहं (अथवा किसी भी अन्य) का अस्तित्व है' तार्किक व्याकरण के नियमानुसार ग़लत वाक्य है, क्योंकि यह 'अहं है' का भ्रामक रूप है, और जैसकि सामान्य व्याकरण के नियमों के अनुसार स्पष्ट है, 'अहं है' वाक्य ग़लत है।

अस्तु, "प्रदृश्य प्रकार के" पदों को अर्थ का आधार स्वीकार करने के पक्ष में हमने 'मूलवाक्य' निवन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया है। यहां उस प्रकरण की आवृत्ति अप्रासंगिक होगी। यहां हम कुछ अन्य प्रश्नों पर, प्रमाणीकरण सिद्धान्त को विशेष स्थान देते हुए, विचार करेंगे। इस प्रसंग में हम अनुभववाद की आधारभूत अवधारणाओं की जाँच भी करेंगे।

तीन वाक्य लें–'यह रक्त है', 'यह मेज़ है' तथा 'सब कव्वे काले हैं'। इनमें प्रथम वाक्य परिभाषया इस प्रकार का है कि इसका प्रमाणीकरण अपेक्षित नहीं है जबकि द्वितीय तथा तृतीय वाक्य परिभाषया प्रमाणीकरणीय हैं। इस पर विचार आरंभ करने से पूर्व यहां यह कह देना आवश्यक है कि सीमितरूप से सामान्य वाक्यों के अतिरिक्त अन्य कोई द्वितीय तथा तृतीय प्रकार के वाक्य पूर्णतः प्रमाणीय नहीं हैं। अब, प्रथम वाक्य का प्रमाणीकरण क्यों अपेक्षित नहीं है ? जैसाकि 'मूलवाक्य' में विस्तारपूर्वक दिखाया जा चुका है, ये पद 'सद्यः' के अतिरिक्त कुछ प्रकथित नहीं करते जबकि प्रमाणीकरण अतीत अथवा भविष्य की ओर लक्षित करता है। यह पर्याप्त स्पष्ट है, फिर भी कुछ दार्शनिक 'प्रमाणीकरण' सिद्धान्त से इतना प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने इसे सर्वत्र लागू करने का प्रयत्न किया है। किन्तु 'यह मेज़ है' क्यों प्रमाणीय है ? 'मेज़' शब्द स्वतः प्रदृश्य प्रकार का नहीं है, अतः यह न केवल 'सद्यः संवेद्य' का वाचक ही नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्षतः प्रमाणीय भी नहीं है। यह अभ्युपगम (हाईपोथिसिस) पद है। अभ्युपगम पद वे पद हैं जो किसी अदृश्य तथा "मूल–स्थित" अस्तित्व के वाचक हों। क्योंकि 'वस्तुएं' पद अदृश्य प्रकार का (अननुभवीय) है अतएव स्वतः न यह हैं और न प्रत्याख्येय है। ऐसी वस्तुएं, जो भविष्य में दृश्य हो सकती हैं, अदृश्य प्रकार की नहीं हैं। अतः ये स्थायी अभ्युपगम की श्रेणी में नहीं रखी जा सकतीं। कुछ पद स्थायी अभ्युपगम हैं क्योंकि इनके द्वारा बोध्य अस्तित्व (वस्तु) परिभाषया अदृश्य प्रकार के (अनऑब्ज़र्वेबल) हैं। ये स्थायी अभ्युपगम प्रतिपाद्य या प्रत्याख्येय न होने से स्वतः निरर्थक हैं, क्योंकि ये दृश्य तथ्यों के व्यवहार की व्याख्या में आवश्यक होते हैं; विशुद्ध भाषीय पदावली में, ये दो या अधिक मूलवाक्यों में परस्पर संगति या व्याघात-सम्बन्ध के आधार होते हैं। इतना ही नहीं, इनका महत्व गंभीरतर है: मान लीजिये कुछ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवेद घटित होते हैं, ये संवेद–घटनाएं अपने आप में स्वतंत्र तथा अप्रत्याख्येय हैं और अपने से बाहर किसी अन्य तथ्य का विधान नहीं करतीं। मान लें कि मैं अभी सागर में तैरने का अनुभव कर रहा था और अभी दूसरे क्षण रेगिस्तान में होने का अनुभव करता हूँ। यह एक अविश्वसनीय (वैज्ञानिकरूप से असंभव) स्थिति उत्पन्न कर देता है। इस स्थिति में संगति के लिये हम किसी ऐसे अभ्युपगम को स्वीकार करते हैं जिसके प्रसंग से समान-रूप से सत्य किन्तु स्वतन्त्र दृश्यों में संगति-विधान हो सके। यह अस्तित्व वास्तव अस्तित्व नहीं है, यह वास्तव में केवल एक पद है जो प्रदृश्य में अनुभूत संगति की निरन्तरता का वाचक है। मैं जब वर्ण देखता हूँ और स्पर्श करने पर काठिन्य देखता हूँ; पुनः अन्य अवसर पर केवल वर्ण देखता हूँ, तब आशा करता हूँ कि स्पर्श करने पर काठिन्य देखूँगा। यह आशा निरन्तर आवृत्ति से जनित है। इन संगत आवृत्तियों के वाचक पद को हम भौतिक विषय कह सकते हैं। 'संगत आवृत्ति' से अभिप्राय केवल "घटित" अथवा "प्रदृष्ट" घटनाओं की आवृत्ति से नहीं है प्रत्युत उन "सब घटनाओं" से है जो यदि घटित हों तो इनसे संगति होंगी। अब जैसाकि स्पष्ट है, यह परिभाषा अत्यन्त दोषपूर्ण तथा चक्रिक है: संगति स्वयं घटनाओं का गुण नहीं है, वे स्वयं न सगत हैं और न असंगत हैं–'यह रक्त है', 'यह पीत है' किसी भी अवस्था में स्वतः न संगत हैं न असंगत हैं क्योंकि इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। संगति का स्रोत स्वयं वह आभ्युपगमिक विषय है जिसकी परिभाषा हम 'संगति' के द्वारा कर रहे हैं। अतः हम यह नहीं कह सकते कि "मैं अमुक अमुक वर्ण-संस्थान, स्पर्श संस्थान आदि देख रहा हूँ अतः संभवतः यहां मेज़ है"; यह उलट प्रक्रिया है। अर्थात् 'संवेद स१, स२, स३, सन ⊃ यहां मेज़ है' ग़लत है; ठीक प्रतिपादन इससे एकदम उलट होगा: प्रथम हम मेज़ को अपनी शब्दावली में स्थान देते हैं और तब उसके द्वारा संवेदों की संगति को; यह समझ लेना आधारभूत महत्व का है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मेज़ प्रथम है तथा संवेद पीछे, इसका केवल इतना अभिप्राय है कि स्वयं संवेद मेज़ के होने की संभावना को भी लागू नहीं करते—"मेज़" केवल एक आरोपित (Posit) है, जो "भावी संवेदों के व्यवहार" का वाचक है। इस प्रकार, आरोपित को इस तरह से प्रवेश दिया जाता है: 'यहां मेज़ है' ⊃ 'स$_1$, स$_2$ ··· सन घटित होते हैं, होंगे, अथवा हुए थे'। इस प्रकार, यदि हम प्रकथन करते हैं कि 'वहां मेज़ है' तो हम विधान करते हैं कि 'वहाँ अमुक अमुक प्रकार के संस्थान घटित होंगे'। इन संस्थानों का घटित होना यह प्रमाणित करेगा कि हमारा कथन सत्य था; किन्तु इस विवेचन को ध्यान में रखते हुए इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मैं स्वीकार करता हूँ कि स्थान द२ पर कुछ अदृष्ट किन्तु सास्तित्व है प्रत्युत यह कि कुछ प्रदृष्ट प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की घटनाएं घटित हुई हैं और आगे भी घटित होंगी।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि हम संवेदों की संगति से असंवेदित की अवधारणा पर पहुँचते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से यह ठीक हो सकता है, किन्तु 'भौतिक विषय' अथवा अन्य ऐसे पदों का तार्किक विश्लेषण उपर्युक्त प्रकार से निष्पन्न होता है। इस तार्किक विश्लेषण का आरम्भ इस प्रश्न से होता है: "सवेदों से यह कैसे निर्धारित होता है कि कुछ असंवेदित इनके आधार में है?" आदि। वैज्ञानिक संवेदित से असंवेदित की कल्पना करता है, जैसे मनुष्य के व्यवहार से उसके अचेतन मन की; किन्तु उस का यह 'अदृष्ट' इस व्यवहार से स्वतन्त्र और अतीत अस्तित्व नहीं है, यह केवल इस व्यवहार की निरन्तरता आदि का वाचक है। इसकी अदृष्टता 'संगति', 'सम्भाव्यता' आदि की वाचक है।[१७]

यहां यह द्रष्टव्य है कि 'आरोपित' (पोज़िट) न पूर्णतः प्रमाणीय हैं और न पूर्णतः प्रत्याख्येय हैं। मान लें मैं कहता हूँ 'उस कमरे में मेज़ है' और वहां जाने पर कोई संवेद घटित नहीं होता। अब यदि संवेद घटित हुए होते तो यह संभाव्यतः स्थापित होता कि 'यहां मेज़ है', किन्तु अब जबकि संवेद घटित नहीं हुए हैं तो यह संभाव्यतः स्थापित होता है कि 'यहां मेज़ नहीं है', क्योंकि संभव है मेरी आंखें ख़राब हों, संभव है मैं हिप्नोटाइज़्ड होऊँ, संभव है मेरा अचेतन मन मुझे 'इस मेज़' को देखने में व्याघातक हो। स्पष्टतः ये सम्भावनाएं केवल तार्किक हैं, किन्तु इसी प्रकार उचित संवेद घटित होने पर मेज़ न होने की सम्भावना भी केवल तार्किक है। अब इस तार्किक सम्भावना से यहां क्या अभिप्राय है? इस सम्भावना का अभिप्राय है कि स१, स२, स३ घटित होने पर यह बहुत कम सम्भावना है कि स४ · · · सन घटित नहीं होंगे, और इसी प्रकार स१, स२, स३, · · · स४ घटित न होने पर यह बहुत कम संभावना है कि स५... सन घटित होंगे (सन जबकि असीम संख्या का वाचक है)। परमाणु, जेन (Gen), एनर्जी, बुद्धि, अचेतन मन तथा अन्य अनेक इसी प्रकार की वस्तुएं आरोपित हैं और इनकी संख्या आवश्यकतानुसार घट-बढ़ सकती है। उदाहरणतः न्यूटन का ईथर भी 'आरोपित' था और आईंस्टीन द्वारा यह अपसारित कर दिया गया। मनोविज्ञान से सामान्यतः 'मन' का अपसारण कर दिया गया है। इस निषेध का अभिप्राय है कि ये अब अनावश्यक अभ्युपगम समझे जाते हैं। अभ्युपगम के रूप में 'मेज़' तथा 'बुद्धि' में कोई भेद नहीं है; 'कोई बुद्धिमान है' का अभिप्राय है कि वह अधिकांश परिस्थितियों में उपयुक्त व्यवहार करेगा, जैसे 'वहाँ मेज़ है' का अभिप्राय है कि 'वहां उपयुक्त संवेद घटित होंगे'।

एडाम के अनुसार: "महत्वपूर्ण बात यह है कि जबकि व (भौतिक विषय-वाक्य)

१७. मूल वाक्य अध्याय में इस प्रसंग पर विस्तृत विचार किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्य है तब भी संभव है कि स (संवेद-वाक्य) असत्य हो। अतः व स को (स के संभाव्य प्रकार का संवेद-विषय-वाक्य होने की अवस्था के सिवाय) * लागू नहीं करता।"[१८] यदि हम एडाम को ठीक समझ रहे हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि जब हम कहते हैं 'साथ के कमरे में मेज़ है' और फिर साथ के कमरे में प्रवेश करते हैं और देखते हैं किन्तु कोई संवेद घटित नहीं होता, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'इस कमरे में मेज़ है' ग़लत है। यह एक विचित्र स्थापना है जिसके लिये वे कोई तर्क नहीं देते। किन्तु प्रदृश्यतावाद (फिनोमिनलिज़्म) के विरुद्ध उनकी एक अन्य आपत्ति से हम कुछ संकेत प्राप्त कर सकते हैं। वे कहते हैं: "प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमद् वाक्य (काउंटर फेक्चुअल कंडीशनल सेंटेंसिस) सामान्य भविष्य वाक्यों (प्रीडिक्टिव सेंटेंसिस) के सहायक-रूप में, अथवा उन्हें अपसारित करने के लिये, प्रविष्ट किये गये थे, जिससे एक विशेष कठिनाई दूर की जा सके, (जिसे प्रदृश्यतावादियों ने स्वयं भी अनुभव किया है और जिसकी ओर उसके आलोचकों ने भी ध्यान आकृष्ट किया है) जिससे सरल भौतिक विषय-वाक्यों (सिम्पल फ़िज़ीकल ओब्जेक्टि सेंटेंसिस) जैसे 'यह पेंसिल लाल है' के प्रकथनात्मकरूप की (अनुवादभूत संवेद वाक्यों की परम्परा में भी) * समधिक रक्षा की जा सके। स्पष्टतः यह प्रकथन भविष्य में केवल कुछ अवस्थाओं में संभाव्यरूप से होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में नहीं है। यह कुछ निश्चितरूप से "अब विद्यमान" का विधान करता है।"[१९] कम से कम मुझे इस तर्क ने कभी प्रभावित नहीं किया। किसी वाक्य का वैयाकरणिक रूप क्या है, यह उस वाक्य के अर्थ-निश्चय में कभी सहायक नहीं हो सकता। मानलीजिये, कोई 'मेज़' या उसके अन्य भाषा में पर्याय का अर्थ नहीं जानता और हम उसे बताना चाहते हैं कि साथ के कमरे में मेज़ है, तब हम उसे किस

*ब्रैकेटेड वाक्य इस लेखक द्वारा स्पष्टीकरण के लिये दिया गया है।

18. Inadiquacy of Phenomenalism, in(Philosophy and Phenomenological Research, September 1959, P.P. 98.

19. And yet the contrary-to-fact conditionals were introduced to supplement or to replace the predictive conditional in order to obviate a certain difficulty that has been often felt by the phenomenalist himself and frequently pointed out by critics, namely, to try to capture some of the unquestionable categorical nature of simple physical-object statements like 'this pencil is red.' It is obviously not a statement merely about what will happen in the future under certain conditions. It says something unconditionally, categorically about something existing now. (वहीं पृ० ९८)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार बतायेंगे ? हम स्वभावतः उसे कहेंगे "साथ के कमरे में जाओ, वहां तुम अमुक अमुक प्रकार के वर्ण-संस्थान आदि देखोगे"। ये वाक्य सामान्य भविष्यत् में हैं। अब, एडाम यह स्वीकार करते हैं कि ये सन्दिग्ध भविष्यत् रूप में होने उचित हैं। किन्तु फिर भी पता नहीं क्यों वे भौतिक-विषय-वाक्य को निश्चयात्मक, अथवा सामान्य वर्तमान. का वाक्य मान कर इसका संभाव्य संवेद वाक्यों में अनुवाद अनुचित मानते हैं। उनकी यह आपत्ति बर्लिन के अनुरूप है जिसकी विस्तृत आलोचना हम 'मूलवाक्य' में कर चुके हैं। यहां केवल इतना और कहना है कि भौतिक-विषय-वाक्य का सामान्य वर्तमानरूप में प्रयोग "अभ्युपगम" को "वास्तव वस्तु" (रीयल एंटिटी) स्वीकार करने की भूल के कारण है और इस भूल का निराकरण तर्कशास्त्री का कर्तव्य है। जहां तक हम जानते हैं, प्रदृश्यतावादी–विश्लेषण की अपर्याप्तता का प्रतिपादन करने वालों ने नकारात्मक प्रतिपादन तो किया है किन्तु कभी यह नहीं बताया कि इसका स्थानापन्न उनके पास क्या है ? इस प्रकार ऐसे वाक्य, जिन में स्थायी आभ्युपगमिक पद घटित होते हैं, सम्बद्ध प्रमाण-वाक्यों के प्रसंग से सार्थक होते हैं। किन्तु यहां पुनः थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित हैः 'उस कमरे में मेज़ है' का तार्किक अर्थ हम इस प्रकार व्यक्त करते हैंः उस कमरे में मेज़ $य_1$ है ⊃ (यदि उस कमरे में कोई द्रष्टा $य_2$ है तो वह संवेद $स_1$ · · · $स_न$ का प्रत्यक्ष करेगा)'। अब मान लीजिये कि काल $क_1$ पर उस कमरे में कोई द्रष्टा नहीं है जबकि वाक्य का उच्चारण किया गया है, और कुछ क्षण पश्चात् कोई द्रष्टा उस कमरे में जाता है तथा संवेद घटित होते हैं। ये संवेद प्रमाणित करेंगे कि 'संभवतः इस कमरे में मेज़ है'। किन्तु काल $क_1$ पर मेज़ होने के सम्बन्ध में हमारे पास क्या प्रमाण है ? तर्कतः यह कहा जा सकता है कि 'संभव है देखने के समय ही वह मेज़ अस्तित्व में आया हो', आदि। ऐसी सम्भावनाओं को तर्कतः सम्भव माना जाता है, यद्यपि व्यवहार्यतः असम्भव माना जाता है।[२०] किन्तु यह तर्कतः भी सम्भव नहीं है, ऐसा हमारा विचार है, क्योंकि 'मेज़' पद का अर्थ यह लागू करता है कि यदि 'मेज़ अब विद्यमान है तो या तो यह पहले भी विद्यमान रहा है अथवा इसके अस्तित्व में आने के लिये एक निश्चित प्रक्रिया अनुगत हुई है'। इतना ही नहीं, कुछ रासायनिक प्रयोगों के द्वारा यह देखा जा सकता है कि मेज़ का रंग, उसका निर्माण कितना पुराना है। ये सब प्रयोग आदि 'मेज़' पद के अर्थ के साथ संगत हैं। अतः इनकी व्याख्या प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमत् वाक्यों द्वारा दी जा सकती है, यथाः 'उस कमरे में काल $क_1$ पर मेज़ है ⊃ (यदि कोई द्रष्टा $क_1$ पर उस कमरे में होता तो वह मेज़ $म_1$ देखता)'। इस वाक्य–रचना में ब्रेकेट के वाक्य के प्रथमांश में यह पूर्वकल्पित है कि $क_1$ पर उस कमरे में कोई व्यक्ति नहीं है।

20. B. Russell. An Out Line of Philosophy, Cp. 1.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु प्रतितथ्यात्मक वाक्यों में जबकि प्रथमांश रिक्त होता है, यह ऐसे अन्य वाक्यों को पूर्वकल्पित करता है जिनका अबाध सत्यापन पहले वास्तव में हो चुका है। ये पूर्वकल्पित वाक्य निम्न प्रकार के हैं—(१) मेज़ और योग्य द्रष्टा होने पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि संवेद घटित नहीं हुए हों तथा (२) मेज़ और योग्य द्रष्टा होने पर ऐसा कभी नहीं होगा कि संवेद घटित न हों'। यह हमें ज्ञेय की सीमा से आगे ले जाता है, क्योंकि हम जिसकी चर्चा कर रहे हैं वह प्रमाणीय नहीं है, क्योंकि वह वास्तव में है ही नहीं और न कभी होगा। किन्तु यह कहना कि यह वाक्य सार्थक नहीं है, हिमाकत होगी। कुछ ऐसी ही कमी की ओर रसेल ने भी ध्यान आकृष्ट किया है।[२१] उनके अनुसार, ऐसे अस्तित्व वाक्य, यथा 'ऐसे स्थानों पर भी वर्षा होती है जहां कोई प्राणी नहीं रहता' अथवा 'प्राणियों के अस्तित्व में आने से पूर्व पृथ्वी पर भयानक वर्षाएं हुई थीं' वाक्य तर्कतः अप्रमाणीय हैं, क्योंकि इनमें किसी द्रष्टा की उपस्थिति परिभाषया निषिद्ध है। तब क्या ये वाक्य सार्थक नहीं हैं? प्रमाणीकरण सिद्धान्त के प्रवक्ताओं ने ऐसे वाक्यों को सार्थक वाक्यों की श्रेणी में रखने के लिये इस सिद्धान्त की व्याख्या को शिथिल कर दिया। किन्तु प्रश्न यह है कि उपर्युक्त प्रकार के वाक्यों में प्रत्यक्ष की संभावना मात्र से निषेध किया गया है, तब इनका समावेश प्रमाणीकरण सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत सार्थक वाक्यों की श्रेणी में किस प्रकार से किया जा सकता है? हैम्पल इसका समाधान निम्न प्रकार से करते हैं; "वे पद जो प्रत्यक्षयोग्य (ओब्ज़र्वेबल) विशेषताओं के वाचक हैं प्रदृश्य प्रकार के विधेय कहे जायेंगे। अन्ततः 'प्रदृश्य प्रकार के वाक्य' से हमारा अभिप्राय होगा ऐसे कोई भी वाक्य जो (ठीक या ग़लत) विशिष्टरूप से अभिहित (नेम्ड) विषयों के किसी प्रदृष्ट प्रकार के गुण से युक्त अथवा रहित होने का विधान करते हैं.... प्रदृष्ट प्रकार के वाक्यों (ओब्ज़र्वेशन सेटेंसिस) की हमारी अवधारणा यह है कि ये ऐसे वाक्यों के अस्पष्ट अभिप्राय का निश्चित अर्थ निर्धारण करते हैं जो (कम से कम) सिद्धान्ततः सीधे प्रत्यक्ष से निर्णय योग्य हैं, चाहे वास्तव में मेरे द्वारा इस वाक्य का प्रत्यक्ष प्रमाणीकरण असंभव हो, चाहे यह मेरे अन्य समकालिकों द्वारा भी असंभव हो, चाहे सम्पूर्ण मानवता द्वारा भी असंभव हो।"[२२] अब प्रमाणीकरण सिद्धान्त की इस प्रकार स्थापना चाहे विरोधियों को निःशस्त्र कर दे किन्तु स्वयं प्रमाणीकरण के नीचे से भी धरती निकाल देती है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि प्रमाणीकरण सिद्धान्त उचित रूप से ऐसे वाक्यों पर लागू नहीं किया जा सकता। हैम्पल का उपर्युक्त विवेचन

21. Human Knowledge में Knowledge Transcending Experience, अध्याय।
22. 'Emperical Criterion of Meaning' in Logical Positivism, P. 109–10, फुट नोट P. 111-12.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाणीकरण के वजाय वास्तव में परिचय-सिद्धान्त के अनुरूप अधिक कहा जा सकता है। प्रमाणीकरण सिद्धान्त का अनिवार्य सम्बन्ध सत्यापन से है और ऐसे वाक्यों का सत्यापन असंभव है। ये वाक्य प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमद् वाक्य हैं, क्योंकि ये प्रदृश्य प्रकार के वाक्यों में इस प्रकार अनुवाद्य हैं: 'देश-काल क१ पर वर्षा हो रही है ⊃ (यदि देश-काल क१ पर द्रष्टा होता तो अमुक अमुक प्रकार के संवेद घटित होते). देश-काल-क१ पर द्रष्टा नहीं है'। जैसा कि स्पष्ट है, केवल सत्यापन के प्रसंग से ही इन वाक्यों की प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमदात्मक व्याख्या अभीष्ट है और प्रतितथ्यात्मक वाक्यों का सत्यापन असम्भव है।

हमारा तृतीय वाक्य 'सब कव्वे काले हैं' सामान्य वाक्य है और विषय-वाक्य से भिन्न प्रकार का है। 'विषय' जवकि स्थायी अभ्युपगम (पर्मेनेंट हाइपोथिसिस) का वाचक है, 'सव' अभ्युमगम नहीं है। 'सव' शब्द सम्भाव्य घटनाओं को घटित घटनाओं के साथ मिला देता है। इसका आधार वाक्य है 'अव तक जो भी कुछ देखा गया है, यदि यह कव्वा था तो यह काला था', प्रतीकों में '(य) [कव्वा(य) ⊃ काला (य)]·(य) द (य)'। अव यह वाक्य सत्य होने पर हेतुहेतुमद् वाक्य '(य) [कव्वा (य) ⊃ काला (य)] ∽ कव्वा(य)': 'यदि यह कव्वा होता तो यह काला होता,और यह कव्वा नहीं है' व्यवहार्यतः उचित है किन्तु तर्कतः अनिवार्य नहीं है। यहां पर स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि 'सव' अथवा 'प्रत्येक' किसी वास्तव के वाचक नहीं हैं, क्योंकि, जैसाकि स्पष्ट है (१) यह सम्भव है कि जो कव्वे मैंने देखे हैं उनके अतिरिक्त संसार में कोई कव्वा न हो और न आगे कभी उत्पन्न हो। अव यदि कव्वे हों तो भी 'प्रत्येक' किसी भी विशिष्ट कव्वे के लिये नहीं है और न इसी प्रकार 'सव' परिगणित कव्वों की संख्या के लिये है। दूसरे (२) 'सब' या 'प्रत्येक' यहां परिभाषया असीम के वाचक हैं, अतः अप्रमाणीय हैं। इसी से श्लिक ने सामान्य वाक्यों को निरर्थक कहा था। किन्तु ऐसे वाक्यों को निरर्थक कहना भाववादियों को भी सह्य नहीं हो सकता था क्योंकि ये अनुभव पर आधारित हैं और सामान्य धारणा में मूलित हैं। 'सव कव्वे काले हैं', 'कुत्ता स्तनपायी प्राणी है', 'मछलियां पानी में श्वास लेती हैं' आदि वाक्य भी सामान्य वाक्य हैं। अव, जवकि इनका पूर्ण सत्यापन सम्भव नहीं है, तो हम इनका अर्थ किस प्रकार समझते हैं?

हमने पीछे देखा था कि हम 'सव' तथा 'कुछ' पदों का अर्थ किस प्रकार समझते हैं। जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, परिचय-सिद्धान्त के अनुसार वे सव पद सार्थक हैं जो या तो अनुभूत घटनाओं के लिये प्रयुक्त हो चुके हैं अथवा जिनका ऐसे पदों में विश्लेषण सम्भव है। अव यदि 'अ कुत्ता है' तथा 'अ स्तनपायी है' मूल वाक्य घटित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो चुके हैं, जिन में 'अ' विशिष्ट संज्ञा है, तो 'कुत्ता' और 'स्तनपायी' ※ हमारी भाषा के प्रदष्ट प्रकार के पद हैं। सामान्य वाक्यों में ये पद इस प्रकार घटित होते हैं: 'य कुत्ता है' तथा 'य सतनपायी है', जबकि 'य' अनिश्चित (वेरीयेबल) है। इस प्रकार, ये वाक्यीय व्यापार सत्य या असत्य होने का दावा नहीं करते, क्योंकि 'य' का यहां कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है। इन वाक्यों का '(Ɐय) कुत्ता (य)' में स्थानांतरण इन्हें वाक्यीय व्यापार से वाक्यीय प्रतिज्ञा (प्रोपोज़ीशन) बना देता है क्योंकि यह वाक्य कुछ विधान करता है। किन्तु जैसाकि हम 'वि. सा. अ.' निबन्ध में देख चुके हैं, ऐसे वाक्यों में भी 'य' वाक्यीय-प्रतिज्ञा का भाग नहीं है—'य' का कोई उदाहरण यहां अभिप्रेत नहीं है। यह प्रतिज्ञा इसलिये है क्योंकि इसका प्रत्याख्यान संभव है, और अपूर्ण प्रामाण्य भी सम्भव है, किन्तु यह अपने उदाहरण-वाक्यों (अथवा स्थानान्तरण-वाक्यों) का पर्याय नहीं है। किन्तु 'कुत्ता' तथा 'स्तनपायी' पद सार्थक हैं, इसमें सन्देह नहीं। अतः '(य) कुत्ता (य) ⊃ स्तनपायी (य)' सार्थक है यद्यपि प्रमाणीय नहीं है।

अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त के समर्थक इन वाक्यों को अपूर्णतः प्रमाणीय मानते हैं। उनके अनुसार, 'कुत्ता स्तनपायी है क्योंकि अनेक कुत्ते वास्तव में स्तनपायी देखे गये हैं और कोई कुत्ता ऐसा नहीं है जो देखा गया है किन्तु स्तनपायी नहीं है। अतः इस वाक्य को अप्रमाणीय भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, हम कहेंगे 'य कुत्ता है तथा स्तनपायी है' वाक्यीय व्यापार के कुछ उदाहरण घटित होते हैं और यह इन उदाहरणों द्वारा प्रमाणित है। इसे अन्य अनेक उदाहरणों द्वारा भी पुष्ट किया जा सकता है। रसल इस पर आपत्ति करते हैं; उनके अनुसार: "मान लें कि वर्ग ग का कोई ऐसा सदस्य नहीं है जिसके सम्बन्ध में हम जानते हैं कि यह घ है; एक अन्य वस्तु प है जो ग की सदस्य नहीं है किन्तु जिसके सम्बन्ध में हम जानते हैं कि यह घ है। पुनः एक ऐसा वर्ग ग' लें जिसके ग तथा प दोनों सदस्य हैं। तब 'सब ग' घ हैं' परिभाषया प्रमाणीय होगा। अब, क्योंकि यह लागू करता है कि 'सब ग' घ हैं' अतः 'सब ग घ हैं' प्रमाणीय है"।[२३] इसे उदाहरण द्वारा हम स्पष्ट करेंगे; ग, घ तथा प को क्रमशः कुत्ता, रँभाना तथा गाय का वाचक मानते हुए हमें 'कोई ग घ नहीं है' तथा 'सब प घ हैं' वाक्य प्राप्त होते हैं। हम कुत्ता (जाति) तथा गाय को एक वर्ग में लाते हुए इनके लिये ग' प्रतीक का प्रयोग करते हैं। अब यदि एक या अनेक उदाहरणों के घटित हो जाने पर सामान्य वाक्य प्रमाणीय है, जैसाकि भाववादी मानते हैं, तो 'कम से कम एक गाय रँभाती है' से 'सब ग' रँभाते हैं' वाक्य प्रमाणित होता है और अतएव 'सब कुत्ते

※ ये पद यहां केवल तात्कालिक प्रयोजन के लिये प्रदष्ट प्रकार के स्वीकार किये गये हैं।

23. Human Knowledge, p. 464.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रँभाते हैं' अनिवार्यतः सत्य है। यह एक ऐसी स्थिति है जो स्पष्टतः अस्वीकार्य है, अतः रसल के अनुसार, प्रमाणीकरण सिद्धान्त अस्वीकार्य दुविधा को जन्म देता है: – या तो हम सामान्य वाक्यों को निरर्थक मानें अथवा असंभव स्थिति को स्वीकार करें।

किन्तु हमारे विचार में, रसल की यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि भाववादी यह नहीं कहते कि सामान्य वाक्य पूर्णतः प्रमाणीय हैं, अथवा प्रत्याख्येय नहीं हैं, वे इसे केवल अंशतः प्रमाणीय तथा पूर्णतः प्रत्याख्येय मानते हैं। इस प्रकार 'सब ग' ब हैं' तब तक स्वीकार किया जाता है जब तक केवल प के उदाहरण सामने आये हैं, किन्तु यदि ग का एक भी उदाहरण सम्मुख आता है तब सामान्य वाक्य को पूर्णतः प्रत्याख्यात स्वीकार कर लिया जायगा।

किन्तु बहुत से सामान्य वाक्य ऐसे होते हैं जिन में विधेय पद उद्देश्य का परिभाषा–पद होता है, अथवा उद्देश्य विधेय द्वारा संकेतित वर्ग का सदस्य मात्र होता है। इस प्रकार, 'मनुष्य तर्कशील है' प्रथम प्रकार का तथा 'कुत्ता स्तनपायी है' द्वितीय प्रकार का वाक्य है। इनके तार्किक रूप की उचित स्थापना इस प्रकार के वाक्यों से होगी: 'केवल तभी कोई मनुष्य है यदि यह तर्कशील भी है' अथवा 'यह असम्भव है कि कोई मनुष्य है किन्तु तर्कशील नहीं है, अथवा कोई तर्कशील है किन्तु मनुष्य नहीं है'। प्रतीकों में '(य) [म (य) ≡ त (य)] (जबकि म मनुष्य तथा त तर्कशील के लिये है)। द्वितीय का रूपान्तरण होगा 'प्रत्येक वस्तु, यदि यह कुत्ता है तो यह स्तनपायी है' अथवा 'यह असंभव है कि कोई वस्तु कुत्ता है किन्तु स्तनपायी नहीं है'। प्रतीकों में ' य) [कु (य) ⊃ स्त(य)]'। अब किसी वाक्य में विधेयपद को हम परिभाषा कब स्वीकार करते हैं और कब नहीं, यह निश्चितरूप से कहना असम्भव है, यह प्रत्येक अवस्था में सुविधा के अनुसार निश्चित होता है। अब मान लीजिये कि कोई ऐसा प्राणी उत्पन्न होता है जो कुत्ते की शेष सब विशेषताओं से युक्त है किन्तु स्तनपायी नहीं है, तब क्या हम उसे कुत्ता कहेंगे? इसका संभवतः निर्विवाद उत्तर होगा, नहीं। किन्तु यदि कोई ऐसी मछली उत्पन्न होती है जिसके प्रश्वास यंत्र गिल्ज़ न होकर लंग्ज़ हैं, तब हम उसे मछली कहेंगे या नहीं? संभवतः इसका उत्तर एक ही नहीं होगा, क्योंकि अनेक उसे लंग्ज़ वाली मछली कहना चाहेंगे। इसी प्रकार, यदि कोई प्राणी गधे की बुद्धि और मनुष्य के रूप का उत्पन्न होता है तो क्या हम उसे मनुष्य कहेंगे अथवा नहीं? जैसे हमने इस वाक्य को ऊपर रखा है उसके अनुसार, नहीं, किन्तु व्यवहार में, हां। अब इसका उत्तर 'नहीं' होने पर 'सब मनुष्य तर्कशील हैं' वाक्य ऐसा वाक्य हो जाता है जो तर्कतः अप्रत्याख्येय है, क्योंकि अतर्कशील को हम मनुष्य मानेंगे ही नहीं। इसके विपरीत 'सब कव्वे काले हैं' प्रत्याख्येय है, क्योंकि 'काला' पद को हम कव्वे का परिभाषा पद नहीं मानते, अर्थात् हम शेष सब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो चुके हैं, जिन में 'अ' विशिष्ट संज्ञा है, तो 'कुत्ता' और 'स्तनपायी' * हमारी भाषा के प्रदृष्ट प्रकार के पद हैं। सामान्य वाक्यों में ये पद इस प्रकार घटित होते हैं: 'य कुत्ता है' तथा 'य स्तनपायी है', जबकि 'य' अनिश्चित (वेरीयेबल) है। इस प्रकार, ये वाक्यीय व्यापार सत्य या असत्य होने का दावा नहीं करते, क्योंकि 'य' का यहां कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है। इन वाक्यों का '(य) कुत्ता (य)' में स्थानांतरण इन्हें वाक्यीय व्यापार से वाक्यीय प्रतिज्ञा (प्रोपोज़ीशन) बना देता है क्योंकि यह वाक्य कुछ विधान करता है। किन्तु जैसाकि हम 'वि. सा. अ.' निबन्ध में देख चुके हैं, ऐसे वाक्यों में भी 'य' वाक्यीय-प्रतिज्ञा का भाग नहीं है—'य' का कोई उदाहरण यहां अभिप्रेत नहीं है। यह प्रतिज्ञा इसलिये है क्योंकि इसका प्रत्याख्यान संभव है, और अपूर्ण प्रामाण्य भी सम्भव है, किन्तु यह अपने उदाहरण-वाक्यों (अथवा स्थानान्तरण-वाक्यों) का पर्याय नहीं है। किन्तु 'कुत्ता' तथा 'स्तनपायी' पद सार्थक हैं, इसमें सन्देह नहीं। अतः '(य) कुत्ता (य) ⊃ स्तनपायी (य)' सार्थक है यद्यपि प्रमाणीय नहीं है।

अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त के समर्थक इन वाक्यों को अपूर्णतः प्रमाणीय मानते हैं। उनके अनुसार, 'कुत्ता स्तनपायी है क्योंकि अनेक कुत्ते वास्तव में स्तनपायी देखे गये हैं और कोई कुत्ता ऐसा नहीं है जो देखा गया है किन्तु स्तनपायी नहीं है। अतः इस वाक्य को अप्रमाणीय भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, हम कहेंगे 'य कुत्ता है तथा स्तनपायी है' वाक्यीय व्यापार के कुछ उदाहरण घटित होते हैं और यह इन उदाहरणों द्वारा प्रमाणित है। इसे अन्य अनेक उदाहरणों द्वारा भी पुष्ट किया जा सकता है। रसल इस पर आपत्ति करते हैं; उनके अनुसार: "मान लें कि वर्ग ग का कोई ऐसा सदस्य नहीं है जिसके सम्बन्ध में हम जानते हैं कि यह घ है; एक अन्य वस्तु प है जो ग की सदस्य नहीं है किन्तु जिसके सम्बन्ध में हम जानते हैं कि यह घ है। पुनः एक ऐसा वर्ग ग' लें जिसके ग तथा प दोनों सदस्य हैं। तब 'सब ग' घ हैं' परिभाषया प्रमाणीय होगा। अब, क्योंकि यह लागू करता है कि 'सब ग' घ हैं' अतः 'सब ग घ हैं' प्रमाणीय है"।[२३] इसे उदाहरण द्वारा हम स्पष्ट करेंगे; ग, घ तथा प को क्रमशः कुत्ता, रँभाना तथा गाय का वाचक मानते हुए हमें 'कोई ग घ नहीं है' तथा 'सब प घ हैं' वाक्य प्राप्त होते हैं। हम कुत्ता (जाति) तथा गाय को एक वर्ग में लाते हुए इनके लिये ग' प्रतीक का प्रयोग करते हैं। अब यदि एक या अनेक उदाहरणों के घटित हो जाने पर सामान्य वाक्य प्रमाणीय है, जैसाकि भाववादी मानते हैं, तो 'कम से कम एक गाय रँभती है' से 'सब ग' रँभाते हैं' वाक्य प्रमाणित होता है और अतएव 'सब कुत्ते

*ये पद यहां केवल तात्कालिक प्रयोजन के लिये प्रदृष्ट प्रकार के स्वीकार किये गये हैं।
23. Human Knowledge, p. 464.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रँभाते हैं' अनिवार्यतः सत्य है। यह एक ऐसी स्थिति है जो स्पष्टतः अस्वीकार्य है, अतः रसल के अनुसार, प्रमाणीकरण सिद्धान्त अस्वीकार्य दुविधा को जन्म देता है:– या तो हम सामान्य वाक्यों को निरर्थक मानें अथवा असंभव स्थिति को स्वीकार करें।

किन्तु हमारे विचार में, रसल की यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि भाववादी यह नहीं कहते कि सामान्य वाक्य पूर्णतः प्रमाणीय हैं, अथवा प्रत्याख्येय नहीं हैं, वे इसे केवल अंशतः प्रमाणीय तथा पूर्णतः प्रत्याख्येय मानते हैं। इस प्रकार 'सब ग' घ हैं' तब तक स्वीकार किया जाता है जब तक केवल प के उदाहरण सामने आये हैं, किन्तु यदि ग का एक भी उदाहरण सम्मुख आता है तब सामान्य वाक्य को पूर्णतः प्रत्याख्यात स्वीकार कर लिया जायगा।

किन्तु बहुत से सामान्य वाक्य ऐसे होते हैं जिन में विधेय पद उद्देश्य का परिभाषा-पद होता है, अथवा उद्देश्य विधेय द्वारा संकेतित वर्ग का सदस्य मात्र होता है। इस प्रकार, 'मनुष्य तर्कशील है' प्रथम प्रकार का तथा 'कुत्ता स्तनपायी है' द्वितीय प्रकार का वाक्य है। इनके तार्किक रूप की उचित स्थापना इस प्रकार के वाक्यों से होगी' 'केवल तभी कोई मनुष्य है यदि यह तर्कशील भी है' अथवा 'यह असम्भव है कि कोई मनुष्य है किन्तु तर्कशील नहीं है, अथवा कोई तर्कशील है किन्तु मनुष्य नहीं है'। प्रतीकों में '(य) [म (य) ≡ त (य)] (जबकि म मनुष्य तथा त तर्कशील के लिये है)। द्वितीय का रूपान्तरण होगा 'प्रत्येक वस्तु, यदि यह कुत्ता है तो यह स्तनपायी है' अथवा 'यह असंभव है कि कोई वस्तु कुत्ता है किन्तु स्तनपायी नहीं है'। प्रतीकों में ' य) [कु (य) ⊃ स्त(य)]'। अब किसी वाक्य में विधेयपद को हम परिभाषा कब स्वीकार करते हैं और कब नहीं, यह निश्चितरूप से कहना असम्भव है, यह प्रत्येक अवस्था में सुविधा के अनुस र निश्चित होता है। अब मान लीजिये कि कोई ऐसा प्राणी उत्पन्न होता है जो कुत्ते की शेष सब विशेषताओं से युक्त है किन्तु स्तनपायी नहीं है, तब क्या हम उसे कुत्ता कहेंगे? इसका संभवतः निर्विवाद उत्तर होगा, नहीं। किन्तु यदि कोई ऐसी मछली उत्पन्न होती है जिसके प्रश्वास यंत्र गिल्ज़ न होकर लंग्ज़ हैं, तब हम उसे मछली कहेंगे या नहीं? संभवतः इसका उत्तर एक ही नहीं होगा, क्योंकि अनेक उसे लंग्ज़ वाली मछली कहना चाहेंगे। इसी प्रकार, यदि कोई प्राणी गधे की बुद्धि और मनुष्य के रूप का उत्पन्न होता है तो क्या हम उसे मनुष्य कहेंगे अथवा नहीं? जैसे हमने इस वाक्य को ऊपर रखा है उसके अनुसार, नहीं, किन्तु व्यवहार में, हां। अब इसका उत्तर 'नहीं' होने पर 'सब मनुष्य तर्कशील हैं' वाक्य ऐसा वाक्य हो जाता है जो तर्कतः अप्रत्याख्येय है, क्योंकि अतर्कशील को हम मनुष्य मानेंगे ही नहीं। इसके विपरीत 'सब कव्वे काले हैं' प्रत्याख्येय है, क्योंकि 'काला' पद को हम कव्वे का परिभाषा पद नहीं मानते, अर्थात् हम शेष सब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गुणों में काले कव्वे के समान किन्तु भिन्न वर्ण के पक्षी को भी कव्वा कहना चाहेंगे ।

इस विश्लेषण के उपरान्त हम यह स्वीकार करने को वाध्य हैं कि किसी वाक्य का अर्थ उसकी प्रमाण-विधि नहीं है, प्रमाणीकरण सिद्धान्त केवल अर्थ के विस्तृततर सिद्धांत का एक भागमात्र है। "परिचय" के आधार पर स्थापित अर्थ का यह सिद्धान्त अर्थं को स्मृति, अवगति अथवा अवधारणा आदि "मानसिक" घटनाएं स्वीकार करता है, प्रमाणीकरण–विधि नहीं।२४ प्रमाणीकरण का सम्बन्ध सत्य की अवधारणा से है, अर्थ की अवधारणा से नहीं। किन्तु अर्थ का यह सिद्धान्त भी सभी वाक्यों को सार्थकता की श्रेणी में स्थान नहीं देता। इस सिद्धान्तानुसार भी हीडैग्गर तथा राधाकृष्णन के इस अध्याय के आरम्भ में उद्धृत वाक्य उतने ही निरर्थक हैं जितने प्रमाणीकरण सिद्धान्त के अनुसार ।

२४. द्रष्टव्य आगे अध्याय ६ और ७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६

सत्य

पिछले अध्यायों में हमने अनेक स्थलों पर वाक्यों अथवा प्रकथनों की सत्यता के सम्बन्ध में प्रसंगवश विचार प्रकट किये हैं और उनसे हमारे इस अध्याय का निष्कर्ष पूर्वनिश्चित हो जाता है। किन्तु फिर भी हम इस निष्कर्ष पर किस प्रकार पहुँचते हैं, यह जानना महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, सत्य की समस्या उन प्रश्नों को पुनः, और एक दूसरे कोण से, उठाती है जिन पर हम विशेषरूप से द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में विचार कर आये हैं। पांचवें अध्याय में हमने वाक्यों की सार्थकता को उनकी सत्यता के प्रश्न से पृथक् किया है। किन्तु वहां हमने केवल सार्थकता की समस्या पर विचार किया था, अतः जबतक हम सत्य की समस्या पर विचार नहीं करते तब तक वह प्रसंग भी अधूरा रह जाता है।

१

"सत्य" क्या है? सम्भवतः सत्य के सम्बन्ध में प्रश्न का यह रूप भ्रामक है; इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'सत्य' किसी अस्तित्व की संज्ञा हो। 'आत्यन्तिक सत्य', 'सार्वभौम सत्य' आदि प्रयोग ऐसी ही धुँधली और भ्रान्त धारणाओं के वाचक हैं। यदि ये प्रयोग वास्तव में ही कुछ व्यक्त करते हैं तो यहां उस पर विचार प्रासंगिक नहीं है। 'सत्य' किसी घटना, गुण अथवा सम्बन्ध का वाचक पद भी नहीं है, जैसे 'दुःख', 'रक्त', तथा 'दायें' आदि पद हैं। कुछ दार्शनिक 'सत्य' को भाषीय विधेय कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे उनका अभिप्राय यह होता है कि यह पद उचितरूप से वाक्यों का ही विधेय हो सकता है। किन्तु दूसरे कुछ दार्शनिक विश्वासों के साथ भी इसका प्रयोग उचित समझते हैं। कुछ अन्य दार्शनिक इसे किसी एक अथवा अनेक वाक्यों का नहीं प्रत्युत किसी अवधारणात्मक संस्थान (कांसेप्चुअल स्कीम) के प्रसंग से घटित वाक्यों का ही उचितरूप से विशेषण मानते हैं। इन तीन मतों के अतिरिक्त अन्य मत भी हैं, और इनमें उपयोगितावाद (प्रेग्मेटिज़्म) सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रभावशाली मत है. किन्तु इन सब की चर्चा यहां अभिप्रेत नहीं है।

'सत्य' को भाषीय विशेषण मानने वालों के अनुसार (स्थूलरूप से) किसी वाक्य की सत्यता उसके द्वारा प्रकथित घटना के घटित होने में है, अधिक ठीक शब्दों में, वाक्य 'व' केवल तभी सत्य है यदि और केवल यदि 'व' वस्तुस्थिति है। इस प्रकार, 'राम घर गया था' वाक्य सत्य है यदि राम घर गया था, अन्यथा यह असत्य है। ठीक इसी प्रकार से, रसल के अनुसार, विश्वास सत्य या असत्य कहे जाते हैं। उदाहरणतः, मेरा यह विश्वास कि "राम घर गया था", केवल तभी सत्य है यदि राम वास्तव में घर गया था, अन्यथा नहीं। रसल वास्तव में सत्य को मौलिकरूप से विश्वासों का ही विशेषण मानते हैं, वाक्यों का केवल परोक्षरूप से विशेषण मानते हैं[1]।

वाक्यों के सम्बन्ध में यहां दो स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं:– प्रथम यह कि यहां वाक्यों से हमारा अभिप्राय केवल ऐसे वाक्यों से है जो वर्णनात्मक अर्थ व्यक्त करते हैं, तार्किक या व्याकरणात्मक वाक्यों से नहीं, दूसरे यह कि 'सत्य' या 'असत्य' विधेय उन वाक्यों के ही उचित विधेय हो सकते हैं जो निर्देशात्मक प्रकार (इंडाकेटिव मूड) में हों। तीसरे, यहां वाक्य-घटना (सेंटेंस टोकन) नहीं, वाक्य प्रकार (सेंटेंस टाइप) का बोध अभीष्ट है। वास्तव में सत्य मूल्य एक वाक्य-प्रकार की सब घटनाओं का ही नहीं प्रत्युत उन सब वाक्यों का भी, जो एक ही अर्थ के बोधक हैं, एक ही कहा जा सकता है।

समानार्थक वाक्यों की इस सार्थकता को वाक्यीय प्रतिज्ञा (प्रोपोज़ीशन) कहते हैं। और एक मत के अनुसार 'सत्य' या 'असत्य', पद उचितरूप से वाक्यीय प्रतिज्ञाओं के विधेय हो सकते हैं, नकि वाक्यों के।

रसल वाक्यों की सार्थकता को उन मानसिक प्रतिक्रियाओं से अभिन्न मानते हैं जो इन वाक्यों के कारण अथवा कार्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शब्द अथवा वाक्य का अर्थ एक प्रकार से मानसिक घटनाएं ही हैं, किन्तु प्रज्ञानात्मक अर्थ (कोग्नीटिव मीनिंग) का कारण अथवा कार्य घटना अथवा घटनाओं से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। सर्वप्रथम, एक वाक्य 'व' विभिन्न व्यक्तियों में एक ही समय पर विभिन्न प्रतिक्रियाएं

१. इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रूथ, पृ० २२६–२७३.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्पन्न कर सकता है, एक ही व्यक्ति में विभिन्न कालों में विभिन्न प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कर सकता है, विभिन्न अथवा एक ही व्यक्ति एक ही वाक्य को विभिन्न उद्देश्यों से प्रयुक्त कर सकते हैं, आदि आदि। किन्तु हम प्रज्ञानात्मक अर्थ को एक निश्चितता देना चाहते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक पद अथवा वाक्य के दो अर्थ नहीं हो सकते, किन्तु वे दो अर्थ निश्चित होंगे और इन दो अर्थों के अनुसार एक वाक्य दो वाक्यवर्गों का सदस्य होगा। उदाहरणतः 'स्थान स पर सैंधव है' वाक्य लें। इस वाक्य के 'सैन्धव=घोड़ा' तथा 'सैन्धव=नमक' के अनुसार दो अर्थीय निर्देश (डिज़िग्नाटा) होंगे, दूसरे शब्दों में, यह वाक्य दो भिन्न प्रकथनों को व्यक्त करेगा, किन्तु इसके ये दो निर्देश निश्चित दो अर्थीय निर्देश होंगे जो समानार्थक वाक्यों के वर्ग से निर्धारित होंगे। इसे हम प्रज्ञानात्मक अर्थ कह सकते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह "अर्थ" समानार्थक वाक्यों के वर्ग में अस्तित्व रखता है, प्रत्युत यह कि यह इस वर्ग के द्वारा परिभाषेय है, अन्यथा "अर्थ" मानसिक अस्तित्व ही हैं।

एक बात और. जो यहां प्रतिपादित करनी आवश्यक है, वह यह है कि प्रज्ञानात्मक अर्थ उचितरूप से विस्तारात्मक (एक्स्टेंशनल) भाषा में परिभाषित न किये जा कर भावात्मक (इंटेंशनल) भाषा में ही परिभाषित किये जा सकते हैं। इसीलिये वे, और केवल वे, वाक्य समानार्थक हैं जो भावात्मकरूप से एक ही अर्थ व्यक्त करते हैं। समानार्थकता की यह परिभाषा अर्थ को संकेत (रेफरेंस) से भिन्न करती है। अतएव 'कामायनी का लेखक' तथा 'आंसू का लेखक' समानार्थक प्रयोग नहीं हैं यद्यपि दोनों का संकेत्य एक ही व्यक्ति—जय शंकर प्रसाद— है। इसी प्रकार, 'य मनुष्य है' तथा 'य तर्कशील है' वाक्य हैं। विस्तारात्मक रूप से शब्दों की समानार्थकता केवल आकस्मिक है, क्योंकि यह केवल आकस्मिक बात है कि कोई दो विशेषताएं एक ही वर्ग को (अथवा वस्तु को) विशेषित करती हों, जैसे 'मनुष्य' और 'तर्कशील', अथवा 'कामायनी का लेखक' और 'आंसू का लेखक'। यदि कोई आपत्ति करे कि "जय शंकर प्रसाद केवल तभी जय शंकर प्रसाद कहा जा सकता है यदि वह कामायनी का लेखक तथा आंसू का लेखक आदि आदि है" तो यह एक भिन्न प्रश्न है और इसका अर्थ के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'कामायनी का लेखक' तथा 'आंसू का लेखक' परस्पर विश्लेषणात्मकरूप से लागू होते हैं अथवा संश्लेषणात्मकरूप से, इस निर्णय के लिये प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या ये परस्पर अर्थ के भाग हैं? वास्तव में कोई दो वाक्य-प्रकार (सेंटेंस टाइप्स) तब तक विश्लेषणात्मकतया लागू नहीं होते जब तक ये पुनरुक्ति व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त नहीं किये जाते। यह दार्शनिक विश्लेषण अध्याय में पर्याप्त विस्तार से दिखाया गया है। किन्तु कुछ वाक्य हैं जो इस प्रकार निर्धारित नहीं किये जा सकते, अतः ये कभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुनरुक्ति वाक्य नहीं हो सकते। 'य कामायनी का लेखक है' तथा 'य आंसू का लेखक है' ऐसे ही दो वाक्य हैं—हम यह कभी नहीं कह सकते कि 'य कामायनी का लेखक है≡य आंसू का लेखक है' उचित वाक्य है। किन्तु हम यह परिभाषया निश्चित कर सकते हैं कि 'य मनुष्य है≡य तर्कशील है', जैसाकि हम दार्शनिक विश्लेषण अध्याय में देखेंगे। किन्तु तब इसको उचितरूप से इस प्रकार रखा जाना चाहिए: 'य मनुष्य है'='य तर्कशील है'।

वाक्यों का भावात्मक अर्थ (इन्टेंशनल मीनिंग) इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है— "य आंसू का लेखक है' का अर्थ है "य आंसू का लेखक है" "। और इसी प्रकार— "भाषा $भ_1$ में 'x is the author of Ansu'='भाषा $भ_2$ के 'य आंसू का लेखक है' और 'य आंसू का लेखक है' का अर्थ है "य आंसू का लेखक है" ।※

उद्देश्यात्मक अनिश्चित (सब्जेक्टिव वेरियेबल) के साथ प्रयुक्त उपर्युक्त वाक्य का संकेत (रेफरेंस) वास्तव में कुछ भी नहीं है, अतः यह वाक्य जिस रूप में यहां प्रस्तुत है उस रूप में यह न सत्य है और न असत्य है। सत्य या असत्य यह केवल तभी होता है जबकि इसका अनिश्चित पद निश्चित संज्ञा पद द्वारा स्थानान्तरित हो जाता है, जैसे 'प्रसाद कामायनी का लेखक है' में, अथवा जब यह बन्द वाक्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे 'कम से कम एक व्यक्ति कामायनी का लेखक है' आदि में। इस स्थापना से दो परिणाम स्पष्ट हैं: कोई वाक्य सत्य या असत्य हुए बिना भी सार्थक हो सकता है, और दूसरे, कि बन्द वाक्य सार्थक होने पर अनिवार्यतः सत्य या असत्य होते हैं। दूसरे परिणाम को हम रूपात्मक भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं— "वाक्य 'व' का अर्थ है "व" और वस्तुस्थिति व वास्तव में है" तथा "वाक्य 'व' का अर्थ है "व" और वस्तुस्थिति व वास्तव में नहीं है:'—

(१) '(∀व) "व" ('व'). व'। (२) '(∀व) "व" ('व'). ∽ व'* ।

इस प्रकार वाक्यों के अर्थीय निर्देश तथा संकेत में भेद स्पष्ट है। किन्तु यह अभी तक स्पष्ट नहीं है कि ये अर्थीय निर्देश तथा संकेत क्या हैं। हमने अर्थमीमांसा अध्याय में अर्थ के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया था। किन्तु यहां मानसिकता के प्रसंग में इसपर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

'य कामायनी का लेखक है' वाक्य लें। जैसाकि हमने प्रतिपादित किया है, यह

※ इस अध्याय में इकहरे शीर्ष-कोमों का प्रयोग पूर्ववत् शब्द या वाक्य का शाब्दिकरूप व्यक्त करने के लिये किया गया है, किन्तु दुहरे शीर्ष-कोमों का प्रयोग पूर्व अध्यायों के प्रयोग से भिन्न अर्थीय निर्देश (डेज़िग्नेशन अथवा मीनिंग) के लिये किया गया है।

* 'व' वाक्यीय संज्ञा का, "व" अर्थ का तथा व संकेतित का वाचक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य न सत्य है और न असत्य है, किन्तु सार्थक है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह वाक्य सत्य अथवा असत्य है क्योंकि इस वाक्य में हम कहते हैं कि 'कोई कामायनी का लेखक है", किन्तु संभव है कि कोई भी कामायनी का लेखक न हो। किन्तु वास्तव में हम 'य कामायनी का लेखक है' में इतना भी नहीं कहते, सत्य या असत्य वाक्य यह उस अवस्था में होगा यदि हम कहें "कम से कम एक व्यक्ति कामायनी का लेखक है", जैसाकि हम अभी ऊपर कह आये हैं। 'य कामायनी का लेखक है' को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है– 'अ कामायनी है', 'य लेखक है', 'य अ का लेखक है'। यहां प्रथम वाक्य विशिष्ट वाक्य है अतः सत्य तथा ज्ञात है, किन्तु 'य लेखक है' वाक्य खुला वाक्य है और अतएव इस में लेखक पद सामान्य पद है। इस प्रकार दूसरा वाक्य सार्थक है किन्तु सत्य या असत्य नहीं है। जैसा कि हमारे पूर्व विवेचन से स्पष्ट है, सामान्य पद तथ्य–प्रतिपादक नहीं हैं किन्तु इनकी सार्थकता का ग्रहण तथ्य–प्रतिपादक वाक्यों से ही होता है। इस प्रकार 'य लेखक है' 'अ लिखता है' के प्रसंग से ही अर्थ ग्रहण करता है। अब यदि 'य लेखक है' प्रकथनात्मक नहीं है तो इसके निर्देशात्मक अर्थ का क्या स्वरूप है? जैसाकि कभी कभी कहा जाता है, तथ्यों का अस्तित्व संसार में है और अर्थ का अस्तित्व मन में है। किन्तु जैसाकि हमने 'मानसिक और भौतिक' अध्याय में देखा है, मानसिक घटनाएं उतनी ही तथ्य हैं जितनी तथा–कथित भौतिक घटनाएं, अतः ' 'लेखक' पद सार्थक है' का रूपान्तरण होगा 'यह अवगत है कि "लेखक" का अर्थ है "लेखक"'। अतएव 'यह अवगत नहीं है कि 'लेखक' का अर्थ है "लेखक" सत्य होने पर 'लेखक' पद निरर्थक हो जाता है। अब 'अर्थ है' को तार्किक संयोजक (लोजीकल कोन्नेक्टिव) के रूप में प्रयुक्त करते हुए, संयोजक के बाईं ओर का पद या वाक्य अर्थीय निर्देश का वाचक है।२

कुछ दार्शनिक उपर्युक्त प्रतिपादन को स्वीकार नहीं करना चाहते, उनके अनुसार वर्णनात्मक वाक्यों का अर्थ उनकी अन्य भाषा में अनुवाद्यता तथा समानार्थक वाक्यों के वर्ग में निहित है।३ उदाहरणतः आर्थर पैप के अनुसार "वाक्य वाक्योय प्रतिज्ञाओं (प्रोपोज़ीशंज़) को निर्देशित (डेज़िग्नेट) करते हैं।" और पुनः "वाक्यीय प्रतिज्ञाओं की रचना इस प्रकार की जा सकती है कि ये तर्कतः समान (समानार्थक) वाक्यों के वर्ग हैं।" उनके अनुसार, ये वाक्यीय प्रतिज्ञाएं, न कि वाक्य, सत्य या असत्य मूल्य की वाहक हैं, और हमारे विश्वासों के विषय ये प्रतिज्ञाएं होने के कारण ही विश्वासों के साथ सत्य या

२. 'अर्थ है' को तार्किक संयोजक हम प्रो. बर्गमान के अनुसार रख रहे हैं। द्रष्टव्यः मीनिंग एंड एग्ज़िस्टेंस में इन्टेंशनेलिटी निबन्ध, पृ० ३–३८।

३—आर्थर पैप–एलीमेंट्स आफ एनेलिटिकल फिलासफी पृ०३४६-३४८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असत्य विधेयों का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु उनसे प्रश्न किया जा सकता है कि वाक्यों की तार्किक समानार्थकता किस बात में निहित है? दो वाक्य लें—

(१) राम कँवारा है। (२) राम अविवाहित है।

इन की तार्किक समानार्थकता को इस रूपान्तरण में प्रस्तुत किया जा सकता है—

'राम कँवारा है, यदि और केवल यदि, राम अविवाहित है' तर्कतः सत्य है।

किन्तु जैसाकि स्पष्ट है, यह स्थापना 'कँवारा' और 'अविवाहित' की समानार्थकता को पूर्वकल्पित करती है नकि यह इनकी समानार्थकता को स्थापित करती है।

विस्तारात्मक (एक्स्टेंश्नल) भाषा में दो अभिव्यक्तियों की समानार्थकता उनकी प्रत्येक अवस्था में परस्पर परिवर्तनीयता में निहित है। किन्तु यह परस्पर परिवर्तनीयता इस बात पर निर्भर करती है कि दो अभिव्यक्तियों का संकेत-विषय (रेफरेंट) एक ही है, चाहे यह विषयैकता, अथवा कहें, एक-संकेत्यता, परिभाषया निर्धारित ही क्यों न हो। उदाहरणतः 'अर्जुन' और 'कौन्तेय' पद लें (जबकि 'कौन्तेय' केवल संज्ञा पद है, 'कुन्ती का पुत्र' ऐसा वर्णनात्मक पद नहीं है)। अब ये दो पद समानार्थक हैं क्योंकि इन दोनों में से कोई भी पद किसी वाक्य में उसके सत्यमूल्य में बिना परिवर्तन के प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार 'कँवारा' और 'अविवाहित' आदि पदों के लिये भी। किन्तु जैसाकि क्वाइन ने दिखाया है, यह एकदम आकस्मिक है कि विस्तारात्मक भाषा में कोई दो पद अन्तरपरिवर्तनीय (इन्टरचेंजियेबल) हैं[४], जैसे यह एकदम आकस्मिक है कि पंखरहित द्विपद ही तर्कशील हैं। इसके विपरीत, भावात्मक भाषा में "'य कँवारा है' का अर्थ है 'य अविवाहित है'" अन्तर्विरोधपूर्ण (कंट्रेडिक्टरी) है जबतक कि इनके साथ एक अन्य वाक्यीय विधेय (प्रोपोज़ीश्नल प्रेडीकेट) 'अनिवार्यतः' प्रयुक्त नहीं किया जाता, और इस प्रकार 'अनिवार्यतः केवल कँवारे ही अविवाहित हैं' वाक्य द्वारा 'कँवारा' और 'अविवाहित' में समानार्थकता पूर्वकल्पित नहीं की जाती।[५] इसके विपरीत, भावात्मक भाषा में 'यह अवगत है कि 'य कंवारा है' का अर्थ है "य अविवाहित है"' तथा 'भावात्मक भाषा में 'य कँवारा है' का अर्थ है "य अविवाहित है"' दोनों ग़लत प्रयोग हैं। प्रथम इस लिये क्योंकि उद्देश्य और विधेय दोनों को एक ही स्तर पर प्रयुक्त किया गया है, और द्वितीय इसलिये क्योंकि दोनों का अर्थीय निर्देश (डिज़िग्नाटा) भावात्मक भाषा में एक ही नहीं है।

रसल के अनुसार, वाक्यों की समानार्थकता इस बात में निहित है कि वे समान मानसिक प्रतिक्रियाओं (अधिक निश्चितरूप से, समान विश्वासों अथवा समान मानसिक

४—क्वाइन—फ्राम ए लोजीकल प्वाइंट आफ व्यू, पृ०२७-३१।
५—वहीं, पृ० २६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुकृतियों) को उत्पन्न करते हैं, अथवा उनसे सहानुगमित होते हैं।६ स्पष्टतः यह परिभाषा अत्यन्त अस्पष्ट और भ्रामक है, क्योंकि (१) यह कहा जा सकता है कि कोई दो प्रतिक्रियाएं समान नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, (२) हमारी अस्तित्वमीमांसा के अनुसार, दो प्रतिक्रियाएं दो अस्तित्व हैं, एक नहीं। अतः हमारी दार्शनिक भाषा में यह नहीं कहा जा सकता कि "दो पद समान प्रतिक्रियाओं को जन्म देने के द्वारा" अथवा "एक ही वस्तु के वाचक होने से" समानार्थक हैं। तीसरे, (३) यह कैसे देखा जा सकता है कि दूसरे व्यक्तियों के मन में क्या प्रतिक्रियाएं हुई हैं? अतः यह परिभाषा भी स्वीकार्य नहीं हो सकती।

अतः समानार्थकता की परिभाषा मनोवैज्ञानिक भाषा में उतनी ही समस्यात्मक है जितनी विस्तारात्मक भाषा में। किन्तु भावात्मक भाषा में समानार्थकता वाक्यीय विधेय (प्रोपोज़ीशनल प्रेडीकेट) 'यह अवगत है' द्वारा निर्मित की जाती है और इस प्रकार दो वाक्यों में समानार्थकता का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

वास्तव में 'वाक्यीय प्रतिज्ञा' (प्रोपोज़ीशन) सामान्य (यूनीवर्सल) पद है जो विशिष्ट वाक्य-घटना के बजाय वाक्य-घटना मात्र का निरपेक्षतः वाचक है, जैसा हमने पीछे "अर्थ मीमांसा" अध्याय में भी देखा है। इसी उपमा से समानार्थक वाक्यों को भी एक ही वाक्यीय प्रतिज्ञा का व्यंजक कहा जा सकता है। किन्तु यह कहना कि वाक्य-घटनाएं (सेंटेंस टोकन्ज़) वाक्यीय प्रतिज्ञाओं का निर्देश (डेज़िग्नेट) करती हैं, ऐसा ही है जैसे यह कहना कि 'यह रक्त है' द्वारा व्यक्त विशिष्ट 'रक्तता' द्वारा व्यक्त सामान्य का निर्देश करता है।

अब, वाक्यीय घटना का निर्दिष्ट (डेज़िग्नाटा) क्या है? 'राम और श्याम मित्र हैं' वाक्य लें। इस वाक्य को वाक्य-घटना दिखाने के लिये हम वाक्य के चरण में संख्या चिह्न१ का प्रयोग करेंगे। हमारी पूर्व स्थापनानुसार वाक्यों का डेज़िग्नेशन-रिलेशन (निर्देशन सम्बन्ध) ' 'राम श्याम का मित्र है' अर्थ "राम श्याम का मित्र है' " द्वारा व्यक्त होता है जबकि तार्किक संयोजक-'अर्थ'-के दायीं ओर का वाक्य बाईं ओर के वाक्य का अर्थीय निर्देश व्यक्त करता है। इस निर्दिष्ट को हम अवगति की एक घटना कहते हैं। "जानना", "पहिचानना" तथा "स्मृति" आदि अवगति की घटनायें हैं। इस प्रकार, ' 'य श्याम का मित्र है१' अर्थ "य श्याम का मित्र है१" ' एक अन्य निर्देशन सम्बन्ध को व्यक्त करता है और इसका निर्दिष्ट स्मृति की एक घटना है, क्योंकि इस वाक्य में सामान्य पद 'मित्र' स्मृति की घटना, जो विशिष्ट है, का निर्देश करता है।

हमारे विचार में, निर्देशन सम्बन्ध की यह व्याख्या रसल की व्याख्या से अधिक

६—रसल-इन्क्वारी इन्टू मीनिंग एंड ट्रूथ, अध्याय १३, १४, १६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पष्ट तथा पैप की व्याख्या से अधिक युक्त है।

२

इस अध्याय के आरम्भ में हमने प्रकथनात्मक प्रकार (इंडीकेटिव मूड) में प्रयुक्त वाक्यों के सत्य मूल्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया था—"वाक्य 'व' सत्य है यदि और केवल यदि व वास्तव में वस्तुस्थिति है"। किन्तु अर्थ तथा वाक्यीय प्रतिज्ञाओं सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस प्रतिपादन को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—'वाक्य 'व' का अर्थ है "व" और 'व' सत्य है यदि और केवल यदि व वास्तव में वस्तुस्थिति है'। और तब असत्य वाक्य इस प्रकार प्रस्तुत किया जायगा —'वाक्य 'व' का अर्थ है "व" और 'व' असत्य है यदि और केवल यदि व वस्तुस्थिति नहीं है'। प्रतीकात्मक भाषा में—

(१) '(∀व) "व" ('व'). व '।

(२) '(∀व) "व" ('व'). ~व '।

'सत्य' को इस प्रकार परिभाषित करने का अभिप्राय यह है कि हम किसी वर्णनात्मक वाक्य को उस अवस्था में सत्य कहते हैं यदि उसके द्वारा प्रकथित तथ्य या वस्तुस्थिति वास्तव में वैसी हो। किन्तु कोई वाक्य किसी तथ्य या वस्तुस्थिति का प्रकथन तभी करता कहा जा सकता है यदि वह किसी अर्थ को व्यक्त करता है। इस प्रकार वास्तव में सत्य या असत्य वाक्य का अर्थ वह कहा जाना चाहिये जिसका व्यंजक होने से वाक्य सत्य या असत्य हो सकता है। किन्तु अर्थ स्वयं सत्य या असत्य नहीं होता। उदाहरणतः यह कभी नहीं कहा जा सकता कि 'राम जाता है' वाक्य का अर्थ सत्य या असत्य है। हमने पीछे स्वीकार किया था कि कोई वाक्य सत्य या असत्य हुए विना भी सार्थक हो सकता है। यह कहना ऐसा ही है जैसे यह कहना कि कुछ रक्त हुए विना भी आकारयुक्त हो सकता है। यदि यह कहा जाय —"किन्तु कोई वाक्य केवल तभी सत्य या असत्य हो सकता है यदि वह सार्थक है" तो इसका उत्तर है कि "ठीक इसी प्रकार कोई वस्तु तभी रक्त होती है यदि यह आकारयुक्त हो"। किन्तु इसीलिये आकार को रक्त तथा रक्त को आकार नहीं कहा जा सकता।

पैप के अनुसार 'सत्य' या 'असत्य' उचितरूप से केवल वाक्यीय प्रतिज्ञाओं के विशेषण हो सकते हैं। किन्तु यदि वाक्यीय प्रतिज्ञा केवल समानार्थक वाक्यों से रचना है तो यह समझना कठिन है कि इस रचना के सत्य या असत्य होने से उनका क्या अभिप्राय है, यदि वे वाक्य सत्य या असत्य नहीं कहे जाँय जिन से यह रचना है। 'कल वर्षा होगी' वाक्य लें। पैप के अनुसार, यह वाक्य स्वयं सत्य या असत्य नहीं होगा, सत्य या असत्य वह वाक्यीय प्रतिज्ञा होगी जिसे यह, जैसाकि वे कहते हैं, निर्देशित करता है; और वाक्यीय प्रतिज्ञा, उनके अनुसार, उन सब वाक्यों से रचना है जो समानार्थक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। रचनाओं के सम्बन्ध में यहां थोड़ा स्पष्टीकरण प्रासंगिक होगा। 'य रचना है' का अभिप्राय होगा कि पद या वाक्य 'व' तर्कतः अन्य पदों या वाक्यों 'वन' को तर्कतः लागू करता है और सिद्धान्ततः उनमें पूर्णतः विघटनीय है। अब 'व' जबकि, अस्तित्व-मीमांसात्मक अर्थ में, किसी का वाचक नहीं है, 'वन' (विशिष्टों का वाचक होने से) तथ्यों का वाचक है। अतः 'वाक्यीय प्रतिज्ञा "व" सत्य है' का अभिप्राय केवल यह है कि 'वाक्य 'व१' .... 'वन' सत्य हैं'। और ''व१ .... 'वन' सत्य हैं' का प्रकथन केवल तभी उचित है यदि 'व१' .... 'वन'द्वारा प्रकथित वस्तुस्थिति वास्तव में है। किन्तु यह प्रतिपादन इससे अधिक कुछ स्थापित नहीं करता कि वाक्य 'व' सत्य है यदि और केवल यदि व वस्तुस्थिति वास्तव में है। वास्तव में पैप वाक्यीय प्रतिज्ञाओं को भी अस्तित्व मूल्य देते प्रतीत होते हैं। केवल उनकी इस मान्यता के प्रकाश में ही उनके प्रतिपादन को समझा जा सकता है।

एयर के अनुसार, व्याकरण के अनुसार सार्थक प्रत्येक वाक्य एक प्रकथन (स्टेटमेंट) व्यक्त करता है, किन्तु केवल वे वाक्य वाक्यीय प्रतिज्ञाएं व्यक्त करते हैं जो या तो विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) हैं अथवा प्रमाणीकरणीय हैं।[७] इस प्रकार, वे वर्णनात्मक वाक्यों की प्रमाणीय वस्तु (वेरीफियेबल कांटेंट) को वाक्यीय प्रतिज्ञा मानते हैं। किन्तु यह स्थापना प्रस्तुत समस्या को ज़रा भी स्पष्ट नहीं करती, क्योंकि एक तो यह वाक्यीय प्रतिज्ञा की परिभाषा को संकुचित करती है और दूसरे यह अपने ही संकुचित क्षेत्र में भी प्रस्तुत प्रश्न का, कि किसी वाक्य की प्रमाणीय वस्तु क्या है, समाधान नहीं करती।

जैसाकि हमने पीछे प्रतिपादित किया है, प्रत्येक वाक्य-घटना एक भौतिक अस्तित्व है और यह उस अवस्था में अर्थयुक्त है यदि और केवल यदि यह एक मानसिक अस्तित्व-अवगति की घटना-से सहानुगमित होती है। हमारे संसार में मानसिक और भौतिक घटनाओं के सहानुगमन अथवा सहावस्थान आदि के सम्बन्ध कोई समस्या उत्पन्न नहीं करते। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जब एक वाक्यीय घटना मानसिक घटना के साथ निर्देशन सम्बन्ध-युक्त होती है तब हम इसे सार्थक कहते हैं। किन्तु स्वयं उस मानसिक घटना को अर्थ कहना अनुचित है। केवल अभिव्यक्तियां ही सार्थक होती हैं, अर्थ देने वाली घटनाएं नहीं। दूसरे शब्दों में, 'मानसिक या भौतिक घटना घ सार्थक है' अथवा 'मानसिक घटना घ अर्थ है' अनुचित प्रयोग हैं, उचित प्रयोग होगा 'एक घटना घ१ अर्थयुक्त है यदि यह घटना घ२ के साथ निर्देशन-सम्बन्ध-युक्त है'। इसी सम्बन्ध को हम ''व' अर्थ "व"' द्वारा व्यक्त करते हैं।

अब, किसी वाक्य के साथ 'सत्य' विशेषण का प्रयोग क्या व्यक्त करता है? जैसाकि

७—एयर-लेंग्वेज, ट्रूथ एंड लोजिक, द्वितीय संस्करण, १९४६, पृ०८-९।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमने पीछे कहा है, जब हम कहते हैं " 'व' सत्य है यदि और केवल यदि व वस्तुस्थिति है" तब हम पूर्वकल्पित करते हैं कि 'व' सार्थक वाक्य है। जैसे अर्थ के प्रसंग में, वैसे ही यहां भी कहा जा सकता है कि वाक्य-घटना 'व' स्वतः सत्य या असत्य नहीं है और न वस्तुस्थिति व सत्य या असत्य है। और न ही वास्तव में वाक्य 'व' अर्थ "व" को व्यक्त करने मात्र से सत्य या असत्य हो जाता है यदि यह प्रकथनात्मक नहीं है। उदाहरणतः 'कल वर्षा होगी' तथा 'कल वर्षा होगी ?' वाक्यों का अर्थीय निर्देश भिन्न नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी द्वितीय वाक्य सत्य या असत्य नहीं है। यदि दूसरे वाक्य का अर्थीय निर्देश भिन्न मानें भी तो भी कम से कम उसका कुछ अर्थीय निर्देश है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई को इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि हम अर्थ तथा प्रकथन में भेद करें और दूसरे वाक्य की पुनारचना इस प्रकार करें—

' 'कल वर्षा होगी ?' अर्थ "कल वर्षा होगी" और प्रकथन (कल वर्षा होगी अथवा कल वर्षा नहीं होगी)'। प्रतीकों में—

' 'व' अर्थ "व". प्र (प)V ∽ (प)'

अब यह पुनारचना किसी भी घटना से सत्य या असत्य नहीं हो सकती।

इस स्थापना के पश्चात् हम पाते हैं कि कुछ वाक्य अर्थ के अतिरिक्त एक प्रकथन व्यक्त करते हैं, और वास्तव में सत्य या असत्य उचितरूप से प्रकथनों के विधेय ही हो सकते हैं। यह स्वीकार करने पर हम सत्य की अवधारणा को चार वाक्य-खण्डों द्वारा व्यक्त करते हैं—'

' 'व' अर्थ "व" . प्र(प). प'

दूसरे शब्दों में, 'व' का अर्थ है "व" और 'व' का प्रकथन है (प) और प सत्य है यदि और केवल यदि प वस्तुस्थिति है'। अब ये प्रकथन क्या हैं ? रसल कहेंगे, ये हमारे विश्वासों के पर्याय हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार सत्य या असत्य पद उचितरूप से विश्वासों के विशेषण हैं और वाक्य केवल इन विश्वासों के व्यंजक होने से सत्य या असत्य हैं।

हमें रसल के इस कथन के साथ सहमत होने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। कुछ दार्शनिकों की यह आपत्ति, कि हमारा विश्वास किसी वस्तुस्थिति में कम या अधिक हो सकता है किन्तु सत्य के साथ कम-अधिक विशेषण उचित नहीं हैं,नासमझी के कारण है, क्योंकि किसी विश्वास को सत्य कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि विश्वास की घटना सत्य है, जैसाकि आर्थर पैप ने समझने की भूल की है।८ विश्वास की घटना एक प्रसंग विशेष से 'सत्य' या 'असत्य' से विशेषित की जाती है जबकि एक अन्य घटना घटित होती

८. आर्थर पैप-एलीमेंट्स आफ एनेलिटिकल फिलासफी, पृ० ३४६-५०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। अतः कम या अधिक विश्वास सत्य के प्रश्न के लिये प्रासंगिक नहीं है। यदि कोई कहता है 'मेरा विश्वास है, यद्यपि कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, कि राम कल जायगा', तब राम का जाना मेरे विश्वास को सत्य बनाता है। वाक्यांश 'कुछ निश्चित तो नहीं कहा जा सकता' एक दूसरा विश्वास व्यक्त करता है, कि पूर्व वाक्यांश में व्यक्त विश्वास असत्य हो सकता है। इस स्थापना के अनुसार,प्रत्येक विश्वास अथवा विश्वास-व्यंजक वाक्य का सत्यमूल्य विश्वासेतर घटनाओं के साथ सम्बन्ध से निर्धारित होता है। विश्वास को सत्य–असत्य कहने का यही अभिप्राय है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि हमारा उपर्युक्त वाक्य वास्तव में दो विश्वासों को व्यक्त नहीं करता, वह केवल एक संश्लिष्ट विश्वास को, अथवा अधिक उचित रूप में कहें, विश्वास की न्यूनता को, व्यक्त करता है। इसलिये 'विश्वास' के बजाय 'प्रकथन' अधिक उचित प्रयोग है, क्योंकि उपर्युक्त वाक्य समधिक प्रकथन को नहीं प्रत्युत दो प्रकथनों को व्यक्त करता है। प्रकथन का मनोवैज्ञानिक आधार चाहे विश्वास ही क्यों न हो किन्तु प्रकथन विश्वास से अभिन्न नहीं हैं, प्रकथन वाक्य की वह विशेषता है जिसके द्वारा वह संकेत्य (वस्तुस्थिति) के सम्बन्ध में सकारात्मक या नकारात्मक विधान करने में समर्थ होता है।

इस निर्णय से दो बातें स्पष्ट हैं, प्रथम यह कि 'सत्य' या 'असत्य' विधेय वर्णनात्मक नहीं हैं, क्योंकि ये न तो विश्वास के सम्बन्ध में कुछ बताते हैं और न उस घटना के सम्बन्ध में कुछ बताते हैं जो इनको सत्य या असत्य बनाती है। क्योंकि 'प्रकथन या विश्वास प्र० सत्य है', वाक्य स्वयं प्रकथन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता, यह घटना के घटे होने, या वस्तुस्थिति व होने के सम्बन्ध में सूचना देता है। किन्तु यह स्वयं घटना की भी विशेषता नहीं करता, क्योंकि इसके घटित होने या न होने में सूचना से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। यह केवल निर्णय को व्यक्त करता है।

दूसरे यह कि दर्शन, विज्ञान तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में ऐसे वाक्य, जिनके साथ 'सत्य' या 'असत्य' विधेय प्रयुक्त किया जाय, बहुत कम संख्या में प्रयुक्त होते हैं, और इनका बहुत कम महत्व है।

किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यहां एक अन्य प्रश्न पर विचार करना प्रासंगिक होगा। हमारी परिभाषा के अनुसार, प्रकथन (प) की सत्यता वस्तुस्थिति व के होने पर निर्भर करती है और '~व' इसकी असत्यता स्थापित करता है। किन्तु ऐसे प्रकथनों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जो किसी वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में सकारात्मक विधान करते हैं किन्तु जिनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तुस्थिति है या नहीं। (अथवा होगी या नहीं, अथवा थी या नहीं?)। उदाहरणतः यह वाक्य लें--'मेरी आंखों तथा सूर्य के मध्य विद्युच्चुम्बकीय लहरें प्रसरित होती हैं'। अब यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी भी प्रकार से दिखाया नहीं जा सकता कि वास्तव में कथित स्थान पर विद्युच्चुम्बकीय लहरें प्रसरित होती हैं अथवा नहीं। रसल के अनुसार, ऐसी अवस्था में भी उपर्युक्त वाक्य सत्य या अस्तय हैं क्योंकि या तो ये कथित लहरें प्रसरित होती हैं अथवा नहीं होतीं। उनके अनुसार, सत्य या असत्य को हमारे ज्ञान का सापेक्ष नहीं वनाया जा सकता। प्रकथनों को सत्य या असत्य वनाने वाली वस्तुस्थितियां हमारे ज्ञान से निरपेक्ष घटित होती हैं। इसलिये, चाहे हम व्यवहारतः ही नहीं सिद्धान्ततः भी सत्यापन या असत्यापन में असमर्थ हों तो भी वाक्य (प्रकथन) सत्य या असत्य होते हैं।

हमारे विचार में रसल ने यहां भयानक भूल की है। एक वाक्य अथवा उसके द्वारा व्यक्त प्रकथन किसी वस्तुस्थिति का विधान करने में अपने निर्देश के अनुसार ही समर्थ होता है, दूसरे शब्दों में, कि कोई प्रकथन किसी' वस्तुस्थिति व के सम्बन्ध में है, यह निर्णय उसके अर्थ या निर्देश से होता है। इसलिये जव कोई कहता है कि 'आंखों तथा सूर्य के मध्य विद्युच्चुम्बकीय लहरें प्रसरित होती हैं' तो कौन सी वस्तुस्थिति इसे सत्य या असत्य वनायेगी, यह इसके अर्थीय निर्देश से निर्धारित होता है। एव इस वाक्य का अर्थ भूतवैज्ञानिक अवधारणात्मक संस्थान (फिज़ीकल कांसेप्चुअल स्कीम) का भाग है। इस संस्थान में इस वाक्य का कार्य केवल अन्य प्रमाणीय वस्तुस्थितियों की व्याख्या प्रस्तुत करना है, स्वयं किसी वस्तुस्थिति का प्रकथन करना नहीं; दूसरे शब्दों में, यह वाक्य केवल व्याख्यात्मक है, प्रकथनात्मक नहीं। ऐसे वाक्य, जैसे 'ईश्वर सृष्टि का नियन्ता है' भी सत्यासत्य के प्रसंग से अतीत कहे जा सकते हैं जवतक कि 'ईश्वर', 'सृष्टि' तथा 'नियन्ता' पदों को परिभाषा इस प्रकार न की जाय कि यह वाक्य या तो विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) होगा अथवा तथ्यतः असत्य होगा। इस प्रकार, केवल वाक्य के प्रकथनात्मक प्रकार में होने से ही उसे सत्य या असत्य वाक्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

किन्तु कुछ अन्य वाक्य हैं जो अप्रमाणीय सत्य की समस्या को उत्पन्न करते हैं। उदाहरणतः 'राम दुखी है', 'एक राजा आज से ठीक २००० वर्ष पूर्व सायं के समय इस स्थान पर, जहां मैं अव खड़ा हूं, रोया था' वाक्य ऐसे ही हैं। इनमें प्रथम वाक्य, जैसाकि कहा जाता है, सिद्धान्ततः अप्रमाणीय है, जवकि द्वितीय व्यवहारतः अप्रमाणीय है। अतः ये वाक्य भिन्न भिन्न समस्याएं उत्पन्न करते कहे जा सकते हैं।

प्रथम वाक्य पर हमने 'मानसिक और भौतिक' अध्याय में विस्तार पूर्वक विचार किया है। जैसाकि उस विवेचन से स्पष्ट है, 'राम दुखी है' वाक्य श्याम के लिये सार्थक है, और यदि राम वास्तव में दुखी है तो यह राम के लिये सत्यापनीय भी है, अन्यथा उसके लिये असत्यापित है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या श्याम कभी भी यह जान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है कि यह वाक्य सत्य है या नहीं ? इसका एक उत्तर होगा, नहीं। दूसरे शब्दों में, यह तर्कतः असम्भव होगा कि श्याम इस वाक्य का कभी भी सत्यापन कर सकेगा। इसके विपरीत, प्रमाणीकरणवादियों के अनुसार, दूसरे वाक्य के सत्यापन की असम्भावना केवल व्यवहारिक है, तार्किक नहीं, क्योंकि यह केवल आनुभविक तथ्य है कि मैं इस घटना के घटित होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ था, आदि।

किन्तु हमारे विचार में यह भेद केवल प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। इन दोनों वाक्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि या तो दोनों में असम्भावना व्यवहारिक हो अथवा दोनों में तार्किक हो।

उदाहरणतः पहले प्रथम वाक्य लें– ' 'राम दुखी है' वाक्य लागू करता है कि 'कम से कम एक घटना दुख की घटना है' '। अब स्थानान्तरण नियम से अस्तित्व वाक्य मूल वाक्य 'दुख यह' द्वारा स्थानान्तरित होगा यदि और केवल यदि दुख की एक घटना घटित होती है। 'राम' एक घटना–समवाय का वाचक होने से, 'राम दुखी है' का रूपान्तरण होगा 'देश-काल क१ पर एक घटना-समवाय घन घटित होता है और घटना घ१ (दुख यह) इसका भाग है'। अब, इस प्रकार रूपान्तरण के बाद यह केवल एक व्यवहारिक प्रश्न है कि घ१ घन का भाग है घन' का भाग नहीं है, जिस प्रकार यह केवल व्यवहारिक प्रश्न है कि 'मैं' द्वारा अभिहित घटना-समवाय देश–काल प्रान्त प२ पर विद्यमान है प१ पर विद्यमान नहीं है।

किन्तु घटना घ१ के घटना–समवाय घन का भाग होने पर यह तर्कतः असम्भव है कि यह घटना–समवाय घन' का भाग हो,क्योंकि यह तर्कतः अनिवार्य है कि एक घटना का केवल एक घटना–समवाय की घटनाओं के साथ ही समकालिकता (ओवरलैप्पिग) का सम्बन्ध हो, दो के साथ नहीं। और ठीक इसी प्रकार, देश–काल–क्षण की रचना समकालिकता–सम्बन्ध के द्वारा करने पर और एक घटना व१ के देश–काल–क्षण क१ पर होने पर यह तर्कतः असम्भव है कि यह क२ पर भी हो। इस प्रकार, किसी घटना का किसी भी घटना–समवाय का भाग होना व्यवहारिक प्रश्न है, किन्तु एक घटना समवाय का भाग होने पर किसी अन्य घटना–समवाय का भाग न होना तार्किक प्रश्न है।

कुछ दार्शनिक 'सिद्धान्ततः प्रमाणीय' की परिभाषा इस प्रकार करते हैं, कि जो घटना किसी भी अनुभव का विषय हो सके वह प्रमाणीय है। सर्वप्रथम, यह परिभाषा 'अन्यों के अनुभव' को पूर्वकल्पित करती है और इस प्रकार, इस परिभाषा के अनुसार "अन्यों के अनुभव" सिद्धान्ततः प्रमाणीय हैं। और यदि 'सिद्धान्ततः प्रमाणीय' की परिभाषा इस प्रकार नहीं की जाय तो या तो बहुत से वाक्य सिद्धान्ततः अप्रमाणीय हैं, अथवा 'सिद्धान्ततः प्रमाणीय की परिभाषा इस प्रकार करनी होगी कि जो वाक्य हमारी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पूर्वोक्त परिभाषानुसार सार्थक है और प्रकथनात्मक है वह सिद्धान्ततः प्रमाणीय है, और अतएव यह तथ्यतः अप्रमाणीय होने पर भी सत्य अथवा असत्य है। इस प्रकार 'कोई वाक्य सत्यासत्य प्रसंगान्तर्गत है' का अभिप्राय है कि यह अर्थयुक्त है तथा प्रकथनात्मक है। इस प्रकार, श्याम के लिये 'राम दुखी है' वाक्य, काल क२ पर होने वाले व्यक्ति के लिये काल क१ पर घटित घटना का वाचक वाक्य, काल क१ पर दीवार के इस ओर खड़े व्यक्ति के लिये क१ पर दीवार के दूसरी ओर घटित होने वाली घटना का वाचक वाक्य सत्यासत्य प्रसंगान्तर्गत हैं, यद्यपि ये सत्यापनीय नहीं हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किन्हीं वाक्यों को सत्य अथवा असत्य उनके सार्थक अथवा प्रकथनात्मक होने से कहते हैं, सत्य अथवा असत्य उन्हें वे घटनायें ही बनाती हैं जिनसे ये सत्यापित अथवा असत्यापित होते हैं, किन्तु वाक्यों की उपर्युक्त विशेषताएं इन्हें अनिवार्यतः सत्य अथवा असत्य बनाती हैं। इस प्रकार, हमारे विवेचन के अनुसार निर्मध्यता (एक्स्क्लूडिड मिडल) के सिद्धान्त का समर्थन होता है*।

अनुभववादियों ने निर्मध्यता के सिद्धान्त को अनुभववाद का प्रतिवादी समझ कर प्रमाणीकरण अथवा तार्किक संगति (कोहियरेंस) आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये दो सिद्धान्त भी परस्पर विरोधी समझे गये हैं और इस प्रकार एक के समर्थकों ने दूसरे का प्रतिवाद किया है। किन्तु हमारे विचार में सत्य के ये तीनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत पूर्णतः संगत और परस्पर पूरक हैं।

निर्मध्यता का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि कुछ ऐसी घटनाएं घटित होती हो सकती हैं जिन्हें एक व्यक्ति न तो अनुभव करता है, न अनुभव करेगा और न सिद्धान्ततः अनुभव कर सकता है। अब, पीछे हमने ऐसे कुछ वाक्यों के उदाहरण दिये हैं और दिखाया है कि वे किस प्रकार एक व्यक्ति के लिये सिद्धान्ततः अप्रमाणीकरणीय हैं। किन्तु यदि कोई अनुभववादी यह दावा करता है कि इन घटनाओं के सम्बन्ध में हमें चर्चा का कोई अधिकार नहीं है, अथवा इनके सम्बन्ध में चर्चा अविहित है, तो हम केवल उसकी वज्र दार्शनिकता पर चकित हो सकते हैं; क्योंकि यह मान्यता हमें विशुद्ध स्वात्मवाद (सोलिप्सिज़्म) में कैद कर देगी। इतना ही नहीं, अधिकांश ज्ञान केवल पुस्तकों में लिखी आकृतियां तथा श्रुत ध्वनियां मात्र रह जायगा। किन्तु हमारे विचार में अनुभववाद के लिये स्वात्मवाद जैसी अरुचिकर स्थिति स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

अनुभववाद अपने उदार रूप में ऐसी अवधारणात्मक योजना है जो हमारे समृद्ध ज्ञान द्वारा अनिवार्यतः लागू होती है। किसी दार्शनिक प्रणाली का यही उद्देश्य होना

* यदि 'एक्स्क्लूडिड मिडल' के अनुवाद का आग्रह न हो तो 'नसत्यासत्य' पद का प्रयोग उचित होगा और तब यह वाक्य होगा 'नसत्यासत्य के सिद्धान्त का खण्डन होता है'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी चाहिये। अनुभववाद को एक बन्द तार्किक योजना के रूप में प्रस्तुत न किया जा कर इस रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिये कि यह हमारी सामान्य अवधारणाओं का, वैज्ञानिक अवधारणाओं का तथा ऐसी अनुभूतियों का, जो काव्य-कलाओं के रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं, एक व्याख्यात्मक संस्थान दे सके।

निर्मध्यता का सिद्धान्त, जिस प्रकार हम उसे प्रस्तुत करते हैं, यह लागू नहीं करता कि ऐसे तत्वों का अस्तित्व है जो अनुभवातीत हैं। रसल और इस सिद्धान्त के अन्य अनेक समर्थक निस्सन्देह ऐसी मान्यता रखते प्रतीत होते हैं। किन्तु उनकी यह भूल इस सिद्धान्त के औचित्य को समाप्त नहीं कर देती।

उदाहरण के लिये पानी में अर्धनिमज्जित छड़ी को लें। यदि हम रसल के प्रतिपादन को स्वीकार करें तो इस वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में यह वाक्य— 'पानी में आधी डूबी छड़ी वक्र है' 'या तो सत्य है या असत्य है। इस वाक्य पर निर्मध्यता सिद्धान्त लागू करने का अभिप्राय यह होगा कि यह छड़ी या तो वास्तव में वक्र है अन्यथा वास्तव में वक्र नहीं है। छड़ी हमें वास्तव में वक्र दिखाई दे रही है। फिर भी एक अन्य वास्तविकता का प्रश्न इसलिये उत्पन्न होता है क्योंकि पानी से निकालने पर यह छड़ी वक्र दिखाई नहीं देती, सरल दिखाई देती है। किन्तु जब आप कहते हैं कि 'छड़ी या तो वास्तव में सरल है या वास्तव में वक्र है' तो आपके सामने समस्या यह नहीं है कि इसमें निर्णय कैसे किया जाय, क्योंकि आखिर निर्णय इन्द्रियों ने ही करना है। अतः आप एक मूलभूत अवधाराणात्मक भ्रम के शिकार हैं, क्योंकि आपने अपने 'वास्तविक' के प्रयोग को नहीं समझा। 'छड़ी', 'वक्रता', 'सरलता' तथा 'दिखाई पड़ना' या तो भूतवैज्ञानिक अवधारणात्मक संस्थान के भाग हैं और इस संस्थान में 'वास्तव' का प्रयोग निरर्थक है, या फिर ये हमारी सांवेदनिक घटनाओं के सम्बन्ध में हैं, और इस प्रसंग में 'वास्तविकता' का अभिप्राय है कि (१) यह पानी से बाहर होने पर भी वक्र दिखाई देती हैं या नहीं ? तथा (२) यह स्पर्श करने पर भी वक्र प्रतीत होती है या नहीं ? अब यदि आपका अभिप्राय भूतवैज्ञानिक अवधारणात्मक योजना तथा सांवेदनिक घटनाओं से भिन्न कुछ के बारे में है तो या तो आप स्वयं स्पष्ट नहीं हैं कि आप क्या कहना चाहते हैं अथवा आप अवधारणात्मक भ्रम के शिकार हैं। यहां एक्स्क्लूडिड मिडल (निर्मध्यता के सिद्धान्त) का घोर समर्थक कहेगा कि इस दूसरी स्थिति में आप एक या दूसरे विश्वास को सत्य या असत्य कहेंगे या नहीं ? स्पष्टतः यह प्रश्न स्वयं निरर्थक है, क्योंकि चुनाव का यहां प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु यदि कोई कहता है कि सौर मण्डल से सब से दूर के तारामण्डल (गैल्लेक्सी) में कम से कम एक ग्रह पर जीवित प्राणी रहते हैं, तो वह प्रकथन या तो सत्य है या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असत्य है, चाहे किसी भी भविष्य में इस प्रकथन की सत्यता या असत्यता का निर्णय न किया जा सकता हो।

प्रमाणीकरण सिद्धान्त सत्यासत्य के बजाय सत्यापनीयता-असत्यापनीयता के सम्बन्ध में विचार करता है। इस समस्या पर हम पिछले निबन्धों में अनेक स्थानों पर विचार कर चुके हैं। इसकी प्रतिज्ञा (थीसिस) एयर के शब्दों में इस प्रकार रखी जा सकती है— "सब आनुभविक वाक्यीय प्रतिज्ञाएं आभ्युपगमिक हैं, और ये संवेदानुभवों द्वारा पुष्ट या अपुष्ट होती हैं।"[८] मूल वाक्यों सम्बन्धी इस मतभेद के अतिरिक्त, यही प्रतिज्ञा हमने काफी विस्तारपूर्वक, और शायद अधिक स्पष्टरूप में, प्रथम अध्याय में प्रतिपादित की है। मोटे तौर पर इससे शायद किसी को मतभेद नहीं हो सकता, यदि यह इसकी सीमाएं समझ कर प्रतिपादित किया जाय तो। अब यह सिद्धान्त वास्तव में जो लागू करता है वह यह है कि जो वाक्य (अथवा विश्वास) सत्य या असत्य हैं वे केवल सम्भाव्यरूप से सत्य या असत्य कहे जा सकते हैं, क्योंकि जब हम कहते हैं 'उस कमरे में मेज़ है' तो हम यह निश्चय से कैसे कह सकते हैं? क्योंकि इस बीच मेज़ वहां से हटाया गया हो सकता है, अथवा पहिले ही हमें भ्रम हुआ हो सकता है कि वहां मेज़ है——आदि। अतः हमें निश्चयात्मकरूप से कुछ न कह कर सम्भावनार्थकरूप से कहना चाहिये— 'सम्भवतः उस कमरे में मेज़ है'। सामने पड़े मेज़ के लिये भी वाक्य का सम्भावनात्मक प्रकार में प्रयोग उचित है और वास्तव में यह सम्भावनात्मक रूप सकारात्मक वाक्यों में ही नहीं नकारात्मक वाक्यों में भी उचित है। इस प्रकार, हमें यह भी नहीं कहना चाहिये 'वहां मेज़ नहीं है', उचित कथन होगा 'सम्भवतः वहां मेज़ नहीं है'। जहां तक एयर का मूल वाक्यों को भी सम्भावनात्मक प्रकार में प्रयुक्त करने का सुझाव है, हम उससे सहमत नहीं हैं, न वे स्वयं ही अब इस मत के समर्थक हैं, किन्तु यहां यह प्रश्न अप्रासंगिक है। जहां तक उनके शेष प्रतिपादन का सम्बन्ध है, स्पष्टीकरण के पश्चात्, उससे असहमत होने का क्या अर्थ हो सकता है, यह समझना कठिन है। किन्तु क्या प्रमाणीकरण सत्यासत्य की अवधारणा का स्थान ले सकता है?

उपर्युक्त वाक्य 'उस कमरे में मेज़ है' ही लें, जबकि इसका अभिप्राय है कि '(उस कमरे में) कम से कम एक मेज़वत् संस्थान घटित होगा'। प्रमाणीकरण सिद्धान्त के अनुसार, जबतक यह (मेज़वत् संस्थान) घटित नहीं होता तबतक हम यह कैसे कह सकते हैं कि यह अवश्य घटित होगा? अब सत्यासत्य सिद्धान्त का समर्थक यह नहीं कहता कि हम यह कह सकते हैं, वह केवल यह कहता है कि यह वाक्य या तो सत्य है या असत्य है—यह संस्थान या तो घटित होगा अथवा नहीं होगा। इस प्रकार, वास्तव में

८. लैंग्वेज ट्रूथ एंड लोजिक, पृ० ६२-६५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिन वाक्यों के प्रसंग में प्रमाणीकरण सिद्धान्त उचित है वहीं सत्यासत्य की अवधारणा भी प्रासंगिक है।

अब इसी वाक्य 'उस कमरे में मेज़ है' को पुनः लें, जबकि यह वाक्य लागू करता है कि "यह वाक्य सत्य है यदि और केवल यदि उस कमरे में मेज़ है, चाहे उस कमरे में कोई मेज़वत् संस्थान घटित न हो"। अब यह कथन करने वाले से पूछा जा सकता है कि आप क्या कहना चाहते हैं? स्वभावतः इसका उत्तर होगा कि मेज़ एक ऐसा अस्तित्व है जो इन्द्रिय-विषय होता है किन्तु जिसका अस्तित्व इन्द्रियविषयता मात्र नहीं है। तब आगे उससे प्रश्न होगा "क्या आप इस इन्द्रियविषयातीत मेज़ के सम्बन्ध में कुछ बता सकते हैं कि यह कैसी होगी?" इसका उत्तर वह दो प्रकार से दे सकता है, एक तो यह कि वह वैज्ञानिक व्याख्या का सहारा ले और कहे कि एक विशेष ढांचे में जब विद्युच्चूम्बकीय लहरें घटित होती हैं तब हम कहते हैं कि वहां मेज़ है। दूसरा उत्तर उसका यह हो सकता है कि यह अकथनीय है। अब दूसरी अवस्था में कठिनाई यह नहीं है कि वह जो कह रहा है वह अप्रमाणीय है, प्रत्युत यह कि उसके कथन का कुछ अर्थ हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता, और इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी सत्यता या असत्यता किस बात में निहित है, कौन सी घटनाएं अथवा अस्तित्व इसे सत्य अथवा असत्य बनाएंगी। अतः यह उत्तर सत्यासत्य के प्रसंग से उतना ही बाहर है जितना प्रमाणीकरण के प्रसंग से। किन्तु यदि उसका उत्तर पहला है तो वह वास्तव में किसी परोक्षतः प्रमाणीय घटनाओं का प्रकथन नहीं कर रहा है प्रत्युत प्रमाणीय घटनाओं का गणित दे रहा है। अतः यह वाक्य प्रकथनात्मक ही नहीं है, यह केवल व्याख्यात्मक है, और अतएव सत्यासत्य के प्रसंग से भी परे है तथा प्रमाणीकरण के प्रसंग से भी। इसकी प्रमाणीयता इसके उचित व्याख्या होने, उचित गणित होने में है।

प्रमाणीकरण की अवधारणा और सत्य की अवधारणा में एक और अन्तर भी है और यह अधिक आधारभूत है। प्रमाणीकरण सिद्धान्त का सम्बन्ध जबकि "वस्तुस्थिति होने" के प्रमाणों से है, सत्य की अवधारणा स्वयं वस्तुस्थिति से सम्बन्धित है। इसीलिये श्याम के लिये 'राम दुखी है' वाक्य प्रमाणीकरण प्रसंग में उसके दुख-व्यवहार का पर्याय है जबकि सत्यासत्य के प्रसंग में यह दुख की मानसिक घटना का पर्याय है। किन्तु यदि हमारे अवधारणात्मक संस्थान की भाषा व्यवहारवादी मनोविज्ञान की है तो 'राम दुखी है' वाक्य को श्याम के लिये वही घटनाएं सत्य या असत्य बनायेंगी जो इसे प्रमाणित या अप्रमाणित करेंगी। किन्तु इसका कारण यही है कि व्यवहारवादी मनोविज्ञान की भाषा प्रमाणीकरण के आधार पर निर्धारित है।

पुनरावृत्ति के भय के बावजूद यह प्रश्न यहां स्पष्टीकरण में सहायक होगा कि यदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'राम दुखी है' वाक्य प्रमाणीय न होने पर भी सत्य या असत्य है तो 'वहां मेज़ है' वाक्य प्रमाणीय न होने पर सत्य या असत्य क्यों नहीं है ? (जबकि 'अप्रमाणीय' 'किसी भी अवस्था में जिसके लिये प्रमाण न हो सके' का पर्याय है।) इसका उत्तर यह है कि श्याम के लिये 'व' के कम से कम एक मूल्य में 'य दुखी है' सत्य वाक्य है जबकि 'य' का मूल्य श्याम स्वयं हैं। इसीलिये उसके लिये 'य दुखी है' सार्थक वाक्य है और हमारी पूर्व विवेचनानुसार सार्थक तथा प्रकथनात्मक वाक्य सत्य या असत्य हैं। अब 'मेज़' पद को सब प्रमाणों से पृथक् कर कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह किस वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में है, 'मेज़' आदि पदों को स्थायी अभ्युपगम तथा आरोपित (पोज़िट) कहने का यही भाव है।

हमने पीछे अवधारणात्मक योजना (कांसेप्चुअल स्कीम) की चर्चा अनेक बार की है। 'आरोपित' किसी अवधारणात्मक योजना में प्रदृश्यों (फिनोमिना) की व्याख्या के लिये आनीत अभ्युपगम हैं। हम इस दिशा में थोड़ा और आगे बढ़े हैं और स्वयं मूल-वाक्यों को भी हमने अवधारणात्मक योजना के भाग कहा है६। इस प्रकार मूलवाक्य, या अन्तिम-सरल, किसी अवधारणात्मक योजना के ही अन्तिम सरल होते हैं।

हमारी यह मान्यता हमें सत्य के "तार्किक संगति" सिद्धान्त (कोहीयरेंस थीयरी आफ ट्रूथ) के निकट ला देती है। सत्य के तार्किक-संगति सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार, किसी वाक्य की सत्यता उसके एक संस्थान के भीतर अन्य वाक्यों से संगति में निहित है, जैसाकि हमने 'सार्थकता' अध्याय में भी देखा है। यहां हमें देखना यह है कि हम कहां तक और किस रूप में इसे स्वीकार कर सकते हैं।

हमारा पुराना ही वाक्य 'साथ के कमरे में मेज़ है' लें। अब यह वाक्य क्या प्रकथित करता है ? वेदान्त के अनुसार यह वाक्य असत्य है, क्योंकि उसकी अवधारणा-त्मक योजना के अनुसार यह वाक्य ऐन्द्रिय प्रतीतियों के सम्बन्ध में है और ऐन्द्रिय प्रतीतियां भ्रम हैं। इस प्रकार, इस वाक्य द्वारा प्रकथित वस्तुस्थिति न होने से यह वाक्य असत्य है। किन्तु यदि हमें वहां कुछ दिखाई नहीं देता है, तो ? मुझे नहीं मालूम कि वेदान्ती इसका क्या उत्तर देंगे, किन्तु उन्हें कहना चाहिये कि उस अवस्था में भी यह वाक्य असत्य है, क्योंकि यह वाक्य यह नहीं कहता कि 'वहां कुछ प्रतीत नहीं होगा'। वास्तव में वेदान्तिक अवधारणा के अनुसार इस वाक्य के सब शब्द किसी भी प्रकार के वाक्यों में प्रयुक्त हो कर कुछ विधान करने में असमर्थ हैं, ये सत्य या असत्य केवल माया के स्तर पर हैं। अविद्या दूर होने के पश्चात् ये वाक्य न सत्य हैं और न असत्य हैं, अथवा नकारात्मक तथा साकरात्मक दोनों रूपों में असत्य हैं।

कार्नेपियन सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त वाक्य सत्य है यदि कुछ वैज्ञानिक लोग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ पूर्वनिश्चित प्रयोगों के पश्चात् इसे प्रमाणित घोषित करते हैं। इसी प्रकार लाइब्नीज़ियन, ब्रैडलियन तथा अन्य अनेक दार्शनिक प्रणालियां इस वाक्य की सत्यता-असत्यता का प्रतिपादन अपनी अपनी अवधारणात्मक योजना के अनुसार करेंगी। अब हमारी सत्य की परिभाषा के अनुसार "कोई वाक्य 'व' सत्य है यदि और केवल यदि व वस्तुस्थिति है"। किन्तु वाक्य 'व' किस वस्तुस्थिति का प्रकथन करता है यह अवधारणात्मक योजना के प्रसंग से निश्चित होता है। अतः सत्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है— "वाक्य 'व' अवधारणात्मक योजना अ० में सत्य है यदि और केवल यदि व वस्तुस्थिति है"।

किन्तु वास्तव में तार्किक संगतिवादी किसी वाक्य की सत्यता वस्तुस्थिति व से निर्धारित नहीं मानते, वे मात्र संगति को ही उसके लिये काफी समझते हैं।

जहां तक सत्य की व्याख्या का सम्बन्ध है, यह यह प्रतिपादित नहीं करती कि वाक्य वास्तव में किन वस्तुस्थितियों का प्रकथन करते हैं, इस सम्बन्ध में हमारे विचार पिछले अध्यायों में पूर्णतः स्पष्ट हैं। इस प्रकार हम 'उस कमरे में मेज़ है' को एक और केवल एक अवस्था में सत्य कहेंगे क्योंकि हमारे अनुसार यह एक और केवल एक प्रकार की वस्तुस्थिति का प्रकथन करता है। इस प्रकार दार्शनिकों को वास्तव में जो निर्णय करना होता है वह यह है कि उनकी अवधारणात्मक योजना क्या है और इसके निर्माण में कौन से फैक्टर्ज़ उनका नेतृत्व करें। यह निश्चित हो जाने पर वास्तव में यह एक तार्किक प्रश्न रह जाता है कि अमुक वाक्य किस वस्तुस्थिति के होने पर सत्य या असत्य होता है। किन्तु स्वयं अवधारणात्मक योजना वाक्य को सत्य या असत्य नहीं बनाती, सत्य या असत्य तो वस्तुस्थिति ही बनाती है।

इस प्रकार सत्य की हमारी व्याख्या अवधारणात्मक योजना में वाक्यों की तार्किक संगति के सिद्धान्त का भी निषेध नहीं करती, यह केवल 'सत्य' को इसका पर्याय नहीं मानती।

७

भावात्मक भाषा
तथा समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता

पीछे हमने अवगति वाक्यों (अवेयरनेस सेंटेंसिस) की मानसिकता की समस्या के प्रसंग में चर्चा की थी, यहां उनके तार्किक स्वरूप पर तथा सम्वद्ध अर्थ और निर्देश सम्वन्धी कुछ समस्याओं पर विचार किया जायगा। अवगति-वाक्य सामान्य प्रकथनात्मक वाक्यों के तर्कशास्त्र से निर्धारित नहीं होते, और इनकी यह विलक्षणता इन्हें विशेषरूप से उलझनपूर्ण तथा साथ ही आकर्षण का विषय वना देती है। उदाहरणतः प्रकथनात्मक वाक्यों के तर्कशास्त्र में 'व V ∽ व' लागू करता है कि या तो वाक्य 'व' सत्य है अथवा असत्य है, और यह सम्पूर्ण वाक्य अनिवार्यतः सत्य है। किन्तु अवगति वाक्यों के तर्कशास्त्र में '∽ अव०(य,व) V अव०(य,व)'* अनिवार्यतः सत्य नहीं है। इसी प्रकार, '∽ अव०(य,व)' वाक्य 'अव० (य, ∽ व)**' को लागू नहीं करता। इसी प्रकार, २+२=४' सत्य वाक्य है, किन्तु '[अनिवार्यतः अव०(२+२=४)]' वाक्य असत्य है। अव० वाक्यों की इस विलक्षणता को संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है:

* अनुवादः य का व में विश्वास नहीं है अथवा य का व में विश्वास है।

** अनुवादः य का विश्वास है कि 'व' असत्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

‘∽[अव०(य,व) → व)]*’

यह स्थापना हमें निम्न परिणामों पर पहुँचाती है:

स्थापनाः —

१. यदि य विश्वास करता है कि व और व स को लागू करता है तो इससे यह लागू नहीं होता कि य विश्वास करता है कि स।

२. यदि य विश्वास करता है कि व स को लागू करता है तो इससे यह लागू नहीं होता कि व स को लागू करता है।

३. यदि ‘व’ और ‘स’ का एक ही संकेत्य (निर्देश) र है और य विश्वास करता है कि ‘व’ र का निर्देश करता है तो आवश्यकरूप से य यह विश्वास नहीं करता कि स र का निर्देश करता है।

४. यदि कोई वस्तु व य के लिये प को व्यक्त करती है तो इससे यह लागू नहीं होता कि प का अस्तित्व है।

५. यदि य विश्वास करता है कि ‘य विश्वास करता है कि व’ तो इससे यह लागू नहीं होता कि य विश्वास करता है कि व।

सामान्य प्रकथनात्मक वाक्यों के तर्कशास्त्र से भिन्न उक्त स्थापनाओं को हम भावात्मक भाषा (इन्टेंशनल लेंग्वेज) के नियम कह सकते हैं जबकि प्रकथनात्मक वाक्यों के नियमों को विस्तारात्मक भाषा के वाक्यों के नियम कह सकते हैं और अतएव प्रकथनात्मक वाक्यों के नियमों को विस्तारात्मक भाषा का तर्कशास्त्र। भावात्मक भाषा के वाक्यों की विशेषता इस बात में निहित है कि (१) उनमें प्रयुक्त संज्ञा अथवा वर्णनात्मक पद (डिस्क्रिप्टिव टर्म्ज़) किसी अस्तित्व को लागू नहीं करते और (२) इनमें प्रयुक्त वाक्यीय प्रतिज्ञाएं (प्रोपोज़ीशंज़) किसी अस्तित्व को लागू नहीं करतीं (३) तथा संकेत्यरूप से (डिनॉटेटिवली) समान पद, अथवा कहें, विस्तारात्मक भाषा के समानार्थक पद, इसमें समानार्थक नहीं कहे जा सकते।

हमने पीछे अवगति वाक्यों को सामान्य उद्देश्य-विधेयात्मक वाक्यों के रूप में प्रयुक्त किया था। यहां उस पर उपर्युक्त स्थापनाओं के प्रकाश में विचार करना उपादेय होगा। उदाहरणार्थ निम्न अवमति वाक्य लें—

‘राम विश्वास करता है कि श्याम दुष्ट है’।

इस वाक्य में दो खण्ड-वाक्य हैं जो इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि द्वितीय वाक्य खण्ड प्रथम वाक्य खण्ड का टेक्स्ट बनता है। दूसरा वाक्य-खण्ड स्वतन्त्ररूप से भी घटित हो

*यह तर्कतः सत्य नहीं है कि यदि य का व में विश्वास है तो व वास्तव में है। (संकेत → तर्कतः लागू करने का संकेत है)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है, और स्वतन्त्ररूप से घटित होने पर यह सामान्य प्रकथनात्मक वाक्य है, और अतएव यह अथवा इसका निषेध-वाक्य सत्य है। किन्तु प्रथम वाक्य स्वतः घटित नहीं हो सकता और न ही यह रूपान्तरितरूप में (यह विश्वास है ·····) ही अकेले घटित हो सकता है। द्वितीय वाक्य-खण्ड प्रथम वाक्य-खण्ड के साथ घटित होने पर स्वयं अथवा निषेधात्मकरूप में सत्य या असत्य नहीं होता। किन्तु यदि इसे उद्देश्य-विधेय वाक्य के रूप में रूपान्तरित कर दिया जाय,यथाः 'यह अवगत है (श्याम दुष्ट है)':–

'अव० (श्याम दुष्ट है)'

तो प्रतीत होगा कि उद्देश्य–वाक्य वास्तव में कुछ विधान करता है। वास्तव में विट–गिंस्टाइन तथा वर्गमान की अस्तित्वमीमांसात्मक पदावली के अनुसार, उद्देश्य वाक्य वास्तव में संकेतात्मक है, अथवा स्वतन्त्र संज्ञा है।[१] इस प्रकार उनके अनुसार, उपर्युक्त वाक्य में आधीन वाक्य–खण्ड को अनिवार्यतः सत्य अथवा असत्य होना चाहिये। किन्तु हमारे प्रतिपादनानुसार आधीन वाक्य संकेतात्मक नहीं है क्योंकि हमारे मूल वाक्यों में उद्देश्य केवल विधेय की विशिष्टता का विधायक है। अतः विश्वास वाक्यों में आधीन वाक्य सत्य या असत्य नहीं हैं।[२] किन्तु तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या "श्याम दुष्ट है" तथ्य का 'राम विश्वास करता है कि श्याम दुष्ट है' अथवा 'अव०(श्याम दुष्ट है)' वाक्य में उद्देश्यरूप में प्रयुक्त इसी ध्वनि या लिपि से कोई भी संबंध है ? अथवा अधिक ठीक शब्दों में. उपर्युक्त अवगति वाक्य के लिये 'श्याम दुष्ट है' वाक्य द्वारा अभिहित तथ्य किसी प्रकार से प्रासंगिक है ?

हमारे पूर्व प्रतिपादनानुसार इसका उत्तर स्पष्ट है कि अवगति वाक्य में अवगति–विषय का वाचक वाक्य किसी तथ्य के बारे में नहीं होता; किन्तु यहां हम इसका उत्तर स्पष्टीकरण के साथ देंगे। अवगति वाक्य में आधीन वाक्य को 'व०' रूप में संक्षिप्त करते हुए उपर्युक्त वाक्य को हम इस प्रकार से रूपान्तरित कर सकते हैं:

'राम का विश्वास है कि 'व०' '।

किन्तु यह रूपान्तरण स्पष्टतः दोषपूर्ण है, क्योंकि राम का विश्वास विशेष ध्वनि या लिपि–रूप में नहीं है, अथवा कहें, राम का विश्वास ध्वनि–रूप या लिपि–रूप से विशिष्ट नहीं है। उसका विश्वास विशेष वस्तु–स्थिति में है जो इस वाक्य द्वारा व्यक्त होती है। किन्तु यह पुनः आपत्ति-जनक स्थापना है, क्योंकि 'वस्तु-स्थिति में विश्वास' प्रयोग का भाव स्पष्ट नहीं है, विशेषतः जबकि कथित वस्तु–स्थिति या तो है ही नहीं अथवा जिसका होना इन वाक्यों के लिये अप्रासंगिक है। अतः यह कहना अधिक उचित होगा

१—वर्गमान–मीनिंग एंड एग्जिस्टेंस, पृ० ८। पीछे, अध्याय २ द्रष्टव्य।
२—द्रष्टव्य पीछे, अध्याय ४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि राम का विश्वास विशेषरूप का है जो 'व०' द्वारा व्यक्त होता है, अथवा, जो व०-वत् है। इसी से हमने पीछे[3] 'राम का विश्वास है कि व०' के वजाय इस वाक्य को 'राम का विश्वास व०-वत् है' के रूप में रूपान्तरित किया था।

इस रूपान्तरण की विशेषता इस वात में है कि इसमें 'व०' आधीन वाक्य के रूप में घटित नहां होता, जो कि किसी तथ्य का विधान करता हो, जिस अस्तित्व का अस्तित्व रहस्यमय है। यह केवल विश्वास के विशेषरूप का होने का वोधक है।

किन्तु 'राम का विश्वास . . . .' का क्या रूप है ? वहुत से दार्शनिकों ने विश्वास को शब्द-व्यवहार, अथवा अन्य किसी प्रकार के व्यवहार की पदावली में घटित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार, उनके अनुसार 'राम का विश्वास है कि व०' वास्तव में राम के शब्द-व्यवहार की पदावली में, अथवा प्रत्याशा, उत्सुकता, डिस्पोज़ीशन आदि की अन्य शरीर वैज्ञानिक पदावली में विघटनीय है। इस प्रकार, उनके अनुसार, उपर्युक्त वाक्य निम्न प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है:- " 'राम विश्वास करता है कि व०' सत्य है यदि और केवल यदि राम उचित परिस्थितियों में वाक्य 'व०' का उच्चारण करने को तत्पर है", अथवा कुछ दूसरों के अनुसार, "यदि राम इस प्रकार की शरीर-स्थिति में है कि 'व०' वाक्य द्वारा विहित घटना उसके तनाव को सन्तुष्ट करती है और इसके घटित न होने पर उसे आश्चर्य, निराशा आदि होती है"। रसल ने एनेलेसिस आफ माइंड में, तथा अन्य पुस्तकों में भी, इसी स्थिति का समर्थन किया है। विटगिंस्टाइन का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय है जव वे उपर्युक्त प्रकार के वाक्यों को ' 'व' कहता है कि व' के रूप में रूपान्तरित करते हैं। पीछे हमने इस प्रतिज्ञा को भौतिक भाषावाद की संज्ञा दी है और इसका खण्डन किया है। यहां हमारा विचारणीय यह है कि क्या हम भौतिक भाषावाद को स्वीकार करके भी अवगति वाक्यों को विस्तारात्मक भाषा में विश्लेषित कर सकते हैं ? उदाहरणतः उपर्युक्त वाक्य ही लें-

'राम विश्वास करता है कि व०'।

कार्नप इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं-

'राम कहता है 'व' '।[4]

किन्तु जब राम वाक्य 'व०' कहता है तव क्या उसे उचितरूप से तव तक "श्याम दुष्ट है" वाक्यीय प्रतिज्ञा में विश्वास करता कहा जा सकता है जव तक यह नहीं माना जाता कि 'श्याम दुष्ट है' वाक्य उक्त प्रतिज्ञा को व्यक्त करता है ? राम के विश्वास को "वाक्य 'व०' के उच्चारण में तत्पर होने की स्थिति" में विघटित करने के लिये यह कम

३—द्रष्टव्य पीछे, अध्याय ४।
४—रुडोल्फ कार्नप-लोजीकल साइंटेक्स आफ लेंग्वेज, पृ० २४८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से कम आवश्यक शर्त है कि वाक्य 'व०' "व०" प्रतिज्ञा को व्यक्त करे। किन्तु जब हम यह स्वीकार करते हैं तो हम अनिवार्यतः भावात्मक भाषा (इन्टेंशनल लेंग्वेज) की विस्तारात्मक भाषा (एक्सटेंशनल लेंग्वेज) में विघटनीयता को अस्वीकार करने को बाध्य हैं। क्योंकि जब हम कहते हैं "इंगलिश में 'टेबुल' मेज़ को व्यक्त करता है" तब इससे यह लागू नहीं होता कि 'कुछ वास्तव में मेज़ है' अथवा 'कुछ वास्तव में मेज़ नहीं है'। अतः 'राम विश्वास करता है कि 'व' ' भौतिक भाषावाद में पुनारचित होने पर भी वास्तव में उचितरूप में निम्न प्रकार से विश्लेष्य है :

"राम का विश्वास है कि'व०', केवल और केवल यदि राम 'व०' का उच्चारण करने की शारीरिक स्थिति में है और उसके लिये 'व०' "व" का व्यंजक है"।
और इस रूप में यह हमारी स्थापना ५ के अनुसार भावात्मक है।

हमने पीछे अनेक स्थलों पर अर्थ तथा संकेत के प्रश्न पर विचार करते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार कुछ पद अथवा वाक्य केवल सार्थक होते हैं किन्तु वे सत्य या असत्य नहीं होते, और जैसाकि पिछले अध्याय में हमने देखा है, प्रत्येक सत्य वाक्य अनिवार्यतः सार्थक भी होता है, और किसी वाक्य की सत्यता-असत्यता उसकी सार्थकता से भिन्न है। अब किन्हीं दो वाक्यों को, जिन में 'कामायनी का लेखक' तथा 'आंसू का लेखक' पद क्रमशः घटित हों, एक ही व्यक्ति सत्य या असत्य बनाता है, किन्तु ये दोनों समानार्थक नहीं हैं। यह उन भिन्न वाक्यीय व्यापारों से स्पष्ट हैं जिन्हें ये सन्तुष्ट करते हैं: 'कामायनी का लेखक' 'य कामायनी का लेखक है' को और 'आंसू का लेखक' 'य आंसू का लेखक है' को सन्तुष्ट करते हैं, और यह तर्कतः अनिवार्य नहीं है कि यदि उक्त वाक्यीय व्यापार में अनिश्चित पद 'प्रसाद' द्वारा स्थानान्तरित होने पर सत्य होता है तो दूसरे वाक्यीय व्यापार में भी अनिश्चित पद 'प्रसाद' द्वारा स्थानान्तरित होने पर ही सत्य हो। उदाहरणतः 'प्रसाद कामायनी का लेखक है' को 'व' संज्ञा देते हुए और 'प्रसाद आंस का लेखक है' को 'स' संज्ञा देते हुए, और 'व→स' को सत्य मानते हुए :

(राम का विश्वास है कि व) . (व→स) →'(राम का विश्वास कि स)'

ग़लत है और अतएव निम्न अस्तित्वात्मक साधारणीकरण (एग्ज़िस्टेंश्यल जनरलाइज़ेशन) भी अनुचित हो जाता है, यथा—

'अनिवार्यतः (∃य)(यदि प्रसाद कामयानी का लेखक है तो
य आंसू का लेखक है)'

क्योंकि, जैसाकि 'अनिवार्यतः' पद के प्रयोग के नियम से स्पष्ट है, इस वाक्य में य का किसी भी ऐसे पद द्वारा स्थानान्तरण, जो चाहे प्रसाद को ही निर्देशित करता हो,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस वाक्य को असत्य बना देता है।[५]

अब जबकि किसी वर्णन पद अथवा विधेय पद से यह लागू नहीं होता है कि उसके द्वारा व्यक्त अर्थ के अनुरूप किसी वस्तु का अस्तित्व भी हो, इससे यह आवश्यकरूप से लागू होता है कि एक विशिष्ट अवगति का अस्तिव हो। इस प्रकार जबकि 'राम का विश्वास है कि व' यह लागू नहीं करता कि व वास्तव में है, यह केवल "व" को अनिवार्यतः लागू करता है। अतः

'['वि(य,व)'→"व"]'

अनिवार्यतः सत्य है, और

'[वि (य,व)←→वि (य,व)]'

में 'व' का किसी भी अन्य वाक्य द्वारा स्थानान्तरण इसे असत्य बना देता है।

हमारी उपर्युक्त स्थापना का औचित्य स्पष्ट है: उपर्युक्त विश्वास वाक्य को अध्याय ४ के हमारे प्रतिपादनानुसार रूपान्तरित करने पर हम निम्न मूल वाक्य प्राप्त करते हैं :

'अव० (व)'

अब यहां 'व' के बजाय 'स' स्थानान्तरित होने पर वाक्य होगा 'अव० (स)'। यहां प्रथम वाक्य जबकि अवगति की व-वत् घटना को अभिहित करता है, दूसरा अवगति की स-वत् घटना को अभिहित करता है। ये दो तथ्य स्वतन्त्र दो अस्तित्व हैं, एक नहीं, फिर चाहे ये दोनों एक ही वस्तु[§] के वाचक क्यों न हों।

हमारी इस योजना में समानार्थकता के लिये क्या स्थान है? वाक्य '-----' तथा '------' लें। हम अपनी उपर्युक्त स्थापना के अनुसार इनकी समानार्थकता के लिये निम्न शर्तें रख सकते हैं—

'('······'सम'------')→[वि(य,'······')←→वि(य,------)]।

अनुवाद: ('·····' तथा '---------' समानार्थक हैं, लागू करता है कि य'·······' में विश्वास करता है यदि और केवल यदि य'------' में विश्वास करता है।)

यह स्थापना स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है क्योंकि इसके विभिन्न प्रतिपादन हमें अन्तर्विरोधपूर्ण परिणामों पर पहुंचा सकते हैं। उदाहरणतः 'अ=व' वाक्य लें, जहां 'अ' तथा 'व' एक ही व्यक्ति की दो संज्ञाएं हैं, जैसे 'शिव' और 'महेश'। अब जबकि 'अ=अ' पुनरुक्ति है, 'अ=व' पुनरुक्ति नहीं है। फ्रेज इसका कारण 'अ' तथा

५. क्वाइन, फ्राम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू, अध्याय ८।

§ 'वस्तु' से यहां 'भौतिक विषय' अभिप्रेत है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'व' के भाव अथवा ज्ञानात्मक मूल्य में भेद को बताते हैं। इस प्रकार, फ्रेज के अनुसार 'अ' तथा 'व' का निर्देश एक ही होने पर भी इनके भाव भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, क्योंकि इनका ज्ञानात्मक मूल्य भिन्न भिन्न होता है।

अब दो नामों के ज्ञानात्मक मूल्य अथवा भाव की भिन्नता किस बात में निहित है ? वीन पाल के अनुसार," 'अ=अ' तथा 'अ–व' में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भेद है जिसे फ्रेज स्वीकार नहीं करते किन्तु जो 'अ' तथा 'व' में, इनके विषय होने के रूप में (फिर चाहे ये पद निर्देशात्मक हों या न हों, किन्तु यदि ये निर्देशात्मक हों तो अधिक उचितरूप में) इनके ज्ञानात्मक मूल्य में भेद की अधिक उचित व्याख्या करता है। यह भेद प्रदर्शित करता है कि क्यों 'अ=व' उचित ज्ञान को व्यक्त करता है और 'अ=अ' विश्लेषणात्मक है। 'अ=व' उचित ज्ञान को इसलिये व्यक्त करता है क्योंकि आप 'अ' तथा 'व' का प्रयोग, यह जाने बिना कि इनका निर्देश एक ही है, कर सकते हैं। XXXX इस लिये 'अ' तथा 'व' के ज्ञानात्मक मूल्य में भेद का एक कारण यह है कि 'अ' तथा 'व' पदों के भौतिक गुणों (ध्वनि अथवा लिपि रूपों) में अन्तर है"६। इस व्याख्या से हम एक सीमा तक सहमत हैं। यह उस समय उचित है जब हम पदों या वाक्यों के सम्बन्ध में, चाहे उनके संकेतात्मकरूप (साइन प्रापर्टी) को ध्यान में रखते हुए ही, विचार करते हैं। उदाहरणतः 'प्रसाद' अमुक व्यक्ति का नाम है' वाक्य में 'प्रसाद' पद के भौतिक गुण प्रासंगिक हैं, और अतएव जब हम कहते हैं 'प्रसाद' तथा 'जयशंकर' एक ही व्यक्ति की दो संज्ञाएं हैं, तब हम उचितरूप से नवीन जानकारी देते हैं और तब इन पदों के उचित ज्ञान व्यक्त करने में समर्थ होने में इनके भौतिक गुण प्रासंगिक हैं। किन्तु पदों के भौतिक गुणों की प्रासंगिकता केवल संज्ञा पदों तक ही सीमित है, इससे अधिक नहीं। उदाहरणतः–

'भोर का तारा ही सन्ध्या का तारा है'

वाक्य में 'भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा' के भौतिक गुण प्रासंगिक नहीं हैं, क्योंकि 'मार्निंग स्टार इज़ दि ईवनिंग स्टार' उचित परिस्थितियों में ठीक इसी अवगति को व्यक्त करते हैं। इनके भौतिक गुण केवल निम्न प्रकार से प्रासंगिक हैं–

हिन्दी भाषा में 'भोर का तारा' पदावली का अर्थ है "भोर का तारा",

हिन्दी भाषा में 'सन्ध्या का तारा' पदावली का अर्थ है "सन्ध्या का तारा",

"भोर का तारा" तथा "सन्ध्या का तारा" एक ही वस्तु का निर्देश करते हैं।

इसका कारण समझना कठिन नहीं है। उदाहरणतः, हमारा यह विश्वास है कि कुत्ते भूंकते हैं। अब मान लीजिये कि हम भ्रम से किसी गीदड़ को कुत्ता

6. Wein Paul–Frege's Sinn and Bedutung. Mind 1950, P.P. 483–94.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझ लेते हैं। किन्तु जब वह बोलता है तब हम पाते हैं कि वह भूंक नहीं रहा है। इस अवस्था में या तो हमें आश्चर्य होगा कि यह कुत्ता भूंक क्यों नहीं रहा है? अथवा यह आश्चर्य होगा कि वह कुत्ता न होने पर भी कुत्ता दिखाई पड़ रहा था। इस प्रकार 'कुत्ता भूंकता है' का भाव इस पदावली के भौतिक गुणों का सापेक्ष नहीं है। अब उपर्युक्त वाक्यों को विश्वास वाक्यों में अनूदित करने पर हम निम्न वाक्य-रचनाएं प्राप्त करते हैं–

वि (य,व) . वि (य, व=स) → वि (य,स)

(अनुवादः य का विश्वास है कि शुक्र भोर का तारा है, और य का विश्वास है कि भोर का तारा तथा सन्ध्या का तारा एक ही हैं, अतः य विश्वास करता है कि शुक्र ही सन्ध्या का तारा है)।

इस पुनारचना में केवल एक पद 'शुक्र' के भौतिक गुण प्रासंगिक हैं क्योंकि 'शुक्र' पद यहां इस प्रकार घटित होता है कि यहां इसको किसी भी अन्य समान-निर्देशी पद द्वारा स्थानान्तरित करके हम सत्य वाक्य नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु दोनों वर्णन-पदों-'भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा' के भौतिक गुण प्रासंगिक नहीं हैं, क्योंकि यहां अभिप्रेत यह नहीं है कि दोनों वर्णन पदों तथा 'शुक्र' का एक ही विस्तार है, प्रत्युत यह कि "वह वस्तु जो सन्ध्या के समय चमकती है, तथा वह वस्तु जो भोर के समय चमकती है, एक ही है तथा वह 'शुक्र' के नाम से अभिहित की जाती है।

किन्तु एक अन्य उदाहरण देखें जहां पदों के भौतिक गुण भी प्रासंगिक हैं, यथाः

'केवल कंवारे ही अविवाहित हैं'

वाक्य में। यह वाक्य वास्तव में उचितरूप में निम्न प्रकार से पुनारचित किया जाना चाहिये—

'हिन्दी में 'कँवारे' तथा 'अविवाहित' पदों का एक ही विस्तार है'।

इसे विश्वास वाक्यों के रूप में रूपान्तरित करके भी हम पदों के भौतिक गुणों की सापेक्षता से मुक्त नहीं हो सकते, उदाहरणतः—

'राम का विश्वास है कि सब कँवारे अविवाहित हैं'

वाक्य तब तक नवीन ज्ञान व्यक्त नहीं करता जबतक 'कँवारा' तथा 'अविवाहित' पदों को पदों के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाय, अन्यथा इस वाक्य का प्रकथन होगा—

राम का विश्वास है कि केवल अविवाहित ही अविवाहित हैं।

अतः उचितरूप में रचित होने पर यह वाक्य होगाः–

'हिन्दी भाषी लोगों के अनुसार ('कंवारा'='अविवाहित')'

अर्थात्, हिन्दी भाषी लोगों के लिये 'कंवारा' तथा 'अविवाहित' पद एक ही अर्थ व्यक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हैं। किन्तु–'राम का विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु, यदि यह कुत्ता है तो यह भूँकता है' वाक्य में यह अभिप्रेत नहीं है कि राम का विश्वास है कि 'कुत्ता' पद से अभिहित वस्तु 'भूँकता' विधेय से अभिहित गुण से युक्त है।

ध्वनिरूपवाद या लिपिरूपवाद (इंस्क्रिप्शनिज़्म)* वास्तव में पदों के अर्थ के प्रसंग में बहुत ही सबल प्रतिज्ञा है और अतएव यह समानार्थकता के प्रसंग में भी आधारभूत है, किन्तु प्रकथनों की सत्यता और निर्देशन के प्रसंग में इसकी प्रतिष्ठा नहीं है। यह इसलिये नहीं कि पदों और निर्दिष्टों का सम्बन्ध केवल रूढ़िपरक है, प्रत्युत इसलिये क्योंकि जब हम किसी घटना अथवा वस्तु के अमुक प्रकार का होने में विश्वास करते हैं तब हम ध्वनि या लिपि–रूप में विश्वास करते नहीं कहे जा सकते और न हम उनके सम्बन्ध में कुछ प्रकथित ही करते हैं। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि विश्वास–वाक्य उन प्राणियों की मानसिक या शारीरिक (जो भी कहें) स्थिति को भी व्यक्त करते हैं जो भाषा नहीं बोलते।[@] यहां ध्वनिरूपवादी कहेगा कि यह स्थिति वास्तव में उसके प्रतिपादन का समर्थन ही करती है, क्योंकि जब कोई प्राणी किसी वस्तु में विश्वास करता है तब कोई प्रतीक प उसके लिये म का संकेत (चिह्न) बनता है, अथवा कहें, प उसके लिये म को व्यक्त करता है।

इससे सहमत होने का हमें कोई कारण नहीं दीखता। किन्तु सर्वप्रथम, यह प्रतिपादन वह उद्देश्य पूरा नहीं करता जिसके लिये यह स्थापित किया गया है, क्योंकि यह भावात्मक वाक्यों को विस्तारात्मक वाक्यों में विघटित करने में असमर्थ है। उदाहरणतः–

'राम के लिये प म को व्यक्त करता है'

वाक्य हमारी उपर्युक्त स्थापना ४ के अनुसार भावात्मक है। और दूसरे, यह भ्रामक ज्ञानमीमांसात्मक सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है, नैसेकि संकुचित व्यवहारवाद के अन्य प्रतिपादन भ्रामक ज्ञानमीमांसा पर आधारित हैं। उदाहरणतः शैफ़र (Scheffer) 'वि (य, प)' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं: "एक लिपि–रूप ल को लें जोकि वाक्य 'कि-प' का लिपि–रूप है (उस वाक्य का लिपि–रूप है जो प्रतिज्ञा प को व्यक्त करता है), और य ने ल लिखा है"। अब यह प्रतिपादन दो प्रकार से दोष–पूर्ण है, प्रथम इसलिये क्योंकि यह ल से जिस 'कि–प' को स्थानान्तरित करना चाहता है उसकी ही यह अनिवार्यतः ल के लिये अपेक्षा करता है, क्योंकि लिपि ल प की लिपि हो कर ही अपने उद्देश्य में सफल

* इन्स्क्रिप्शनिज़्म पद का ठीक पर्याय लिपि–रूपवाद ही है, किन्तु वास्तव में इन्स्क्रिप्शनिज़्म दोनों ही रूपों के लिये प्रासंगिक है। किन्तु संक्षेप के लिये हम आगे केवल 'ध्वनि–रूपवाद' का ही प्रयोग करेंगे।

@ विश्वास सम्बन्धी यह प्रतिपादन सामान्यरूप से रसल के प्रतिपादन के अनुसार है जो उनकी किसी भी दार्शनिक पुस्तक में देखा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो सकती है, अन्यथा ल इंगलिश या फ्रेंच में एक ध्वनि–रूप हो सकता है, जो किसी अन्य प्रतिज्ञा ज का लिपि–रूप हो।

इस प्रकार का स्पष्टतः भ्रामक प्रतिपादन, जैसाकि शैफ्फ़र के उपर्युक्त उद्धरण में है, इस ज्ञानमीमांसात्मक भ्रम पर प्रतिष्ठित है कि केवल वैज्ञानिक द्वारा प्रमाणीय तथा दैशिक गुणों से युक्त वस्तुएं ही उचितरूप से ज्ञान का विषय हो सकती हैं। किन्तु चतुर्थ अध्याय में जैसाकि हमने देखा है, यह पूर्णतः अयुक्त है।

प्रो० गुडमान ने भी ध्वनि (अथवा लिपि) रूपवाद का समानार्थकता के प्रसंग में समर्थन किया है।[७] किन्तु हमारे विचार में गुडमान का प्रतिपादन शैफ्फ़र और वीनपाल के प्रतिपादन से भी अधिक दोषपूर्ण है। वीनपाल के प्रतिपादन का दोष केवल इस बात में है कि वह बहुत संकुचित क्षेत्र के लिये ही उपयुक्त है जबकि वह सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये उपयुक्त होने का दावा करता है, जबकि शैफ्फ़र का दोष वही है जोकि सामान्यरूप से संकुचित व्यवहारवाद का दोष है। इसके विपरीत गुडमान के प्रतिपादन में ये दोनों दोष होने के अतिरिक्त एक दोष यह है कि वह इसके लिये शिथिल आधार प्रस्तुत करता है।

गुडमान का तर्क मुख्यतः पदों के विस्तारात्मकरूप से अभिन्न होने पर भी अर्थ में भिन्न होने पर प्रतिष्ठित है। उनके अनुसार "ऐसे कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं जहां दो पद विस्तार में समान हैं किन्तु अर्थ में भिन्न हैं। उदाहरणतः 'सेंटार' तथा 'यूनीकोर्न' क्योंकि किसी भी वस्तु पर लागू नहीं होते अतः दोनों का विस्तार एक ही (रिक्त वर्ग) है; किन्तु निश्चितरूप से ये अर्थ में भिन्न हैं।"[८] तब पदों की अर्थ-भिन्नता (अथवा समानार्थकता) किस बात में निहिति है? गुडमान "सेंटार" तथा "यूनीकोर्न" का ही उदाहरण लेते हुए कहते हैं कि "एक सेंटार–चित्र एक यूनीकोर्न–चित्र से भिन्न है, यह इसीलिये नहीं कि सेंटार–चित्र सेंटार के अनुरूप है और यूनीकोर्न के प्रतिरूप है, प्रत्युत इसलिये क्योंकि सेंटार तथा यूनीकोर्न वास्तव में होते ही नहीं। 'सेंटार-चित्र' तथा 'यूनीकोर्न–चित्र' केवल भिन्न-भिन्न विषयों को लागू होते हैं, जैसेकि 'कुर्सी' और 'मेज़' भिन्न–भिन्न विषयों को लागू होते हैं,और प्रथम अवस्था में यह पूछना कि क्यों,उतना ही अनावश्यक है जितना द्वितीय अवस्था में। सीधी बात यह है कि यद्यपि 'सेंटार' और 'यूनीकोर्न' किसी को लागू नहीं होते और अतएव उनका विस्तार एक ही है, किन्तु 'सेंटार–चित्र' पद अनेक वस्तुओं को लागू होता है और इसी प्रकार 'यूनीकोर्न–चित्र' अन्य अनेक को

७. ओन लाइकनेस आफ मीनिंग (लियोनार्ड लिंस्की द्वारा सम्पादित–सेमेंटिक्स एंड फिलासफी आफ लेंग्वेज, पृ० ६७–७७।

८. वहीं पृ० ६७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लागू होता है।*

"यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि चाहे दो पदों का विस्तार समान है किन्तु कुछ विधेय, जो इन पदों के साथ अनुरूप पद लगाने से विरचित होते हैं, विस्तार में भिन्न हो सकते हैं। शायद तब यह कहा जा सकता है कि ऐसे दो पद, जो अर्थ में भिन्न हैं, या तो उनका, अथवा उनसे रचित अनुरूप संयुक्त पदों का, विस्तार भिन्न है। इस प्रकार विस्तार में अभिन्न विधेयों के अर्थ में भिन्नता का आधार (इनसे रचित) अन्य विधेयों के विस्तार में भिन्नता को कहा जा सकता है।"[९]

इस प्रकार, गुडमान 'चित्र' पद के संयोग से विरचित संयुक्त विधेयों के विस्तार-भेद को अर्थ-भेद का आधार बताते हैं। किन्तु कुछ विधेयों के चित्र नहीं होते, उदाहरणतः 'क'-चित्र तथा 'प'-चित्र उचित प्रयोग नहीं हैं जबकि 'प' तथा 'क' गन्ध तथा विद्युत्-चार्ज के लिये प्रयुक्त विधेय हों। अतः वे विस्तार-भेद निर्धारित करने के लिये 'क'-डायाग्राम तथा 'प'-लिपि का भी प्रयोग करते हैं। और फिर कहते हैं "वास्तव शब्द-लिपियां उतने ही उचित भौतिक विषय हैं जितना कुछ भी अन्य, और अतएव यदि कोई वास्तव भौतिक लिपि है जोकि प वर्णन (पी डिस्क्रिप्शन) है और जो क-वर्णन नहीं है, तब "प" और "क" अपने द्वितीय विस्तारों में, और अतएव अर्थ में, भिन्न हैं"।[१०]

इस विवेचना का प्रथम दोष यह है कि इसके अनुसार 'सेंटार' तथा 'यूनीकोर्न' के अर्थ में यह भेद है कि 'सेंटार-चित्र' तथा 'यूनीकोर्न-चित्र' भिन्न-भिन्न भौतिक गुण रखते हैं। किन्तु उनके चित्र भिन्न प्रकार के क्यों हैं? क्यों सेंटार-चित्र तथा यूनीकोर्न-चित्र एक ही प्रकार का नहीं है यदि 'सेंटार' तथा 'यूनीकोर्न' वास्तव में किसी अस्तित्व के वाचक नहीं हैं? इसका उत्तर यह देने पर कि इनकी मानसिक कल्पनाओं में भिन्नता इनकी चित्र-भिन्नता का आधार है, और अतएव 'सेंटार' तथा 'यूनीकोर्न' के अर्थ भिन्न हैं क्योंकि इनकी मानसिक कल्पनायें भिन्न हैं, गुडमान आपत्ति करते हैं कि "इस की कोई गारंटी नहीं है कि सेंटार्ज़ की कल्पनाएं यूनीकोर्न्ज़ की कल्पनाएं हैं"[११] (अथवा नहीं हैं)। इससे हम पूर्णतः सहमत हैं और अतएव-

'अनिवार्यतः 'सेंटार्ज़'='यूनीकोर्न्ज़' '

अवगति भाषा में अनुचित वाक्य है और इसी प्रकार कोई भी ऐसा वाक्य जिसमें दो

* यहां यह वास्तव भौतिक रेखाओं को लागू होना अभिप्रेत है।

९. वहीं, पृ० ७१।

१०. वहीं पृ० ७२।

११. वहीं पृ० ७०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद-ध्वनियों में अर्थ-अभेद की अनिवार्यता का प्रकथन किया गया हो। इस प्रकार पदों के ध्वनि-रूप "अर्थ" और "समानार्थकता" के विवेचन में प्रासंगिक हैं, किन्तु ये अर्थ और अतएव अर्थ-भेद के आधार नहीं हैं। यह निम्न वाक्य से और भी अच्छी तरह से स्पष्ट है—

'अनिवार्यतः 'कंवारा'='अविवाहित' '

सामान्यतः अवगति वाक्य में असत्य है और यह शर्त तव भी ठीक है जवकि किसी को इनमें से केवल एक का, अथवा किसी का भी नहीं, अर्थ ज्ञात हो। अतः ध्वनि-भिन्नता अर्थ-भिन्नता को लागू नहीं करती। अतएव

'हिन्दी में 'कंवारा'='अविवाहित' '

सत्य है, जवकि 'हिन्दी में' का अभिप्राय है 'हिन्दी भाषी लोगों के लिये'। प्रथम वाक्य की असत्यता इस वात में निहित है कि 'अनिवार्यतः' या तो उचितरूप से पुनरुक्ति वाक्य के साथ प्रयुक्त हो सकता है, जैसे 'कंवारा'='कंवारा' के साथ, अथवा तार्किक भाषा में, जैसे—

'२+२=४' में, अथवा '२०^{२}=४००' में

जहां पदों की भिन्नता अथवा समता अर्थों में निहित न हो कर परिभाषाओं में निहित होती है। किन्तु ' 'कंवारा'='अविवाहित' 'इन दोनों श्रेणियों में नहीं आता, क्योंकि इन दोनों पदों के अर्थ की समता आनुभविक रूप से प्राप्त होती है।१२

२

अवगति भाषा के लिये हम समानार्थकता की परिभाषा पीछे निम्न प्रकार से कर चुके हैं—

(' . . . . . ' सम ' - - - - - ')→वि (य, ...)←→वि (य, - - - - -)

हमारी पूर्व स्थापना के अनुसार इसे इस प्रकार पुनारचित किया जा सकता है, यथाः

' ' . . . . . . ' सम ' - - - - - - ' 'यदि और केवल यदि ये य के लिये समान अर्थ को व्यक्त करते हैं'।

यह पुनारचना इस लिये उपयुक्त है क्योंकि वे और केवल वे वाक्य ही इन वाक्यीय अनिश्चितों को सत्य मूल्य में परिवर्तन के बिना स्थानान्तरित कर सकते हैं जो हमारी परिभाषा के अनुसार पूर्णतः समानार्थक हैं। किन्तु यह एक पुनरुक्ति मात्र हो जाती है, अतः यह हमें समानार्थकता के सम्वन्ध में कुछ नहीं वताती। यहां "प्रथम वाक्य, जिससे दूसरा पुनारचना है, पुनरुक्ति नहीं है, अतः वह अभिज्ञता देता है। किन्तु वास्तव में साथ ही यह दो भिन्न पदों को ही अर्थ व्यक्त करने के अयोग्य वना देता है।

१२. क्वाइन—'फ्राम ए लोजीकल 'वाइंट आफ व्यू' में 'मीनिंग इन लिंग्विस्टिक्स' अध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस भाषा में दो 'अ' तथा 'व' पद अथवा वाक्य अनिवार्यतः समानार्थक नहीं हो सकते, क्योंकि–

'अनिवार्यतः [वि(य, अ)←→वि (य,अ)]'

वाक्य में किसी एक 'अ' के स्थान पर अन्य पद 'व' का प्रयोग इस वाक्य को हमारी स्थापना ३ के अनुसार असत्य बना देता है। अतः– '·······' तथा '------' वाक्य तभी अनिवार्यतः समानार्थक हो सकते हैं यदि इनमें एक ही वाक्य-प्रकार की दो घटनाएं (टू टोकंज़ आफ दि सेम सेंटेंस टाइप) प्रयुक्त की जांय।

भावात्मक भाषा भ० में समानार्थकता की यह स्थिति हमें इस भाषा के लिये समानार्थकता की परिभाषा अन्य भाषाओं से भिन्न करने को बाध्य नहीं करती। सब भाषाओं (भावात्मक भाषा भ०, तार्किक भाषा भ१ तथा विस्तारात्मक भाषा भ२ के लिये हम समानार्थकता की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं–"यदि दो प्रयोग किसी भाषा भ के सभी वाक्यों में उनके सत्य मूल्य में परिवर्तन के बिना प्रयुक्त किये जा सकें तो वे उस भाषा में समानार्थक वाक्य (या पद) कहे जायंगे। इस प्रकार, जब हम दिखाना चाहते हैं कि कोई दो पद या वाक्य समानार्थक नहीं हैं तो हमें किसी भाषा भ में ऐसे सत्य वाक्य दिखाने होंगे जिनमें एक वाक्य में समानार्थक कहे जाने वाले पदों का प्रयोग करने पर परिणाम असत्य वाक्य होगा। उदाहरणतः तार्किक भाषा का वाक्य

'अनिवार्यतः $(३<६=\frac{३\times४}{४}<६)$'

लें, जो तार्किक भाषा भ१ में पुनरुक्ति मात्र है और अतएव सत्य है, किन्तुः

'अनिवार्यतः $[\text{वि}(\text{य}, ३<६=\frac{३\times५}{५}<६)]$'

असत्य वाक्य है, क्योंकि यह सम्भव है कि कोई प्रथम वाक्य में विश्वास करे किन्तु दूसरे में विश्वास नहीं करे। इस प्रकार, अभेद-चिह्न के दोनों ओर के वाक्य भाषा भ१ में समानार्थक हैं जबकि भ० में ये समानार्थक नहीं हैं, क्योंकि भाषा भ१ में ऐसे कोई दो वाक्य नहीं हो सकते जिन में यह समीकरण असत्य दिखाया जा सके। इस भाषा में यह वाक्य अनिवार्यतः सत्य है। इसी प्रकार विस्तारात्मक भाषा के लिये भी। विस्तारात्मक भाषा में कोई विधेय, जिनका एक ही विस्तार है, अर्थात् जो एक ही विषय-अथवा वस्तु के लिये सत्य हैं, सब वाक्यों में परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। इस प्रकारः

' 'भोर का तारा'='संध्या का तारा' '

भ२ में अनिवार्यतः सत्य है और इसी प्रकार

' 'तर्कशील प्राणी'='पक्षरहित द्विपद' '

भी, क्योंकि अभेद-चिह्न के दोनों ओर के पद एक ही विषय के लिये सत्य हैं। किन्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भ२ के ये वाक्य भ१ में असत्य हैं, क्योंकि यह अनिवार्यतः (तर्कतः) सत्य नहीं है कि 'तर्कशील प्राणी' तथा 'पक्षरहित द्विपद' पद एक ही वस्तु के लिये सत्य हों, यह केवल आनुभविक सत्य है, क्योंकि यह केवल आनुभविक आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है कि तर्कशील प्राणी के पक्ष नहीं हैं अथवा पक्षरहित द्विपद तर्कशील हैं, तथा कोई अतर्कशील प्राणी पक्षरहित द्विपद नहीं है, अथवा कोई पक्षसहित द्विपद तर्कशील नहीं है। किन्तु विस्तारात्मक भाषा में इन दोनों पदों के समीकरण की असत्यता का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, सिवाय गुडमान की विधि की सहायता के, जोकि अन्य कारणों से दोषपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भ१ तथा भ२ में समानार्थकता की प्रतिज्ञा का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। वास्तव में अभेद-चिह्न '=' का प्रयोग तीनों भाषाओं में किया जा सकता है किन्तु तीनों में इस चिह्न का प्रयोग भिन्न भिन्न प्रकार का है और केवल भावात्मक भाषा में यह समानार्थकता को व्यक्त करता है। विस्तारात्मक भाषा में दो पदों अथवा प्रयोगों के बीच अभेद-चिह्न समानार्थकता का प्रतीक न हो कर इस बात का प्रतीक है कि दोनों पद (१) भ२ में एक ही वर्ग के सदस्यों का निर्देश करते हैं, तथा (२) भ१ में, एक ही विषय का निर्देश करते हैं। वर्गमान के शब्दों में "पद या वाक्य 'अ' अवधारणा (कांसेप्ट "अ" को व्यक्त करता है और पद या वाक्य 'ब' अवधारणा "ब" को, यद्यपि ये दोनों पद एक ही वस्तु का निर्देश करते हो सकते हैं। एक ही वस्तु का निर्देश करने के कारण 'अ' तथा 'ब' के अभेद की अवधारणा उपयोगी और उचित है"[१३]। इस स्थापना को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

' 'अ'='ब' →(∃य) अ(य)← →ब(य) '

सामान्य भाषा में, 'भोर का तारा'='सन्ध्या का तारा' लागू करता है कि कम से कम एक वस्तु ऐसी है जो भोर का तारा है यदि और केवल यदि वह सन्ध्या का तारा है'। यह स्थापना एक वास्तव ज्ञान-स्थिति को व्यक्त करती है जो वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा अधिगत हुई है। इस प्रकार, भावात्मक भाषा में 'अ'='ब' के निषेध को अनिवार्य स्वीकार करके भी हम प्रत्ययवाद की इस भूल के शिकार नहीं होते कि केवल प्रत्ययों का ही अस्तित्व है[१४]।

३

हमारा उपर्युक्त विवेचन विश्लेषणात्मकता की समस्या पर क्या प्रकाश डालता है ?

१३. मीनिंग एण्ड एग्ज़िस्टेंस, पृ० १२७।
१४. वहीं पृ० १२८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

विश्लेषणात्मक वाक्यों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है : "एक वाक्य 'व' भाषा भ में विश्लेषणात्मक है यदि और केवल यदि 'व' के सत्य का निर्णय भ के तर्क-संस्थान (लोजीकल स्कीम) की सापेक्षता में वाक्य के केवल घटक पदों को देख कर ही किया जा सके।"

यह परिभाषा प्रो० क्वाइन की परिभाषा के अनुरूप है। इस परिभाषा के अनुसार निम्न प्रकार के वाक्य विश्लेषणात्मक कहे जा सकते हैं—

१. मध्यन्तर निषेध(एक्सक्लूडिड मिडल) के सिद्धान्त की सापेक्षता में 'क V ∽ क' आदि तार्किक वाक्य।

२. यदि क ख से पूर्व है और ख ग से पूर्व है तो क ग से पूर्व है।

३. सब द्विपद दो पैरों वाले प्राणी हैं।

४. सब रानियां स्त्रियां हैं। (अनुवादः राजाओं से विवाहित सब स्त्रियां स्त्रियां हैं)।

५. समकालीन भूत विज्ञान की भाषा में 'पानी=२एच०ओ'।

६. हिन्दी भाषा में, 'सब कंवारे अविवाहित हैं"।

७. मनुष्य तर्कशील प्राणी है।

८. गणित में '$१६^२$=२५६'।

अब जैसाकि स्पष्ट है, इनमें से १, ५, ६, ७ तथा ८ वाक्य केवल सापेक्षरूप से विश्लेषणात्मक हैं। प्रथम वाक्य की विश्लेषणात्मकता की सापेक्षता पीछे अध्याय ६ में देखी जा सकती है, वाक्य ५ की विश्लेषणात्मकता की सापेक्षता इस बात से स्पष्ट है कि कल ही कोई अनुसन्धान इस परिभाषा को बदलने को बाध्य कर सकता है। ६वें वाक्य की सापेक्ष विश्लेषणात्मकता के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में पीछे देख चुके हैं। वाक्य ८ की सापेक्षता तार्किक भाषा की सापेक्षता है तथा वाक्य १ की सापेक्षता मध्यन्तर निषेध के सिद्धान्त की सापेक्ष है। ८वें वाक्य की सापेक्ष–विश्लेषणात्मकता निम्न वाक्य से स्पष्ट है:

' 'यज्ञोपवीत के सूत्रों की संख्या' = '३' '

अथवा

' 'यज्ञोपवीत के सूत्रों की संख्या'='त्रिपुण्ड्र की रेखाओं की संख्या' '

इन वाक्यों में अभेद चिह्न के दोनों ओर के प्रयोग यद्यपि एक ही संख्या को व्यक्त करते हैं, किन्तु ये विश्लेषणात्मक नहीं हैं। विश्लेषणात्मक वाक्यों की इस सापेक्षता के ही अनुसार अन्य अनेक वाक्य–युगलों अथवा पद युगलों में समानार्थकता उत्पन्न की जा सकती है, उदाहरणतः

'अ वर्णयुक्त है ⊃ अ विस्तारयुक्त है'

'अ मनुष्य है'='अ तर्कशील है'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्यों की विश्लेषणात्मकता इसी प्रकार उत्पादित विश्लेषणात्मकता है। प्रथम वाक्य के लिये हमने अध्याय ६ में दिखाया है कि यह स्वतः विश्लेषणात्मक नहीं है, यह केवल स्पष्ट परिभाषा द्वारा ही विश्लेषणात्मक बनाया जा सकता है। इसी प्रकार सातवें वाक्य के लिये भी। वास्तव में यह वाक्य आनुभविक आधार पर प्रतिष्ठित सामान्य वाक्य है, क्योंकि इसका अनुवाद उचितरूप से इस प्रकार किया जा सकता है: "अब तक जितनी वस्तुएं हमने देखी हैं उनमें से जितनी मनुष्य थीं वे सब तर्कशील तथा प्राणी थीं।" किन्तु यदि इसको इस प्रकार से रचित किया जाय, यथाः

'यदि कोई वस्तु तर्कशील तथा प्राणी नहीं होगी तो हम उसे मनुष्य नहीं कहेंगे'

तो उपर्युक्त वाक्य विश्लेषणात्मक हो जाता है,किन्तु इसकी विश्लेषणात्मकता केवल परिभाषया उत्पादित है। इसी प्रकार—

'अ गिल्ज़युक्त प्राणी है'='अ पानी में सांस ले सकता है'

वाक्य में 'गिल्ज़' पद की परिभाषा अथवा निर्धारित समानार्थकता द्वारा वाक्य की विश्लेषणात्मकता का निर्धारण होता है। इसे वर्तमान शरीरवैज्ञानिक ज्ञान द्वारा उत्पादित समानार्थकता और अतएव विश्लेषणात्मकता भी कह सकते हैं,क्योंकि शरीरवैज्ञानिक अवधारणात्मक योजना में गिल्ज़ उन फेफड़ों को कहते हैं जो पानी में से आवश्यक आक्सीजन प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वाक्य २, ३, ४ के अतिरिक्त शेष सब वाक्यों में विश्लेषणात्मकता भाषा भ की (तथा उसमें पूर्वकल्पित तर्क की) सापेक्ष है। जहां तक ३, ४ का सम्बन्ध है, ये वाक्य केवल आवृत्ति के कारण पुनरुक्ति व्यक्त करते हैं और इस प्रकार ये अर्थ की दृष्टि से रिक्त हैं। जहां तक वाक्य २ का प्रश्न है, इसकी विश्लेषणात्मकता सम्बन्ध वाचक पद 'पूर्व' की परिभाषा पर निर्भर करती है। सब संक्रमणात्मक सम्बन्धों के लिये यह कहा जा सकता है कि यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से संक्रमणात्मक सम्बन्ध स रखती है और यह दूसरी वस्तु किसी अन्य तीसरी वस्तु से यह सम्बन्ध रखती है तो प्रथम वस्तु का भी सम्बन्ध इस तृतीय वस्तु से सम्बन्ध स द्वारा व्यंजनीय होता है, और कोई भी वस्तु यह सम्बन्ध अपने आप से नहीं रख सकती, और न यह ही सम्भव है कि यदि प्रथम वस्तु द्वितीय से यह सम्बन्ध रखती है तो द्वितीय प्रथम से वही सम्बन्ध रख सके। इस परिभाषा के अनुसार—

१. यदि क ख से पूर्व है और ख ग के पूर्व है तो अनिवार्यतः क ग के पूर्व है।
२. यदि क ख से पूर्व है तो यह असम्भव है कि ख क से पूर्व हो।
३. यदि क ख से पूर्व है और ख ग के पूर्व है तो यह असम्भव है कि ग क से अभिन्न हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. कोई वस्तु अपने से पूर्व नहीं हो सकती।

इनमें से २ तथा ४ वास्तव में एक ही नियम का भिन्न प्रकार में कथन करते हैं, अतः इनमें ४ अनावश्यक है।

इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए यह देखा जा सकता है कि उपर्युक्त संक्रमणात्मक सम्बन्ध वाले वाक्य में 'पूर्व' के बजाय किसी भी अन्य संक्रमणात्मक सम्बन्ध का वाचक पद, तथा संज्ञा पदों के स्थान पर किसी भी अन्य संज्ञापद का स्थानान्तरण करने पर अनिवार्यतः सत्य वाक्य प्राप्त होगा। उदाहरणतः निम्न वाक्य लें—

१. राम श्याम से बड़ा है, श्याम मोहन से बड़ा है, अतः राम मोहन से बड़ा है।

२. राम श्याम से बलवत्तर है, श्याम मोहन से बलवत्तर है अतः राम मोहन से बलवत्तर है। आदि।

अब ऐसे वाक्यों को, जिनमें उचित पदों द्वारा स्थानान्तरण करने पर सत्य मूल्य में परिवर्तन नहीं आये, तर्कतः सत्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय है कि उनकी सत्यता का निर्धारण किन्हीं घटनाओं अथवा अर्थों के द्वारा नहीं प्रत्युत केवल रूप के द्वारा होता है। ऐसे वाक्य भी विश्लेषणात्मक हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वाधिकार से विश्लेषणात्मक वाक्य केवल ऐसे वाक्य हैं जो या तो एक ही पद को उद्देश्य और विधेय के रूप में प्रयुक्त करते हैं अथवा ऐसे वाक्य हैं जिनकी सत्यता उनके तार्किकरूप से निर्धारित होती है। किन्तु विश्लेषणात्मकता का औचित्य ऐसे वाक्यों से है जो इन दो प्रकारों से सत्य न हो कर समानार्थकता द्वारा सत्य हैं, और यहीं विश्लेषणात्मकता की स्थिति सब से अधिक डाँवाँडोल है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८

दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद

दर्शन क्या है? अथवा, दार्शनिक का क्या कर्त्तव्य है? प्रश्न ह्यूम के तत्वमीमांसा का प्रत्याख्यान करने के पश्चात् कुछ विवादास्पद हो गया और मूर तथा रसल के प्रादुर्भाव ने इस प्रश्न को दार्शनिक विचार का केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। किन्तु जबकि अनेक युगों से 'दर्शन' नाम के अन्तर्गत अनेक व्यापारों का समावेश होता आया है तब आज उनमें से, अथवा उनसे भिन्न, किसी एक व्यापार-प्रणाली को 'दर्शन' की उचित प्रणाली मानना केवल एक सुविधापेक्षी (आर्बिट्रेरी) निर्णय कहा जा सकता है। किन्तु यह सुविधापेक्षी निर्णय विकास की उस स्थिति में आवश्यक हो जाता है जबकि विभिन्न व्यापारों की सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। विज्ञान का दर्शन से पृथक् हो जाना दोनों के लिये लाभकर था क्योंकि दोनों की सीमाएं ऐतिहासिक प्रक्रिया में स्पष्ट हो जाने के पश्चात् इनका एक ही नाम के अन्तर्गत समावेश उनके विकास में बाधक होता। अब संक्रमण काल में यह विवाद, कि दर्शन किस प्रक्रिया को कहा जाय, केवल परस्पर निर्णय से ही निश्चित किया जा सकता था, यद्यपि स्पष्ट कारणों से, यह विवाद उत्पन्न ही नहीं हुआ। किन्तु वैज्ञानिक व्यापार के दर्शन की सीमा से मुक्त हो जाने के बावजूद अन्य अनेक व्यापार 'दर्शन' संज्ञा के अन्तर्गत अपने आपको ठूंसने का प्रयत्न करते रहे हैं। उदाहरणतः अरविन्द की आध्यात्मिक साधना के अनन्तर प्राप्त अनुभूति, रसल का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

विभिन्न अवधारणाओं के तार्किक संस्थान का विश्लेषण तथा अस्तित्ववादियों (एग्ज़िस्टेंशियलिस्ट्स) का मनुष्य की अचेतन प्रवृत्तियों में एक गुह्य वासना तथा उद्देश्य का आरोपण तीनों 'दर्शन' संज्ञा के अन्तर्गत रखे जाते हैं, किन्तु स्पष्टतः ये तीनों परस्पर उतने ही भिन्न हैं जितने विज्ञान और आध्यात्मिक साधना परस्पर भिन्न हैं।

कभी कभी यह कहा जाता है कि विज्ञान तथा दर्शन दोनों अन्तिम यथार्थ का (अथवा, यथार्थ का, ऐसा कहें) ज्ञान प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न साधन हैं। विज्ञान वाह्य इन्द्रियों तथा प्रयोग के द्वारा; तर्कशास्त्र विश्लेषणात्मक विचार के द्वारा और साधक आत्मिक अनुभव में प्रवेश करके प्रत्यक्ष "सम्पर्क" के द्वारा अन्तिम यथार्थ को जानना चाहते हैं (और साधक दावा करते हैं कि केवल वे ही यथार्थ को जान पाते हैं)। हमारे विचार में यथार्थ को जानने का यह दावा भ्रामक है, क्योंकि यह कभी नहीं कहा जा सकता कि यथार्थ क्या है, क्योंकि यथार्थ कोई एक वस्तु नहीं है, एक प्रकार की वस्तुओं का संघात भी नहीं है। उदाहरणतः जीवन यथार्थ है', 'मेरे मेज़ पर पड़ी पुस्तक यथार्थ है', 'परमाणु यथार्थ हैं', 'ब्रह्म यथार्थ है', 'केवल भौतिक वस्तुएं यथार्थ हैं' आदि वाक्यों में 'यथार्थ' एक ही अर्थ व्यक्त नहीं करता, कम से कम इनमें से किसी को भी अयथार्थ और दूसरे का यथार्थ सकता कहा जा है। कभी कभी तो एक की यथार्थता की वाधक समझी जाती है। इस प्रकार वास्तव में 'यथार्थ' पद किसी वास्तव गुण को व्यक्त नहीं करता जो विशेष्य में विद्यापन कहा जा सके, यह अवधारणा को व्यक्त करता है। यह वेदान्त के दृश्य भौतिक जगत् को माया कहने से स्पष्ट है। भूत वैज्ञानिक के अनुसार पदार्थ परमाणुओं के समवाय हैं, अतः दृश्य पदार्थ यथार्थ नहीं हैं, परमाणु यथार्थ हैं। इसी प्रकार, उसके अनुसार, रंग केवल किरणों के रेटिना को स्पर्श से उत्पन्न प्रतीतियां हैं अतः अयथार्थ हैं। अत्यन्त प्रदृश्यतावादी के अनुसार केवल उसके अनुभव यथार्थ हैं, आदि आदि। इस प्रकार, जिसे एक व्यक्ति यथार्थ कहता है दूसरा भ्रम या माया कह सकता है। इस प्रकार 'यथार्थ' पद स्वयं व्याख्येय है और यह कोई ऐसा गुण नहीं है जिस पर कोई अपना दावा कर सके

पुनः दर्शन का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना कहना भी कम भ्रामक नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान प्राप्त करना' दर्शन के सम्बन्ध में कुछ विलक्षण नहीं वताता। कम से कम, यह कथन वैद्यक अथवा कृषि विज्ञान के सम्बन्ध में उतना ही सत्य है जितना दर्शन के सम्बन्ध में। तब यह कहा जा सकता है कि दर्शन अमुक-अमुक वस्तु के लिये ज्ञान प्राप्ति है। इस प्रकार वैद्यक रोगों की चिकित्सा के साधनों का अनुसन्धान तथा कृषि-विज्ञान पौधे अधिक अच्छी प्रकार से उत्पन्न करने के साधनों आदि का ज्ञान है। विज्ञान, स्थूलरूप से, वस्तुओं अथवा घटनाओं के व्यवहार के नियमों की खोज अथवा ज्ञान प्राप्त करना है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद

अब दर्शन किसकी खोज अथवा ज्ञान प्राप्त करने को कहते हैं ?

अब जैसाकि हम जानते हैं, अरविन्द अन्तिम अस्तित्व के रूप के दर्शन को, उससे एकाकार होने को, दर्शन का उद्देश्य मानते हैं और रसल विज्ञानों की पूर्वमान्यताओं तथा अवधारणाओं की जांच तथा तार्किक विश्लेषण को दर्शन मानते हैं। अब तार्किक विश्लेषण जिस ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है वह ब्रह्म के साथ एकाकार होने के ज्ञान से उतना ही भिन्न है जितना यह वैद्यक सम्बन्धी ज्ञान से है। किन्तु फिर भी वैद्यक को कभी दर्शन नहीं कहा गया जबकि तार्किक विश्लेषण तथा ब्रह्म-ज्ञान दोनों को दर्शन कहा गहा है।

इन दो व्यापारों से भिन्न एक तीसरा व्यापार भी है जो 'दार्शनिक' संज्ञा के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है। इसे सामान्यरूप से तत्वमीमांसा, अतिभौतिकी अथवा सत्ताशास्त्र कहा जा सकता है। इनमें प्रथम नाम अधिक प्रचलित है, द्वितीय नाम इंगलिश के मैटाफिज़ीक्स का शब्दानुवाद है और तीसरा नाम इस व्यापार के उद्देश्य अथवा प्रेरणा का ध्यान रखते हुए अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है। यह प्रणाली किसी प्रकार से व्यक्तित्व के उदात्तीकरण, एकाकार होने अथवा किसी अन्तर्निहित यथार्थ से साक्षात्कार का दावा नहीं करती। यह केवल बौद्धिक स्तर तक अपना क्षेत्र सीमित रखती है। यह तार्किक विश्लेषण से इस बात में भिन्न कही जा सकती है कि यह ऐसी प्रतिज्ञाओं का प्रतिपादन करती है जो न विशुद्ध तर्क की सीमा के अन्तर्गत आती हैं और न प्रमाणीय हैं। इस प्रकार वास्तव में दोनों प्रणालियां तार्किक और विश्लेषणात्मक हैं, भेद एक तो इस बात में है कि एक केवल दो प्रकार की वाक्यीय प्रतिज्ञाओं को ही सार्थक स्वीकार करती है और दूसरी प्रणाली ऐसी प्रज्ञिाओं को भो उचित और सार्थक प्रतिज्ञाएं स्वीकार करती है जो इन दो श्रेणिओं के अन्तर्गत नहीं आतीं। दूसरा अन्तर इनकी अस्तित्वमीमांसा में है। उदाहरणतः "ईश्वर निर्गुण तथा संसार का आदि कारण है', 'प्रकृति चेतन सत्ता का विकार है', 'काल अयथार्थ है', 'विशेष रक्त रक्तता (सामान्य) की अभिव्यक्ति है' आदि प्रतिज्ञाएं न तो विश्लेषणात्मक हैं और न आनुभविक। अतः ये दार्शनिक विश्लेषक के अनुसार निरर्थक या थोथी हैं। इसीलिये इनमें पूर्वकल्पित अस्तित्वमीमांसा भी उसे अस्वीकार्य है। इस प्रणाली को सत्ता शास्त्र नाम देना इसलिये उचित है क्योंकि यह उन सब का अस्तित्व स्वीकार करती है जिसके लिये कोई शब्द हो सकता है।

दर्शन की प्रणाली तार्किक विश्लेषण है, जिसे कभी कभी भाषा-विश्लेषण भी कह दिया जाता है। दर्शन को भाषा विश्लेषण कहने का आग्रह मुख्यतः भाववादियों ने किया, यद्यपि इसे अधिक सार्थक विटगिंस्टाइन सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बनाया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विटगिंस्टाइन या उसके अनुयायी दार्शनिक समस्याओं को भाषा की समस्याएं, अथवा भाषा के सम्बन्ध में समस्याएं, स्वीकार करते हैं। दार्शनिक समस्याएं वास्तव में हमारे ज्ञान, हमारी अवधारणाओं आदि सम्बन्धी समस्याएं ही हैं, किन्तु विटगिंस्टाइनियन (अथवा आक्सफर्ड) सम्प्रदाय के दार्शनिकों के अनुसार, ये हमारे भाषा के स्वभाव को ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। भाववादी दार्शनिकों का भाषा विश्लेषण एक निजीरूप से निर्धारित ढांचे में था; उन्होंने अपने उद्देश्य के उपयुक्त संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि कुछ वर्गणाओं को पुनः परिभाषित कर उनमें हमारी विभिन्न अवधारणाओं को भरने का प्रयत्न किया, किन्तु आक्सफर्ड सम्प्रदाय के विश्लेषकों के अनुसार यह पद्धति भ्रामक है और हमारे विचार के प्रगतिशील रूप को पंगु बनाती है। विटगिंस्टाइन के अनुसार, किसी अवधारणा को समझना हो तो उसके व्यंजक पद का सामान्य भाषा में प्रयोग देखो किस प्रकार होता है। उदाहरणतः 'यथार्थ' पद ही लें। यह एक विशेषण है, जिस प्रकार 'रक्त' एक विशेषण है। अब मूर ने समझा कि क्योंकि यह पद एक विशेषण है अतः इससे विशेषित वस्तुओं में कुछ सामान्य विशेषता होनी चाहिये। किन्तु 'यथार्थ चित्रण' तथा 'यथार्थ अनुभव' इन दो प्रयोगों में 'यथार्थ' पद एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।[1] इतना ही नहीं, सभी विशेषण आवश्यकरूप से एक ही प्रकार से विशेषता भी नहीं करते, उदाहरणतः 'रक्त वस्तु,' 'यथार्थ वस्तु', 'सुन्दर वस्तु' इनमें 'रक्त', 'यथार्थ' और 'सुन्दर' व्याकरणानुसार एक ही प्रकार के विशेषण हैं, किन्तु वास्तव में किसी भी प्रकार ये समानरूप से विशेषता नहीं करते (जैसाकि हम आगे 'यथार्थ' के विश्लेषण में देखेंगे)।

अब हम इनमें अन्तर किस प्रकार देख पाते हैं? आक्सफर्ड सम्प्रदाय के अनुसार, इसका एक उपाय तो यह है कि हम ध्यानावस्थित हो कर विचार करें कि 'रक्त' और यथार्थ' पद किस प्रकार के विशेषण हैं (जोकि सदैव भ्रामक है), और दूसरा उपाय यह है कि हम भाषा में इनके व्यवहार को देखें। तब हम देख पायेंगे कि किस प्रकार कोई पद किन्हीं अवधारणाओं को व्यक्त करता है। यदि हम किसी पद को उसके विभिन्न व्यापारों में नहीं देखते तो हमारा किसी चित्र से भ्रमित हो जाना सहज हो जायगा। 'यथार्थ' अथवा 'सुन्दर' अथवा 'शिव' के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न कि इन से विशेषित वस्तुएं किस गुण में समान हैं, इसी प्रकार से चित्र-मोह के प्रमाण हैं।

भाषा-विश्लेषण की इस प्रणाली का अतिवादी रूप हम जेन आस्टिन में पाते हैं, जो दार्शनिक का प्रथम, और शायद एक मात्र, कार्य किसी पद के विभिन्न प्रयोगों को

1. English Philosophy Since 1900 P.P, 82

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देखना समझते हैं[२]। यह प्रणाली अपने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूप में प्रो० राइल की कांसेप्ट आफ माइंड पुस्तक में प्रयुक्त हुई है।

किन्तु हमारे विचार में दार्शनिक विश्लेषण की यह पद्धति दोषपूर्ण है। हम किसी अवधारणा को उसके व्यंजक पद के विभिन्न प्रयोगों में नहीं देख सकते। यह संभव है कि कोई पद विभिन्न प्रयोगों में विभिन्न अवधारणाएं व्यक्त करता हो, किन्तु इससे हम उस अवधारणा को कैसे समझ सकते हैं जिस पर हम विचार करना चाहते हैं? 'यथार्थ' पद को ही लें। 'अमुक चित्र यथार्थ है' तथा 'केवल भौतिक विषय यथार्थ हैं' में 'यथार्थ' पद दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इसी कारण से दार्शनिक के लिये 'यथार्थ' पद के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि दार्शनिक के लिये 'यथार्थ' पद केवल दूसरे प्रकार के प्रयोगों में ही आवश्यक है। अब यदि कोई प्रश्न करता है—'क्या काल यथार्थ है?' तब उसका 'यथार्थ' पद का प्रयोग 'क्या भौतिक विषय यथार्थ हैं' वाक्य में 'यथार्थ' पद के प्रयोग से भिन्न नहीं है। 'यथार्थ' पद किसी गुण का वाचक है या नहीं, इसका निर्णय इस पद के भाषा में विभिन्न व्यापारों से नहीं किया जा सकता और न 'काल यथार्थ है या नहीं' इस का निर्णय इस पद के विभिन्न प्रयोगों के ज्ञान से हो सकता है, क्योंकि यह जबकि एक प्रयोग में किसी गुण का वाचक हो सकता है, अन्य में यह नहीं भी हो सकता। उदाहरणतः 'अमुक वर्णन यथार्थ है' में यह वर्णन की एक निश्चित विशेषता—"वर्ण्य के अनुरूप होने की विशेषता" अथवा "परिस्थितियों का उचित वर्णन होने की विशेषता" का वाचक है। किन्तु इससे इस पद के दूसरे प्रकार के वाक्यों में प्रयोग पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसी प्रकार, किसी व्यक्ति अथवा वर्णन को सत्य कहने में जो इनके प्रति सम्मान का भाव है वह सत्य के उस अर्थ से क्या सम्बन्ध रखता है जिस पर दार्शनिक विचार करते हैं? और फिर भी प्रो० राईल तथा अन्य अनेक अनुयायी दार्शनिकों ने "सत्य" के प्रसंग में इसके प्रयोग के साथ जुड़े सम्मान भाव की चर्चा की हैं। भाषा विश्लेषण का यह रूप दार्शनिक विचार में सहायक नहीं है। किसी अवधारणा पर विचार आरम्भ करते समय हमें उसके व्यंजक पद के अर्थ के सम्बन्ध में उनके साथ सहमत होने की आवयश्कता है जिनको हम श्रोता समझते हैं, और यह इस प्रकार से भी हो सकता है कि आप बता दें कि आप अमुक अर्थ में अमुक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इसके पश्चात् दार्शनिक विचार आरम्भ होता है। दार्शनिक विचार उस पद द्वारा व्यक्त अवधारणा को सम्पूर्ण अवधारणात्मक योजना में रख कर उससे इसकी संगति तथा स्वयं उस अवधारणा के तार्किक रूप का विवेचन करता है। अब

2. A Plea for Excuses (Proceedings of Aristotalian Society, 1956–57.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

यह प्रश्न करने पर कि 'क्या क्या काल यथार्थ है ?' हम प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि "तुम्हारा 'काल' तथा 'यथार्थ' से क्या अभिप्राय है ?" उस सम्बन्ध में स्पष्ट हो लेने पर इस निर्णय पर पहुँचने में हमें बहुत लम्बा रास्ता तय नहीं करना पड़ता कि "काल यथार्थ है या नहीं ?"

किन्तु दर्शन में वास्तव में सब समस्यायें इतनी सरल भी नहीं हैं जितनी उपर्युक्त समस्या है। वे इस प्रकार से भाषा से कोई सीधा और सरल सम्बन्ध नहीं रखती प्रतीत होतीं। उदाहरणतः वेदान्तियों का यह विचार कि "इन्द्रिय-विषय संसार भ्रम है, अथवा माया है" न अपनी उत्पत्ति में भाषीय है और न इसका समाधान 'संसार' तथा 'भ्रम' के विभिन्न प्रयोगों के निरीक्षण से हो सकता है। वर्कले का भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व का निषेध, सांख्य की पुरुष और प्रकृति की कल्पना आदि आदि अनेक इस प्रकार के प्रश्न हैं जिनका सुलझाव विटगिंस्टाइन, अथवा उससे भी अधिक आस्टिन-राइल के ढंग से नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से, हमारे विचार में, भाववादियों की प्रविधि संकुचितता और डोग्मेटिस्म के वावजूद, अधिक उपयोगी है। इन्होंने एक ओर तर्कशास्त्र को अधिक सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित किया और दूसरी ओर एक दार्शनिक व्याकरण की रचना की जिससे दार्शनिक प्रश्नों को अधिक सहज रूप से विचारणीय तथा सहज साध्य बनाया जा सका। किन्तु इनका यह दार्शनिक व्याकरण हमें अवधारणाओं से दूर नहीं ले जाता, हम इसमें अनिवार्यतः अवधारणाओं के सम्बन्ध में ही विचार करते हैं। ये दार्शनिक केवल उस भाषा को, जिसमें हम दार्शनिक चर्चा करते हैं, इतना नियन्त्रित और वर्गीकृत कर देते हैं कि इससे बहुत सी भूलों को अवसर नहीं रहता।

भाववाद तथा आक्सफोर्डियन भाषा विश्लेषण में एक समता भी है जो इन्हें तत्व-मीमांसकों की प्रणालियों से पृथक् करती है। वह यह कि ये दोनों प्रणालियां वस्तुओं और तत्वों की चर्चा करने के वजाय अवधारणाओं की चर्चा करती हैं। इस प्रकार ये दोनों प्रणालियां तत्वमीमांसा विरोधी हैं। उदाहरणतः ये ऐसे प्रश्नों को उचित प्रश्न नहीं मानतीं, जैसे "विश्व का आधारभूत पदार्थ (स्टफ) जड़ है या चेतन है ?" अथवा "ईश्वर संसार का निमित्त कारण है या उपादान कारण ?' 'यथार्थ को हम प्रतिभान से ठीक जान सकते हैं या तर्क से ?" इसका अर्थ यह नहीं कि दार्शनिक विश्लेषक इन प्रश्नों पर विचार अविहित मानता है, प्रत्युत यह कि वह इनको या तो अन्ततः भ्रान्त प्रश्न दिखाता है अथवा प्रयोजन-रहित पुनरुक्तियां दिखाता है।

तत्वमीमांसक प्रायः तीन प्रकार से भ्रमित होते हैं। (१) वे या तो किसी वाह्य उद्देश्य से अभिभत हो कर उसकी सिद्धि के लिये एक सार्वभौम प्रागनुभविक सिद्धान्त की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थापना में प्रवृत्त होते हैं, जैसे वर्कले आध्यात्मिक तथा धार्मिक धारणाओं की रक्षा के उद्देश्य से, शंकर ब्राह्मण धर्म की रक्षा से तथा मोक्ष की कल्पना से, अभिभूत थे। अथवा (२) वह किसी चित्र-मोह से अभिभूत होता है, जैसे वर्गसां प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) के आश्चर्य-जनकरूप से उपयोगी, अस्खलनात्मक, स्वाभाविक सहज-बोध के कुछ उदाहरणों से अभिभूत थे।[३] अथवा (३) वे किसी मूल तत्व, अथवा प्रथम सिद्धान्त (फर्स्ट प्रिंसिपल) के होने का दावा करते हैं, जिससे शेष सब कुछ प्रागनुभविक तर्क द्वारा निगमित किया जा सकता है। दार्शनिक विश्लेषक इन भूलों से बचने के लिये एक ऐसी विश्लेषण प्रणाली को अपनाता है जो कम महत्वाकांक्षापूर्ण, क्रमिक तथा ज्ञानमीमांसात्मक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तत्वमीमांसकों के प्रश्न केवल भ्रम हैं। वास्तव में उनका जन्म भी जिज्ञासा तथा अन्तर्दृष्टि से ही होता है, किन्तु अवधारणाओं को ठीक न समझ सकने से, या चित्र-मोह से, अथवा किसी पूर्वाग्रह से उनका भ्रान्त हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

जेम्ज़ ने एक तत्वमीमांसात्मक प्रश्न का बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है और उसके सुलझाव की दिशा की ओर संकेत किया है। वास्तव में यह प्रश्न सामान्यरूप से सभी दर्शन-प्रणालियों के प्रश्नों का उदाहरण भी कहा जा सकता है, किन्तु उसका उत्तर आधुनिक विश्लेषण प्रणाली की ही विशेषता है। उनके अनुसार, कुछ वर्ष पूर्व वे एक पर्वत यात्रा से लौटे तो उन्होंने दार्शनिकों को एक भयानक तत्वमीमांसात्मक विवाद में उलझे पाया। "विवाद का विषय एक गुलहरी थी—एक जीवित गुलहरी, जोकि एक वृक्ष के तने के एक ओर लटकती कल्पित की गयीः जबकि तने के दूसरी ओर एक मनुष्य खड़ा कल्पित किया गया। यह मानवीय द्रष्टा गुलहरी को देखने के लिये वृक्ष के चारों ओर चक्कर में दौड़ता है, किन्तु चाहे कितनी ही तेज़ी से वह दौड़ता है गुलहरी उतनी ही तेज़ी से विरुद्ध दिशा में दौड़ती है जिससे उस मनुष्य की आंखों तथा गुलहरी के बीच सदा वृक्ष का तना रहता है, और इस प्रकार वह मनुष्य उसे देख नहीं पाता। अब परिणामतः तत्वमीमांसा की समस्या यह है कि क्या मनुष्य गुलहरी का चक्कर लगाता है या नहीं? वह वृक्ष का चक्कर लगाता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु क्या वह गुलहरी का चक्कर लगाता है?" अब जेम्ज़ से भी यह प्रश्न किया गया—कौन सा पक्ष ठीक है? उन्होंने उत्तर दिया "यह इस पर निर्भर करता है कि आप 'गुलहरी का चक्कर लगाने' से व्यवहार्यतः क्या अर्थ समझते हैं। यदि इससे आप यह समझते हैं कि मनुष्य का गुलहरी के उत्तर दिशा से पूर्व दिशा की ओर जाना, तब दक्षिण की ओर, फिर पश्चिम की ओर तब पुनः उत्तर की ओर, तब मनुष्य उसका चक्कर लगाता है, क्योंकि वह

3. Bergson—Creative Evolution.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन स्थितियों में अनुक्रम में होता है। किन्तु यदि इससे आपका अभिप्राय है पहले उसके सम्मुख होना, फिर उसके दायें होना, फिर पीछे होना, फिर बायें होना, फिर सामने होना तो यह पुनः स्पष्ट है कि वह उसका चक्कर नहीं लगाता. क्योंकि गुलहरी जिस प्रकार सापेक्षता में चलती है उससे उसका पेट सदैव मनुष्य की ओर रहता है और पीठ उसके दूसरी ओर रहती है।"४

यहां 'व्यवहार्यतः' का प्रयोग अनावश्यक है, जो केवल इस उत्तर को प्रैग्मेटिस्टिक बनाने के लिये किया गया है, किन्तु यह प्रश्न तथा इसका उत्तर दार्शनिक प्रश्नों की उलझन तथा उनके सुलझाव की दिशा की ओर समुचितरूप से संकेत करते हैं। इसी को विटगिंस्टाइन "मक्खी को बोतल के बाहर रास्ता दिखाना" कहते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि दार्शनिक विश्लेषक प्रश्न नहीं करता और वह केवल भ्रान्तियों का निराकरण करता है। दार्शनिक विश्लेषकों में स्वयं गम्भीर मतभेद हैं और इनपर सहमति की शायद कोई सम्भावना भी नहीं है। उदाहरणतः पिछले निबन्धों में विचारित प्रश्न देखे जा सकते हैं। सम्भवतः यह स्थिति इस रूप में स्वीकार की जानी चाहियें कि एक ही प्रश्न के अनेक अवधारणात्मक संस्थानों के अनुसार समानरूप से ठीक अनेक उत्तर हो सकते हैं।

किन्तु तत्वमीमांसा तथा दार्शनिक विश्लेषण के क्षेत्र उस प्रकार से भिन्न नहीं हैं जिस प्रकार से विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र भिन्न हैं। विज्ञान की प्रविधि परीक्षणात्मक-आभ्युपगमिक (हाइपोथेटिकोओब्ज़र्वेशनल) कही जा सकती है जबकि दार्शनिक विश्लेषण में अभ्युपगम तथा परीक्षण को कोई स्थान नहीं है, प्रत्युत ये स्वयं वहां परीक्ष्य ('तार्किक रूप से विवेच्य' के अर्थ में) होते हैं। विज्ञान का दर्शन भी हो सकता है, किन्तु वह दर्शन केवल इस अर्थ में है कि वह स्थापित वैज्ञानिक अवधारणाओं के सम्बन्ध में उस प्रकार से प्रश्न करता है जिस प्रकार से दर्शन अन्य क्षेत्रों की अवधारणाओं के सम्बन्ध में चर्चा करता है। वह वैज्ञानिक केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वह अपने समय के वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के परिणामों को आधारभूत तथ्य मानता है। उदाहरणतः "लम्बाई की अवधारणा क्या है?" अथवा "क्या ज्यामितिक विन्दु विस्तार-रहित स्वीकार किया जाना चाहिये?" प्रश्न वैज्ञानिक प्रश्न कहे जा सकते हैं जबकि इनका उत्तर वैज्ञानिक अवधारणात्मक संस्थान का ध्यान रखते हुए किया जाता है। किन्तु बर्कले का यह प्रश्न कि "क्या भौतिक विषय यथार्थ हैं?" वैज्ञानिक प्रश्न नहीं हैं, ये विशुद्धरूप से दार्शनिक प्रश्न हैं, क्योंकि इनका उत्तर वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा अवधारणाओं की अपेक्षा नहीं करता। दूसरा प्रश्न मनोविज्ञान की सीमा से उतना ही बाहर है जितना

4. William James–Pragmatism, PP. 43-44.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथम भूतविज्ञान की सीमा से। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि ये प्रश्न हमारी भाषा–के सम्वन्ध में हैं, इस प्रकार, वर्कले का प्रश्न उचित रूप से इस प्रकार होना चाहिये "जिस प्रकार हम 'भौतिक विषय' पद का प्रयोग करते हैं क्या उस प्रकार से प्रयुक्त होने पर यह वाक्य किन्हीं अन्य वाक्यों में विश्लेष्य है ?" किन्तु यह स्थापना कुछ भ्रामक धारणाओं को जन्म दे सकती है। इस पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि "क्या आपका 'प्रयोग' से अभिप्राय, सामान्य लोग जिस प्रकार इसका प्रयोग करते हैं, उससे है या कि जिस प्रकार उचितरूप से इसका प्रयोग होना चाहिये, उससे है ?" (किन्तु यहां इस प्रश्न पर विचार अभी स्थगित किया जाता है)।

किन्तु तत्वमीमांसक जवकि सत्ता और ज्ञानातीत की चर्चा करता है, वह उस तार्किक प्रणाली का भी सहारा लेता है जिसका उपयोग दार्शनिक विश्लेषण करता है, यह वात दूसरी है कि वह अवधारणाओं को घपला देता है तथा उसका प्रस्थान–विन्दु पूर्वाग्रहग्रस्त है। उदाहरणतः वह उद्देश्य, विधेय, निर्णय, प्रतिज्ञा, अनुमान, संगति, विघात, परिणाम आदि तार्किक वर्गणाओं का उपयोग करता है। तत्वमीमांसा तथा दार्शनिक विश्लेषण में इतना ही सम्वन्ध नहीं है,वास्तव में दोनों का क्षेत्र, उद्देश्य, सीमायें एक ही हैं, एक ही प्रविधि है, केवल तत्वमीमांसक इनके सम्वन्ध में स्पष्ट नहीं है। यद्यपि प्रथमतः इन दो प्रणालियों की प्रविधियों में भेद प्रतीत होता है किन्तु यह भेद केवल ऊपरी है,क्योंकि यदि प्रविधि का भेद मौलिक होता तो इनकी परस्पर युयुत्सुता का कोई औचित्य न होता। यह भेद इस कारण है क्योंकि सत्ताशास्त्री तार्किक विश्लेषण की गरिमाहीन प्रक्रिया को पसन्द नहीं करता, चाहे वह उसे स्वीकार करने को वाध्य है। वह कुछ गम्भीर और महत्वपूर्ण समस्याओं में उलझना चाहता है। इस प्रकार वह तार्किक विश्लेषण की प्रविधि को गरिमा-हीनता के प्रति आकर्षण से घपला देता है। इसीलिये एक की प्रतिज्ञाएं दूसरे की प्रतिज्ञाओं की विरोधी हैं। यहां उदाहरण के रूप में "मन तथा शरीर के परस्पर सम्वन्ध" की समस्या को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह तो हम सव जानते ही हैं कि हम जव इच्छा करते हैं तव शरीर भी उसके अनुसार व्यापारित होता है और जब हमारे चोट लगती है तो हमें पीड़ा का अनुभव होता है। अव इससे तत्वमीमांसक की उलझन उत्पन्न होती है कि मन, जोकि अभौतिक है (अतएव जो धकेल आदि से विरहित है) किस प्रकार शरीर को प्रचालित करता है ? अव यह उलझन दार्शनिक उलझन है, क्योंकि इसका उत्तर विज्ञान, जोकि अपने आपको केवल घटनाओं के ससम्वन्धों तक सीमित रखता है, नहीं दे सकता। दार्शनिक प्रश्न स्वयं इन सम्वन्धों के सम्वन्ध में है।

अव तत्वमीमांसक इस पहेली से निकलने में असमर्थ है, क्योंकि वह 'मन' तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'शरीर' की अवधारणाओं में झांकने का प्रयत्न नहीं करता। वह समझता है कि या तो मन का अस्तित्व नहीं है, या शरीर का अस्तित्व नहीं है, अथवा कोई अन्य (ईश्वर) दोनों को एक साथ व्यापारित करता है, आदि। इन सुलझावों की दो स्पष्ट विशेषताएं हैं: न तो हम इन्हें आनुभविकरूप से सम्भव–असम्भव दिखा सकते हैं और न तार्किक–रूप से युक्त–अयुक्त दिखा सकते हैं। दूसरी विशेषता इनके असाधारण होने में है। आप केवल चकित हो सकते हैं कि यह भी उत्तर हो सकता था। किन्तु दार्शनिक विश्लेषक इस समस्या पर इस प्रकार विचार आरम्भ करेगा " 'मन' पद से क्या अभिप्राय है?" " 'पदार्थ' से क्या अभिप्राय है?" और अन्त में उसका या तो सुझाव होगा कि मानसिकता की अवधारणा उचितरूप से भौतिक अवधारणाओं की भाषा में विघटनीय है, अतः मानसिकता की पृथक् चर्चा दार्शनिकरूप से अनावश्यक है, अथवा उसका उत्तर होगा, जैसाकि हमारा उत्तर है, कि कुछ घटनाएं उचितरूप से मानसिक वाक्यों में व्यंजनीय हैं, व्यवहार–वाक्यों में विघटनीय नहीं हैं। जहां तक परस्पर व्यापारित करने का सम्बन्ध है, इसके सम्बन्ध में द्वैत भाषावादी "व्यापारित" की अवधारणा की जांच करेगा और दिखायेगा कि इसका मानसिक तथा भौतिक अवधारणाओं के तर्क–संस्थान में क्या स्थान है। दार्शनिक विश्लेषक क्योंकि अस्तित्व के प्रश्न के सम्बन्ध में सावधान है, और अधिकांशतः वह अपने तर्क संस्थान को इस प्रकार तनता है कि अस्तित्व का प्रश्न उसमें प्रासंगिक नहीं रहे, अतः वह मन–रूप किसी तत्व की तथा भत–रूप किसी तत्व की कल्पना में भ्रमित नहीं होता।

यहां एक महत्वपूर्ण बात का ध्यान रखना आवश्यक है: वह यह कि दार्शनिक समस्याएं केवल तर्क से नहीं सुलझाई जा सकतीं, यद्यपि तर्क इनमें बहुत महत्वपूर्ण रहता है। इनके सुलझाव में अन्तर्दृष्टि, अथवा कहें, प्रज्ञा—विवेक तथा तथ्य के प्रति अविचल आग्रह, ये आवश्यक शर्त हैं।

उदाहरण के लिये 'मानसिक' तथा 'भौतिक' की अवधारणाओं को ही पुनः लें। अब दार्शनिक विश्लेषकों में ही परस्पर मतभेद है कि क्या तथाकथित मानसिक घटनाओं के लिये पृथक् अवधारणा की आवश्यकता है? अधिकांश दार्शनिक विश्लेषक व्यवहार–वादी हैं और इस प्रकार मानसिकता की पृथक् वर्गणा को अनावश्यक मानते हैं, जबकि कुछ अन्य द्वैतवादी हैं।[५] अब इनमें निर्णय कैसे किया जा सकता है? तर्क से? एक सीमा तक इसका उत्तर हो सकता है, हां, किन्तु केवल एक सीमा तक, वितर्क केवल संस्थान में आन्तरिक संगति की अपेक्षा करता है। अतः अन्त में आपको कहना होगा कि "यह देखें, स्पष्ट तो है?"

५. द्रष्टव्य पीछे अध्याय ४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद

दूसरा उदाहरण सम्बन्धों की यथार्थता के निषेध का दिया जा सकता है। रसल ने ब्रैडले की एतत्सम्बन्धी युक्तियों का खण्डन करने का प्रयत्न किया है[५]। किन्तु वह खण्डन किस प्रकार का है? रसल ब्रैडले के विशुद्ध तर्कप्रतिष्ठि सम्बन्धों के निषेध के प्रतिपादन के विरुद्ध कहते हैं "दर्शन में तर्कशास्त्र का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु मेरे विचार में इसका कार्य वह नहीं है जो पूर्व परम्परा में इससे लिया गया है। उस परम्परा में तर्क निषेध के द्वारा ही सृजनात्मक बनता है। जहां विभिन्न समानरूप से उचित पथ उपलब्ध हो सकते हैं वहां तर्क के द्वारा एक के अतिरिक्त शेष का निषेध कर दिया जाता है और इस एक को वास्तव विश्व में चरितार्थ घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार विश्व का निर्माण तर्क के द्वारा किया जाता है और अनुभव को कोई स्थान नहीं दिया जाता। मेरे विचार में तर्क का कार्य सर्वथा इसके विपरीत है।[६] ब्रैडले के विरुद्ध तर्क यह किया जा सकता है कि सम्बन्धों का हम अनुभव करते हैं, "मैं देखता हूं कि अ आ के दायें है, और इस अ के आ के दायीं ओर होने के सम्बन्ध को मैं उतना ही देखता हूं जितना अ तथा आ को देखता हूं। अतः सम्बन्धों का निषेध नहीं किया जा सकता।" किन्तु ठीक यहीं से आगे ब्रैडले आरम्भ करता है "सम्बन्ध केवल प्रतीतियां हैं, यथार्थ नहीं।" इस तरह से ब्रैडले के लिये यह कथन कोई महत्व नहीं रखता कि "हमारा यह अनुभव है" अथवा "हम यह देख रहे हैं", क्योंकि ठीक इसी अनुभव की यथार्थता पर यहां सन्देह प्रकट किया जा रहा है।

यहां एक और उदाहरण देना अनुचित न होगा। मीनांग के अनुसार " 'स्वर्ण-पर्वत का अस्तित्व नहीं है' सत्य वाक्य है"। अब यदि यह वाक्य सत्य है तो स्वर्ण पर्वत का अस्तित्व है, क्योंकि उसके अनुसार, किसी निरूपणात्मक सत्य वाक्य के उद्देश्य पद से अस्तित्व का तब तक निषेध नहीं किया सकता जबतक कि उसका अस्तित्व न हो। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण पर्वत के अस्तित्व का निषेध तबतक सम्भव नहीं है जबतक स्वर्ण पर्वत हो नहीं। अतः 'यदि स्वर्ण पर्वत नहीं हैं' सत्य है तो स्वर्ण पर्वत है और यदि असत्य है तो स्वर्ण पर्वत नहीं है। इस प्रकार यह एक विचित्र पहेली है। किन्तु यह पहेली उत्पन्न क्यों होती है? यह तो हम जानते ही हैं, और मीनांग भी जानता था, कि यदि कोई स्वर्ण-पर्वत के अस्तित्व का निषेध करता है तो उससे वास्तव में उसके अस्तित्व का विधान नहीं होना चाहिये (अथवा अधिक ठीक शब्दों में, जबकि हम किसी अस्तित्व का निषेध करते हैं तो यह निषेध उसके अस्तित्व के होने को लागू नहीं करता (यद्यपि प्रतीयमानरूप से, मीनांग कालीन तर्कशास्त्र की स्थिति के अनुसार, यह ऐसा विधान करता

5. Our Knowledge of the External world, PP. 18-19.

६. वहीं, पृ० १८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है)। तब फिर यह पहेली उत्पन्न कैसे होती है ? स्पष्टतः यह पहेली व्याकरणात्मक है, तथ्यात्मक-परीक्षणात्मक पहेली नहीं है। इन पहेलियों की विशेषता यह है कि इनके समाधान के लिये हमें तथ्यात्मक जानकारी की आवश्यकता नहीं होती, इसमें इस या उस ओर प्रमाणित भी कुछ नहीं किया जा सकता, जबतक कि आप देखने को तैयार न हों। इन विवादों में हम प्रतिपक्षी को निरूपणों तथा सुझावों द्वारा प्रेरित करते हैं कि "हम देख रहे हैं कि सम्बन्ध हैं", "यह स्पष्ट है कि यदि स्वर्ण-पर्वत नहीं है तो वह नहीं है तथा यदि हम स्वर्ण पर्वत के होने का निषेध करते हैं तो उसके होने का विधान नहीं करते", अतः ऐसा होते दिखा देना जैसे "सम्बन्ध वास्तव में नहीं है" तथा "अनस्तित्वमान स्वर्ण पर्वत वास्तव में अस्तित्वमान है" केवल टैक्नीकैलिटी है और टैक्नीकैलिटी का उचित उपयोग उसे अधिक अच्छी तरह से समझने में है जिसे हम कम अच्छी तरह से समझ रहे हैं, न कि आश्चर्यवृत्ति से परिचालित होने में है। यही अपील रसल के इस कथन में है कि "हमें अनुभव तथा तथ्य में अविचल विश्वास के साथ तार्किक विश्लेषण में प्रवृत्त होना चाहिये"[7]। और यह कहा जा सकता है कि यह अपील हमारी न्याय-बुद्धि से की गयी है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अनुभव को प्रवंचना कहना चाहता है और विशुद्ध तर्क को आधार बनाता है तो उसे किसी प्रकार से रोका नहीं जा सकता और न किसी प्रकार से अखण्डनीय तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि उसकी स्थिति ग़लत है, केवल यह कहा जा सकता है कि वह वास्तविकता को देखने से इन्कार करता है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम दार्शनिक विवेचनों में किसी परिणाम पर तथा किसी प्रकार की सहमति पर पहुँच ही नहीं सकते। सर्व-प्रथम, हमारे विचार की यह प्रकृति है कि यह कुछ निश्चित संस्थानों में व्यापारित होता है, प्रत्येक विचार किसी निश्चित संस्थान का भाग होकर ही सार्थक हो सकता है और इस संस्थान से यह अपनी शक्ति तथा प्रभाव क्षेत्र प्राप्त करता है। यदि हम एक बार कुछ विधान करते हैं तो हम उसके साथ अनेकानेक अन्य विधानों तथा निषेधों की परम्परा को लागू करते हैं। उदाहरणतः, यदि मैं कहता हूँ कि 'जैसा भाग्य में बदा है वैसा ही होता है' तब मैं यह नहीं कह सकता कि 'मैं शाम को पांच बजे सैर को जाऊँगा'। यदि कोई यह कहे कि 'मैं जानता हूँ कि मेरे भाग्य में यह बदा है कि शाम को ५ बजे सैर को जाऊंगा तो भी यह विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि उसका ऐसा कहने के समय का विश्वास भी उसके भाग्य में बदा होगा। इस प्रकार प्रत्येक तर्क एक संस्थान का अंग है यद्यपि हम उसके सम्पूर्ण संबन्धों और प्रभाव क्षेत्र को नहीं जानते होते। अब

7. An Introduction to Mathematical Philosophy, P.P. 169.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक दार्शनिक खोज इन सम्बन्धों की खोज में तथा स्वयं मूल अवधारणा को समझने में निहित है और हम इस खोज के द्वारा किसी परिणाम पर पहुँचते हैं। यहां स्पष्टीकरण के लिये एक और उदाहरण देना उपयोगी होगाः हेगल ने एक पहेली प्रस्तुत की है। उसने कहा, प्रत्येक निर्णय का रूप 'उ वि है' है, जहां 'उ' उद्देश्य तथा 'वि' विधेय का वाचक है। अब यदि कोई निर्णय सत्य है तो 'वि' 'उ' से अभिन्न है और इस प्रकार निर्णय पुनरुक्ति मात्र हो जाता है; और यदि निर्णय पुनरुक्ति मात्र नहीं है तो 'वि' 'उ' से भिन्न होना चाहिए; किन्तु तब निर्णय असत्य होगा, अथवा कहें, अन्तर्विरोधपूर्ण होगा। अतः प्रत्येक निर्णय या तो पुनरुक्ति है अथवा अन्तर्विरोधपूर्ण है। किन्तु जैसाकि आधुनिक तर्कशास्त्र द्वारा स्पष्ट हो चुका है, यह तर्क भ्रामक है। जबकि 'नेहरू विजयलक्ष्मी का भाई है' वाक्य उपर्युक्त प्रकार का है 'नेहरू प्रधान मंत्री है' उपर्युक्त प्रकार का नहीं है, क्योंकि इसमें 'नेहरू' तथा 'प्रधान मंत्री' का 'है' द्वारा सम्बन्ध अभेद का नहीं वर्ग-समावेश (क्लास इन्क्लूयन) का है। वास्तव में प्रथम वाक्य में भी, जहां 'नेहरू' तथा 'विजयलक्ष्मी का भाई' पद एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं, यह निर्णय पुनरुक्ति मात्र नहीं है, क्योंकि 'नेहरू' तथा 'विजयलक्ष्मी का भाई' के अर्थ सर्वथा भिन्न हैं। यह फ्रेज के 'भाव तथा निर्देश' (Sence and Denotation) में भेद से स्पष्ट है। इस भेद-प्रदर्शन के लिए उसके 'भोर का तारा' तथा 'संध्या का तारा' उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इन दोनों का निर्देश जबकि एक ही है, इन का भाव (अर्थ) सर्वथा भिन्न है और इस प्रकार यह निर्णय कि 'भोर का तारा ही सन्ध्या का तारा है' पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यह निर्णय दीर्घ वैज्ञानिक पर्यवेक्षण का परिणाम है। केवल '२+२=४' जैसे निर्णय पुनरुक्तियां हैं। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि हेगल का तर्क भ्रामक था क्योंकि उसने इस तथ्य को नहीं देखा था।

हम कह सकते हैं कि दर्शन इस प्रकार से किसी उक्ति अथवा अवधारणा के अवधारणात्मक संस्थान (Conceptual Pattern) के अनुसन्धान तथा पदों (अवधारणाओं) के तार्किक प्रकार (लोजीकल टाइप), तथा इनकी वर्गणाओं (केटेगोरीज़) के निर्धारण की प्रक्रिया है। कि दार्शनिकों ने पहले कभी उचितरूप से दर्शन का उद्देश्य यह नहीं माना, यह इसके विरुद्ध कोई तर्क नहीं है, क्योंकि यह दिखाया जा सकता है कि वे, यद्यपि अयोग्य और अस्पष्ट रूप से,इसी प्रक्रिया का अनुसरण करते रहे हैं। दर्शन का कार्य न तो अभ्युपगमों का निर्माण करना है, न निरीक्षण-परीक्षण उसका कार्य है, न प्रातिभ-विस्फोट ही दर्शन है, उसका कार्य यह दिखाना है कि अमुक वाक्य आभ्युपगमिक है, अमुक निरीक्षणात्मक है, आदि। कांट की समस्या, कि ज्यामिति के वाक्य किस प्रकार संश्लेषणात्मक होने पर भी प्रागनुभविक हैं, ज़ीनो की समस्या कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गति किस प्रकार यथार्थ है, शोपेनहावर की समस्या कि काल की यथार्थता किस प्रकार सम्भव है, और इसी प्रकार की अन्य अनेक समस्यायें, जैसे सामान्य वाक्य-सामान्य तथ्य की समस्या, संख्या; वर्ग, विशिष्ट, सामान्य, तथा प्रागनुभविक ज्ञान आदि की समस्याएं उचितरूप से दार्शनिक समस्यायें हैं, क्योंकि इनका समाधान परीक्षण, अनुसंधान, अनुमान तथा प्रातिभ विस्फोट की अपेक्षा नहीं करता, इनका समाधान अवधारणाओं की तार्किक शक्ति, संस्थान तथा प्रकार को देखने की अपेक्षा करता है।

कभी कभी उपर्युक्त प्रकार के दार्शनिक विश्लेषण को भाषा-विश्लेषण भी कहा जाता है। यह नाम स्वयं दार्शनिक विश्लेषकों ने भी कभी कभी अपनी प्रविधि को दिया है और कभी कभी उनके विरोधियों ने यह नाम इस प्रणाली के लिये प्रयुक्त किया है। इस प्रणाली को यह नाम भी दिया जा सकता है यदि केवल इसकी एक विशेषता को महत्व देना अभिप्रेत हो। वास्तव में कभी कभी कार्नप-न्यूरथ की प्रणाली से एक ओर तथा विटगिंस्टाइन-आस्टिन-राइल की प्रणाली से दूसरी ओर ऐसा प्रतीत होता भी है जैसे ये दार्शनिक केवल भाषा विश्लेषण को दार्शनिक का कर्त्तव्य समझते हैं। किन्तु जहां तक कार्नप-न्यूरथ प्रणाली का सम्बन्ध है, वह अपने उद्देश्य के लिये एक भिन्न भाषारूप का निर्माण करते हैं और सामान्य प्रयोग की भाषा को भ्रामक समझते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि वे भाषा को केवल अभिव्यक्ति का माध्यम समझते हैं, यद्यपि दर्शन के लिये एक मात्र माध्यम। अब माध्यम को यथासम्भव स्पष्ट तथा निश्चित-निर्धारित होना चाहिये, अन्यथा भ्रम की सम्भावना रहती है। भाववादियों का भाषा के प्रति इतने आग्रह का कारण प्रचीन दार्शनिकों की भाषा के स्वभाव को ठीक न समझने से भ्रम में पड़ना है।

किन्तु विटगिंस्टाइन, राइल तथा आस्टिन (अथवा कहें, आक्सफर्ड सम्प्रदाय) का भाषा के प्रति रवैया इससे सर्वथा भिन्न है। वे दर्शन के लिये एक निर्धारित भाषा निर्मित करने के वजाय किसी दार्शनिक समस्या के सुलझाव के लिये सामान्य प्रचलित भाषा के प्रयोगों का ही निरीक्षण करते हैं। उदाहरणतः वार्नाक की "इंगलिश फिलासफी सिंस १६००" से एक उद्धरण लें। वे कहते हैं—"भाषा से किस अर्थ में सीखा जा सकता है? मेरे विचार में यह प्रश्न रहस्यमय या कठिन नहीं है। मानलीजिये कि हम "व्यक्ति के अपने कार्यों के लिये उत्तरदायित्व की अवधारणा" की जांच करना चाहते हैं, हम जानना चाहते हैं कि इस अवधारणा में क्या निहित है और कितनी विभिन्न वस्तुएं इसमें निहित हैं। यदि हम उस भाषा पर विचार करते हैं जो व्यक्ति के अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व को विचारने के लिये प्रयुक्त होती है, तो हम पाते हैं कि उपलब्ध पदावली आश्चर्यजनकरूप से विस्तृत है। एक ओर 'जानबूझ कर', 'अपनी इच्छा से,'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'सोद्देश्यरूप से', 'ज्ञानपूर्वक', 'स्वतः' जैसे शब्द हैं और दूसरी ओर 'अकस्मात्', 'ग़लती से', 'असावधानी से', 'मुर्खता से', 'अनचाहे', 'वाध्यता से' जैसे शब्द हैं। अब यह समझा जा सकता है, और वास्तव में यह विना विचारे मान लिया जाता है, कि यह शब्द-वहुलता अमहत्वपूर्ण है, कि इसका महत्व केवल शाब्दिक है। ×××× यह बहुत सम्भव है कि भाषा के ये विभिन्न प्रयोग इस बात के संकेत हैं कि विभिन्न बातें करना अभिप्रेत है"५।

जैसाकि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, आक्सफर्ड सम्प्रदाय के दार्शनिक भी भाषा विश्लेषण में इस विचार से प्रवृत्त होते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि भाषा के विभिन्न प्रयोग विभिन्न अवधारणाओं के व्यंजक हैं। अतः जब आप किसी अवधारणा पर विचार करना चाहते हैं तब आप उसके वाचक विभिन्न प्रयोगों की जांच करके उस अवधारणा की मिश्र तथा धुंधली सीमा-रेखाओं वाले रूप को समझने में समर्थ होते हैं।

जो भी हो, भाषा विश्लेषण उचितरूप से आक्सफर्ड सम्प्रदाय का ही आग्रह है (जिस भी सीमा तक चाहे वह है) भाववाद का नहीं। भाववाद को आप उचितरूप से पुनारचनावाद (रीकंस्ट्रक्शनिज़्म) कह सकते हैं। पुनारचना उन पदों अथवा प्रयोगों का उस भाषा के ढांचे में प्रयोग और अन्ततः अन्य प्रयोगों द्वारा स्थानान्तरण है जो पद दार्शनिक विश्लेषक दार्शनिकरूप से प्रयुक्त करता है। उदाहरणतः 'सामान्य', 'भौतिक', 'मन' आदि आदि पदों को लिया जा सकता है। कोई पद दार्शनिकरूप से प्रयुक्त तब कहा जाता है जब दार्शनिक विवेचक इसका प्रयोग उससे व्यक्त अवधारणा के विवेचन के लिये करता है, अथवा जब वह उसका प्रयोग अपनी अस्तित्वमीमांसा में करता है। इस प्रकार जब वह कहता है कि "अर्थ का अस्तित्व मन में है" तब यहां "मन में" पद का प्रयोग दार्शनिकरूप से नहीं किया गया है, केवल 'अर्थ' का प्रयोग दार्शनिकरूप से किया गया है। इसी प्रकार 'अ ब को विचारता है' दार्शनिकरूप से प्रयुक्त वाक्य नहीं है किन्तु 'व 'व' कहता है' द्वारा स्थानान्तरित किये जाने पर, अथवा उस से रूपान्तरित होने पर यह दार्शनिकरूप से प्रयुक्त वाक्य है।

इस प्रकार भाववादी विश्लेषक गम्भीररूप से अवधारणात्मक संस्थान की रचना में प्रवृत्त होता है, जैसे अन्य तत्वमीमांसक होते थे। वह अस्तित्व की चर्चा भी करता है, वह तत्वमीमांसक से केवल ज्ञानातीत की चर्चा को अवैध मानने के कारण तथा पुरातन अनुभववादियों से तार्किक सुष्ठुता के कारण भिन्न है। जहां तक अस्तित्वमीमांसा का सम्बन्ध है, भाववादी (जिनमें रसल, मूर तथा ट्रक्टेटस के विटगिंस्टाइन भी सम्मिलित हैं) एक मत नहीं हैं। अधिक सावधान भाववादी (जिनमें मैं अपने को भी रखता हूँ) उन

5. English Philosophy Since 1900, P.P. 149

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते जिन्हें वे विश्लेषण द्वारा अपसारणीय समझते हैं, इस प्रकार वे यह नहीं कहेंगे कि भौतिक पदार्थों या मन का अस्तित्व नहीं है, वे कहेंगे कि 'भौतिक पदार्थ की अवधारणा' या 'मन की अवधारणा' पद अमुक अमुक मूल अवधारणाओं में विघटनीय हैं। अधिक ठीक शब्दों में. 'मेज़' पद को वे 'अ मेज़ है' अथवा 'य मेज़ है' जैसे वाक्यों में उचितरूप से प्रयोग-योग्य मानते हैं और इस प्रकार 'मेज़' संज्ञा पद न रह कर विधेय पद हो जाता है। यह केवल भाषीय प्रश्न ही नहीं है, जैसाकि कुछ दार्शनिक कहना पसन्द करते हैं, यह वास्तव में अस्तित्वमीमांसात्मक परिणामों को लागू करता है। किन्तु सावधान भाववादी कहेंगे कि उनकी अस्तित्व-मीमांसा जबकि हमारे दैनिक जीवन की अस्तित्वमीमांसा की विरोधी प्रतीत होती है वह वास्तव में वैसी नहीं है। उदाहरणतः जब वह कहता है कि 'ऐसे वाक्य, जिनमें 'मेज़' विधेय के रूप में प्रयुक्त होता है, ऐसे वाक्यों में, जिनमें केवल संवेद वाक्य प्रयुक्त होते हैं, 'मेज़' पद घटित नहीं होगा, विघटनीय है' तब वह यह नहीं कहता कि मेज़ का अस्तित्व नहीं है, अथवा यह मेरे संवेदों के संघात से निर्मित है, जिस प्रकार कोई मशीन पुर्जों से निर्मित होती है। वह केवल यह कहता है कि हमारे ज्ञान की वर्गणाओं तथा भौतिक वर्गणाओं का ध्यान रखते हुए एक तार्किकरूप से सुप्रतिष्ठित संस्थान की रचना भौतिक-विषय-वाक्यों के संवेद-विषय-वाक्यों में विघटन के द्वारा अधिक उचितरूप में की जा सकती है। इसी प्रकार अन्य विषय, जैसे मन, भी अन्य प्रकार के मूल वाक्यों में विघटनीय हैं।

किन्तु इस प्रकार का प्रदृश्यतावादी (फिनोमिनलिस्टिक) विश्लेषण भाववाद या पुनारचनावाद की आवश्यक शर्त नहीं है, यह उन अनेक भाववादी दार्शनिक विश्लेषकों के प्रतिपादनों से देखा जा सकता है जो भौतिक विषय–वाक्यों को संवेद-वाक्यों में विघट–नीय नहीं मानते। उदाहरणतः बर्लिन, एडाम तथा किश्होल्म के नाम लिये जा सकते हैं। स्ट्रासन के भी "विशिष्ट" भौतिक विषय या प्रदृश्यतावादी द्वारा विश्लेष्य वस्तुएं हैं।

दार्शनिक विश्लेषण का अनुभववादी झुकाव ज्ञानमीमांसा को प्रस्थान बिन्दु बनाने के कारण है। डेकार्ट का यह प्रसिद्ध प्रश्न कि 'मैं विचार करता हूँ अतः मैं हूं' अनु–भववादी तत्वमीमांसा का प्रथम प्रश्न कहा जा सकता है, ऐतिहासिकरूप से भी और तार्किकरूप से (स्ट्रक्चरली) भी। यह प्रश्न किया जा सकता है कि ज्ञानमीमांसा को प्रस्थान बिन्दु बनाने पर हम अनिवार्यतः अनुभववादी ही क्यों हों? हमारे विचार में इसका उत्तर स्पष्ट है। ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न ये हैं कि "हम क्या जान सकते हैं?" "जानना क्या है" आदि। दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया "जानना प्रत्यक्ष करना है, शेष अनुमान है"। प्रथम प्रश्न का उत्तर निरपवाद नहीं हो सकता, किन्तु एक प्रारम्भिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर दिया जा सकता है जो निरपवादरूप से स्वीकार किया जा सके, वह यह कि "हम वही जान सकते हैं जिस का प्रत्यक्ष कर सकते हैं"। यह उत्तर दूसरे उत्तर का ही तार्किक परिणाम है। यह उत्तर यद्यपि प्रथम प्रश्न का पूर्ण उत्तर नहीं है किन्तु यह हमारे तात्कालिक उद्देश्य के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार 'ज्ञान' एक अर्थ में 'अनुभव' का समानार्थक है और ज्ञानमीमांसा की सीमा अनुभव से निर्धारित होती है। अनुमान तथा स्मृति आदि का समावेश भी अनुभव के अन्तर्गत ही किया जाता है।

अनुभववादी कभी कभी इससे थोड़ा आगे भी जाता है। वह कहता है कि हम जो जान सकते हैं केवल उसी का अस्तित्व है, शेष का अस्तित्व नहीं है। यहां थोड़ा अस्तित्व के सम्बन्ध में। "किन वस्तुओं का अस्तित्व है?" इसका एक निरपवाद उत्तर होगा "उन वस्तुओं का जो वास्तव में हैं"। अब यह प्रश्न स्पष्टतः परिभाषा के सम्बन्ध में है—"कौन सी विशेषता वस्तुओं को अस्तित्वयुक्त बनाती है?" अब क्या अस्तित्व वस्तुओं की कोई विशेषता है?" विशुद्ध मूर्खता; 'अस्तित्व' वस्तुओं की विशेषता की संज्ञा नहीं है। 'य वस्तु है' लागू करता है कि 'उसका अस्तित्व है', अतः वास्तव में अस्तित्व की समस्या ही उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। किन्तु फिर भी यह एक समस्या है। इसका कारण हमारी भाषा है। एक उदाहरण हमने पीछे मीनांग की पहेली का दिया था; किन्तु कुछ अन्य प्रश्न किये जा सकते हैं, "क्या ईश्वर का अस्तित्व है?" आप प्रश्नकर्ता से स्पष्टीकरण की मांग कर सकते हैं—"आपका इससे क्या अभिप्राय है?" "आप किस विशेषता के होने पर यह स्वीकार करने को तैयार होंगे कि ईश्वर का अस्तित्व है?" अब यह स्पष्टीकरण की मांग तत्वमीमांसकों को झमेले में डाल सकती है और इसके परिणाम भयानक हो सकते हैं, (इससे भयानक और क्या हो सकता है कि कोई इन विशेषताओं के वर्णन में बड़े बड़े ग्रंथ रच डाले?)। किन्तु स्पष्टीकरण की इस मांग पर दार्शनिक विश्लेषक उत्तर देगा "इसका अभिप्राय है कि क्या 'ईश्वर' पद किसी वस्तु को अभिहित करता है?" "वह वस्तु किस प्रकार की है?" अब इसका उत्तर देने वाले से यह मांग नहीं की जा सकती कि वह "ईश्वर" की वे विशेषताएं बताये जिन्हें 'अस्तित्व' पद अभिहित करता है, और इस प्रकार अस्तित्व की परिभाषा का प्रश्न समाप्त हो जाता है। अब केवल वर्णन का प्रश्न रह जाता है—"यदि 'ईश्वर' पद किसी को अभिहित करता है तो वह कैसी है?" और यहां तत्वमीमांसक उस तलवार की धार पर है जिसके एक ओर अनुभववाद है और दूसरी ओर अन्तर्विरोध अथवा अर्थ-हीनता की स्थिति है।

अन्तर्विरोधपूर्ण स्थिति वह स्थिति है जब कुछ अवधारणाएं परस्पर तर्कतः संगत न हों, उनका रूप 'प. ∽ प' का अथवा 'प ⊃ क. ∽ क' प्रकार का हो। 'अर्थ-हीनता'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या है ? कुछ भाववादी कहेंगे,जब कोई वाक्य ऐसे वाक्यों में विश्लेष्य है जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्रामाण्य हैं तब वह विश्लेषित वाक्य सार्थक है, अन्यथा निरर्थक है। इस स्थिति का प्रत्याख्यान हम एकाधिक बार पीछे कर आये हैं। दूसरे भाववादी कहेंगे,"जब कोई वाक्य ऐसे सरल वाक्यों में विश्लेष्य है जो अनुभव के अनुरूप (अनुभव की संज्ञा) हैं। अथवा कहें, जो वाक्य अनुभव की स्थिति को व्यक्त करते हैं" (अनुभव से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष या स्मृति से है)। अब यहां प्रश्न है (जिस प्रश्न को हम अभी तक इस पुस्तक में टालते रहे हैं) अनुभव की वर्गणा को आप किस प्रकार परिभाषित करते हैं ? अथवा कहें, हम क्या अनुभव कर सकते हैं ?

यह प्रश्न सामान्यतः दार्शनिक के लिये शायद उतना रोचक न होता जितना भाव-वादियों की विचित्र स्थापनाओं के कारण हो गया है। भाववादी तत्वमीमांसक के रूप में ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादी है। किन्तु इसके विरुद्ध दो आपत्तियां हैं। प्रथम यह कि "ऐन्द्रिय संवेदों के अतिरिक्त भी अनुभव घटित होते हैं, उदाहरणतः 'यह अवगत है कि, यह अवगत है कि प' उचित मूलवाक्य है और यह किसी ऐन्द्रिय संवेद का वाचक नहीं है। मैं विषण्ण हूँ' अथवा 'मैं आनन्दित हूँ' (मूलवाक्यः 'विषाद, अब' तथा 'आनन्द, अब') भी उचित मूलवाक्य हैं। अब मानलीजिये कि ये उचित मूलवाक्य नहीं हैं, दूसरे शब्दों में,'विषाद' और 'आनन्द' अनुभवों की संज्ञाएं ही नहीं हैं। किन्तु इसके लिये अनुभव-वादी के पास क्या साधन हैं कि वह यह कह सके कि ये अनुभव नहीं हैं ?—कि ये ऐन्द्रिय संवेदों में विघटनीय हैं ? अब इन अनुभवों को आप छवीं इन्द्रिय के अनुभव कहें। अब यह सम्भव है कि किसी के १०, १२, १०० इन्द्रियां हों ! किन्तु अनुभव-वादियों ने, विशेषतः भाववादियों ने, केवल पंचेन्द्रिय संवेदों को ही उचितरूप से अनुभव माना है। किन्तु इस स्थिति का आप तबतक समर्थन नहीं कर सकते जब तक आप एक विशेष मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय को पूर्वस्वीकृति नहीं देते। कुछ ऐसी ही आपत्ति को ध्यान में रखते हुए शायद स्टेस ने अनुभववादी को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को (कहना चाहिये, एक विशेष सम्प्रदाय के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को) अपनी साधन-सामग्री में सम्मिलित करने का सुझाव दिया है।८ किन्तु यह सुझाव अत्यन्त भ्रामक है, क्योंकि दर्शन किन्हीं भी वैज्ञानिक अनुसन्धानों को पूर्वकल्पित नहीं कर सकता, और न अनुभववाद के लिये यह आवश्यक ही है कि वह यह भी बताये कि हम क्या अनुभव कर सकते हैं और क्या अनुभव नहीं कर सकते। इस प्रकार अनुभववाद एक दर्शन प्रणाली के रूप में अनुभव की सीमा तथा रूप के सम्बन्ध में तटस्थ है, उसके लिये ऐन्द्रिय अनुभव वही मूल्य रखता है जो आध्यात्मिक अनुभव।

9. Stace–Some Misinterpritations of Empiricism, Mind 1958 P.P. 465-84.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावात्मक भाषा

यहां एक दूसरी भूल के लिये अवसर हो सकता है—कोई कह सकता है "मैं आत्यन्तिक यथार्थ का अनुभव करता हूँ, आप यह कैसे कह सकते हैं कि मैं यह नहीं कर सकता हूँ?" अब मनोवैज्ञानिक को इसका खण्डन मनोवैज्ञानिक ग्रंथों से उद्धरण देकर नहीं करना है, उसे केवल यह दिखाना है कि "मैं आत्यन्तिक यथार्थ का अनुभव करता हूँ' वैसा ही वाक्य नहीं है जैसा 'मैं रक्त संवेद अनुभव करता हूँ' अथवा 'मैं आनन्द अनुभव करता हूँ' आदि वाक्य हैं। क्योंकि इन वाक्यों में 'रक्त' तथा 'अनुभव' दो वस्तुओं के वाचक नहीं हैं जबकि 'आत्यन्तिक यथार्थ' और 'अनुभव' दो तथाकथित वस्तुओं के वाचक हैं। अतएव 'रक्त, अब' 'आनन्द, अब' उचित मूलवाक्क हैं और 'यथार्थ अब' नहीं। अतः, जैसाकि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, 'कोई आत्यन्तिक यथार्थ का अनुभव करता है' यह लागू नहीं करता कि 'कुछ आत्यन्तिक यथार्थ है'। इस प्रकार, जब हम कहते हैं कि अनुभववादी अनुभवों की सीमा निर्धारित नहीं कर सकता तब उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह किसी भी वाक्य को मूल अनुभव वाक्य मानने को बाध्य है। कौन सा वाक्य अनुभव की संज्ञा है और कौनसा अन्य वाक्य मूलवाक्यों में विघटनीय है, यह निर्णय वह उस वाक्य में प्रयुक्त पदों द्वारा व्यक्त अवधारणा से तथा वाक्य के तार्किक स्वरूप से कर सकता है।

वास्तव में भाववादी दार्शनिक कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहे हैं, वे समझते रहे हैं कि विज्ञान (और वह भी मुख्यतः भूत विज्ञान) हमारे ज्ञान के क्षेत्र को उचितरूप से स्केल करता है, अथवा कम से कम, दर्शन को अपने आपको वैज्ञानिक द्वारा निर्धारित क्षेत्र तक सीमित रखना चाहिये। यह न्यूरथ तथा कार्नप की मूलवाक्यों की कल्पना से स्पष्ट है। वे कहते हैं 'वह अवधारणात्मक संस्थान सत्य संस्थान है जो प्रोटोकोल (मूल) वाक्यों पर आधारित है: और सत्य प्रोटोकोल वाक्य वे वाक्य हैं जो निष्पक्ष द्रष्टाओं द्वारा प्रयुक्त किये गये हों, विशेषतः जो हमारे युग के वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये हों।"[९] किन्तु वैज्ञानिक ज्ञान केवल कुछ विशिष्ट प्रकार के अनुभवों के विशिष्ट उद्देश्य से व्यवहार का अध्ययन और संस्थानीकरण (सिस्टेमेटाइज़ेशन) करता है। जो अनुभव या तथ्य (फिनोमिना) इसके विशिष्ट क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किये जा सकते उनका यह बहिष्कार करने को बाध्य है। इसकी एक दूसरी सीमा इसका प्रमाणीकरण को आधारभूत स्वीकार करना है, जो यद्यपि विज्ञान के लिये आवश्यक है किन्तु जो हमारे ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को विचारते हुए अनुचित है। अनुभववादी के लिये यह आवश्यक है, और स्वास्थ्यकर भी है, कि वह अपने क्षेत्र के तार्किक विस्तार को समझे।

यहां आनुभविक विश्लेषण या विघटन के तर्क (लोजीकल रिडक्शनिज़्म) का

9. Ayer (Ed.) Logical Positivism, P.P. 233.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पष्टीकरण भी अस्थाने न होगा। एक बार मैं और मेरे एक मित्र उदय पुर की प्रसिद्ध झीलों के किनारे खड़े सूर्यास्त के सौन्दर्य का पान कर रहे थे। मेरे मित्र आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वे अकस्मात् बोले:– आपका विश्लेषण-दर्शन यहां क्या करेगा? क्या इस सौन्दर्य का विश्लेषण सम्भव है?

प्रश्न रोचक है और "विश्लेषण" के उद्देश्य को न समझने का परिणाम है। मैंने उन्हें बताया कि विश्लेषण केवल विश्लेष्य का विश्लेषण करता है, अविश्लेष्य का नहीं। दूसरे, विश्लेषण का उद्देश्य ऐसी योजना खोजना होता है जिसके अनुसार वस्तुएं (अविश्लेष्य) संस्थानों का निर्माण करती हैं। कुछ संस्थानों का निर्माण देखने के लिये हम जिसे मूल वस्तु स्वीकार करते हैं उसी को दूसरे संस्थान के विश्लेषण में विश्लेष्य मान सकते हैं। इस प्रकार स्वयं संस्थान भी एक अवसर पर अविश्लेष्य हो सकते हैं। विश्लेषणात्मक दार्शनिक तत्वमीमांसक के रूप में अनुभववादी है और उसके अविश्लेष्य अनुभव हैं। वह "भौतिक पदार्थों" अथवा "बाह्य प्रदृश्यों" का विश्लेषण अनुमान–रहित "ऐन्द्रिय प्रदृष्टों" में तथा "मन" अथवा "आन्तरिक प्रदृश्यों" का विश्लेषण अन्य "आनु–भविक क्षणों" में करता है। ये अनुमान-रहित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा क्षण-अनुभव आवश्यकरूपसे अन्यथा अविश्लेष्य नहीं हैं, उदाहरणतः चाक्षुष संवेद अत्यन्त काम्प्लेक्स ज्यामितिक संस्थानों में विश्लेष्य हो सकता है। इसी प्रकार, वह उचितरूप से सौन्दर्यानुभव, आध्यात्मिक अनुभव या किसी भी प्रकार के अनुभव का निषेध नहीं कर सकता और न उसका इस प्रकार विश्लेषण कर सकता है कि वह अनुभव ही नहीं रहे। उसका विश्लेषण केवल पूर्व विद्यमान संस्थानों की उचित व्याख्या देता है। इसीलिये उसका कार्य वास्तव में रहस्यवादी साधक का भी तब तक विरोधी नहीं है जबतक साधक केवल यह दावा करता है कि वह अमुक प्रकार से अनुभव करता है; साधक से उसका विरोध तब उत्पन्न होता है जब साधक अपने अनुभवों को ऐसी अवधारणात्मक योजना में प्रस्तुत करता है जो भ्रामक है। उदाहरणतः आध्यात्मिक अनुभव को ही लें। अब कोई आध्यात्मिक अनुभव अरविन्द के विकासवाद को प्रमाणित नहीं कर सकता, वास्तव में वह उसके लिये किसी प्रकार संकेत भी नहीं दे सकता। इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति (साधक) कुछ अनुभव करता है जिसे वह 'ईश्वरानुभव' का नाम देना चाहता है तो इससे यह किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं होता कि ईश्वर वास्तव में है। इससे केवल यह प्रमाणित होता है कि उसका अनुभव वास्तव में है। साधक यहां इस बात से थोड़ा आश्वस्त अनुभव कर सकता है कि अस्तित्व सम्बन्धी यह प्रकथन उतना ही अधिक भौतिक वस्तुओं के लिये भी ठीक है जितना आध्यात्मिक वस्तुओं के लिये। किन्तु साधक के लिये एक कठिनाई है। वह जबकि यह कहने के लिये स्वतन्त्र है कि वह ईश्वरानुभव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है और उसका यह अनुभव अवर्णनीय है, वह यह नहीं कह सकता कि वह सर्व-शक्तिमान्, निर्विकार, निर्गुण आदि प्रकार के ईश्वर का अनुभव करता है, क्योंकि यह तर्कतः दिखाया जा सकता है कि यह अनुभव नहीं किया जा सकता। यहां हम पुनः शंकर के वेदान्त के प्रदृश्यतावाद (फिनोमिनलिज़्म) से एक उदाहरण देखेंगे। वेदान्तिक प्रदृश्यतावाद की व्याख्या करते हुए प्रो० प्रवास जीवन चौधरी लिखते हैं "यह मन का एक मौलिक व्यापार है कि वह विषयों को अपने सम्मुख आरोपित कर लेता है और इस प्रकार इसे सत्ता का रूप दे देता है। वह उस समय यह भूल ही जाता है कि ये विषय उसी द्वारा सृष्ट किये गये थे। वह उन्हें प्रस्तुत विषयों के रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार जो निजे निहित है वही स्वतन्त्र अस्तित्व दीखने लगता है। यही भ्रम तथा स्वप्नों का सिद्धान्त है। अब यह सिद्धान्त हमें सम्यक्रूपेण धारण करके अपने तत्वमीमांसात्मक अन्वेषण में अग्रसर होना चाहिये, जहां हमारा कार्य प्रतीयमानरूप से स्वतन्त्र और प्रस्तुत विषयों का निजे निहित और कल्पित विषयां के रूप में ग्रहण करना होता है। वेदान्त की पदावली में, हमारा कार्य आत्म के विभिन्न स्तरों पर अविद्या (इल्यूिइरी आब्जेक्टिविटी) को समझना है। आत्म जबकि व्यक्ति आत्म (अहं) के स्तर पर भ्रम-विषयों तथा स्वप्नों को आरोपित करता है, यह उस समय सार्वभौम (कोस्मिक) आत्म के रूप में आनुभविक संसार को जानता है, जोकि सार्वभौम चेतना के स्तर पर भ्रम है। ×××× अब, भ्रम या स्वप्न का निवारण आनुभविक यथार्थ को उद्घाटित करता है, जिस संसार को द्वितीय स्तरीय आत्म (जोकि प्रथम स्तरीय आत्म से, जिसने भ्रम-विषयों को यथार्थ समझा था, ऊपर उठता है) प्रस्तुत विषयों के रूप में ग्रहण करता है। वास्तव में द्वितीय स्तरीय आत्म-स्थिति स२ ही प्रथम स्तरीय विषयों को आरोपित करती है और यह आत्म ही निम्नस्तरीय आत्मवंचक रूप, स१, को अपनाता है। स्वप्नों और भ्रमों का टूटना स१ स्तरीय सुषुप्ति से जागना है। ×××× अब यह स२, जोकि जाग्रंत के संसार को प्रस्तुत यथार्थ के रूप में ग्रहण करता है, वास्तव में तृतीय स्तरीय आत्म स३ द्वारा अपनाया हुआ रूप है, जोकि स२ में सुषुप्त रहता है और तथाकथित जाग्रति के संसार के विषयों का सृजन तथा उपभोग करता है। यह स३ स्थिति सब देशों और कालों के रहस्यावेषी साधकों द्वारा चरितार्थ की गयी है, जैसाकि उनकी उक्तियों से ज्ञात होता है।"१०

अब इस उद्धरण को ध्यान से देखें। इसमें अनुभव के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रकथन हैं, एक तो यह कि हम अमुक-अमुक प्रकार का अनुभव करते हैं (या कर सकते हैं) और दूसरे, कि एक अनुभव दूसरे से उच्चतर स्तर का है, इस अर्थ में कि एक

10. Philosophy and Phenomenalogical Research, Dec. 1959 P.P. 256-57,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भ्रम है, दूसरा कम भ्रम है और तीसरा यथार्थानुभव है। वास्तव में आगे वे इस स्थिति को ईश्वरीय स्थिति बताते हैं और एक चतुर्थ स्तर की कल्पना करते हैं, जो ब्रह्म-स्थिति है। यह विषयाभाव की स्थिति है, अथवा कहें, यह निर्वैषयिक अनुभव है।

अब जहां तक प्रथम प्रकथन का प्रश्न है, अनुभववादी यह स्वीकार कर सकता है कि इस प्रकार का अनुभव है, अथवा हो सकता है, जिसमें हमें तथाकथित जागृति के विषव भ्रम प्रतीत हों। निर्वैषयिक अनुभूति भी हो सकती है। (हम स्वयं अनुभव में क्रिया और विषय में भेद नहीं करते)। अनुभववादी के लिये यह प्रश्न अप्रासंगिक है कि अमुक अनुभव का मनोवैज्ञानिकरूप से विश्लेषण हो सकता है या नहीं? वह केवल यह मान कर चलता है कि सार्थक वाक्य अन्ततः (पुनरुक्तियां न होने पर) ऐसे वाक्यों में विश्लेष्य हैं जो किन्हीं अनुभवों की संज्ञाएं हैं। इसी प्रकार वस्तुएं और अवधारणाएं क्षण-अनुभवों में विश्लेष्य हैं। अब यह एकदम अनुचित प्रश्न है कि जागृति के विषय वास्तव में भ्रम हैं या नहीं।

किन्तु दूसरा प्रश्न अतर्कसम्मत है और स्वयं रहस्यवादी की स्थिति को भी खतरे में डाल देता है। अब देखें कैसे। यदि एक स्थिति में दूसरी स्थिति के विषय भ्रम प्रतीत होने पर वे विषय भ्रम-विषय हो जाते हैं तब स२ में स१ के विषय तथा स३ के विषय भ्रम प्रतीत हो सकते हैं और इसी प्रकार स१ में स२ तथा स३ के विषय भ्रम प्रतीत हो सकते हैं। यहां रहस्यवादी आपत्ति करेगा कि स२ स्थिति प्राप्त ही तब होती है जब स१ का निरास हो जाता है, अतः स१ द्वारा स२ का निरास नहीं हो सकता। इसी प्रकार स४ तथा स५ के लिये भी। यहां अनुभववादी आपत्ति करेगा कि (१) उसके पास यह जानने का क्या साधन है कि वह जिस स्थिति को भ्रम समझ रहा है वह यथार्थ नहीं है और जिसे यथार्थ समझ रहा है वह भ्रम नहीं है? वह यह तो स्वयं ही स्वीकार करता है कि जिस स्थिति को वह भ्रम समझता है उसे ही दूसरे समय पर यथार्थ भी समझता है। दूसरे (२) केवल तीन या चार स्थितियों की कल्पना ही क्यों की जाय? ५ या ६ स्थितियां क्यों नहीं हो सकतीं? इस पांचवीं स्थिति में आत्म चतुर्थ स्थिति को भ्रम समझ कर यह अनुभव कर सकता है कि स२ के विषय मिथ्या नहीं हैं, सत्य हैं। अथवा कम से कम वह स४ को भ्रम समझ कर वह अनुभव कर सकता है कि चतुर्थस्थिति की निर्वैषयिकता भी आत्म द्वारा आरोपित है, और इस प्रकार असीम स्थितियां हो सकती हैं।

यहां दार्शनिक विश्लेषक का तर्क अधिक पुष्ट है। उसके अनुसार स्वप्न के विषय उतने ही सत्य हैं जितने जागृति के विषय। इसी प्रकार भ्रम-विषय उतने ही उचितरूप से विषय हैं जितने उचितरूप से भ्रम-रहित स्थिति के विषय। ये सब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभव हैं अतः एक स्तर के हैं। इतना ही नहीं, जागृति के विषय उतने ही भ्रम प्रतीत हो सकते हैं जितने तथाकथित भ्रम-विषय। वास्तव में जागृति, स्वप्न तथा भ्रम अपरिभाषेय पद नहां हैं, ये परिभाषेय पद हैं। अतः भ्रम स्वयं अनुभव का विषय नहीं है। स्वयं विषय या अनुभव भ्रम या यथार्थ विशेषणों से निरपेक्ष हैं। वास्तव में यहां जो विश्लेष्य है वह 'भ्रम की अवधारणा' तथा 'भ्रम-राहित्य की अवधारणा' है। इस प्रकार 'भ्रम-विषय' तथा 'यथार्थ-विषय' पद उचितरूप से अवधारणात्मक विश्लेषण की अपेक्षा करते हैं न कि स्वयं 'विषय' पद। इस समस्या पर हम अध्याय १ में विस्तारपूर्वक विचार कर आये हैं।

अनुभववाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन द्वारा एक बड़े भ्रम का निवारण हो सकना चाहिये। अनुभववादियों तथा उनके विरोधियों, दोनों ने समानरूप से यह समझने की भूल की है कि अनुभववाद का ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद पर प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। किन्तु वास्तव में यह विश्वास स्वयं उस तर्क से लागू नहीं होता जो अनुभववाद की रीढ़ है। अतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद अनुभववाद की केवल तत्वमीमांसात्मक पूर्वकल्पना (मेटाफिज़ीकल प्रीसप्पोज़ीशन) है। किन्तु यदि अनुभववादी दार्शनिक इस पूर्वाग्रह के आवरण को उतार सकें तो उनके सम्मुख सम्भावनाओं के विस्तृत क्षेत्र खुल जायंगे।

२

भाववादी दार्शनिकों विश्लेषकों की एक महत्वपूर्ण स्थापना सार्थकता के सम्बन्ध में है। उन्होंने केवल दो प्रकार के प्रकथनात्मक वाक्यों को सार्थक माना है—एक प्रमाणीकरणीय और दूसरे विश्लेषणात्मक अथवा पुनरुक्त्यात्मक। उनके अनुसार तत्वमीमांसात्मक प्रकथन या तो अन्ततः पुनरुक्तियां हैं अथवा निरर्थक हैं। उदाहरणतः राधाकृष्णन का निम्न प्रकथन लें– "प्राकृतिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन हमें तथ्यों से परे ज्ञानातीत सत्ता की ओर ले जाता है, जोकि मुक्तता भी है"। इस वाक्य का क्या अर्थ है? जैसाकि हमने अध्याय ५ में देखा है, तार्किक वाक्यों के अतिरिक्त शेष सब वाक्य अनुभव वाक्यों में विश्लेष्य होने चाहियें, यद्यपि ये प्रमाणीय होने आवश्यक नहीं हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रकथनात्मक प्रकार में प्रयुक्त वाक्य प्रमाणीय न होने पर वास्तव में प्रकथन व्यक्त नहीं करते, किन्तु फिर भी वे सार्थक हो सकते हैं। यह हमने अध्याय ६ में देखा है। ऐसे वाक्यों की सार्थकता उनमें प्रयुक्त पदों के किसी स्मृति व्यक्त करने के कारण अथवा स्मृति व्यक्त कर सकने वाले वाक्यों में विश्लेष्यता के कारण कही जा सकती है। निरर्थक वाक्य या तो ऐसे वाक्य हैं जिनमें कोई पद स्वयं, या विघटन के पश्चात्, किसी आनुभविक वस्तु का वाचक नहीं है अथवा जिसकी रचना में तार्किक दोष है। उपर्युद्धृत वाक्य प्रथम प्रकार का है, और शायद द्वितीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार का भी।

अनुभववाद के उपर्युक्त अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त पर आपत्तियां की गयी हैं। आलोचकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सभी सार्थक वाक्य (प्रकथन) दो वर्गों में नहीं रखे जा सकते। जैसाकि विटगिंस्टाइन ने दिखाया था, स्वयं दार्शनिक वाक्य न विश्लेषणात्मक हैं और न पुनरुक्तियां हैं। उदाहरणतः प्रमाणीकरणवादियों का सार्थकता सम्बन्धी प्रकथन ही लें "केवल ऐसे प्रकथनात्मक वाक्य ही सार्थक वाक्य हैं जो प्रमाणीकरणीय हैं। शेष या तो पुनरुक्तियां हैं अथवा निरर्थक वाक्य हैं"। अब क्या स्वयं यह प्रकथन आनुभविक है? जैसाकि स्पष्ट है, यह आनुभविक नहीं है, क्योंकि तब यह स्वयं प्रमाणीय वाक्य होगा, और इसके सामान्य वाक्य होने से इसका केवल सीमित प्रमाणीकरण हीं सम्भव है, पूर्ण प्रमाणीकरण नहीं। अतः अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि जितने वाक्य हमने अभी तक देखे हैं उनकी सार्थकता उनकी प्रमाणीयता में निहित थी। किन्तु स्पष्टतः अनुभववादी यह नहीं कहना चाहता। तब क्या यह वाक्य विश्लेषणात्मक है? अब जैसाकि हमने पीछे देखा है, जो वाक्य स्पष्ट पुनरुक्तियां नहीं हैं वे केवल सापेक्षतः (परिभाषा द्वारा निश्चित) विश्लेषणात्मक हैं। इस प्रकार, इस वाक्य को विश्लेषणात्मक केवल निम्न प्रकार से बनाया जा सकता है: "हम किसी वाक्य को केवल तभी सार्थक कहेंगे यदि अनुभव द्वारा यह प्रमाणीय या प्रत्याख्येय होगा, अन्यथा नहीं।" किन्तु यहां पुनः स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रतिपादन-वाक्य विश्लेषणात्मक नहीं है, क्योंकि दार्शनिक यह नहीं कहना चाहता कि प्रमाणीकरण सिद्धान्त किसी सुविधापेक्षी निर्णय का परिणाम है। इस प्रकार, यह वाक्य न आनुभविक है न पुनरुक्त्यात्मक है और न विश्लेषणात्मक है। इसी प्रकार से 'भौतिक विषय वाक्य संवेद वाक्यों में विश्लेष्य हैं' प्रकथन अथवा अन्य दार्शनिक प्रतिपादन-वाक्य भी इन दो वर्गों के अन्तर्गत नहीं किये जा सकते।

किन्तु तब यह वाक्य कि 'विश्लेषणात्मक वाक्यों के अतिरिक्त कोई वाक्य तभी सार्थक है यदि यह प्रमाणीकरणीय है' किस प्रकार का है? जैसा कि स्पष्ट है, यह प्रतिपादन जब कि 'सार्थक का प्रयोग सीमित करता है साथ ही साथ यह, हम सामान्य रूप से किस प्रकार के वाक्यों को और क्यों सार्थक कहते हैं, इसको भी स्पष्ट और सुसंगत रूप से प्रस्तुत करता है। मान लीजिये कि हम आधुनिक दर्शन से अपरिचित किसी विचारशील व्यक्ति से पूछते हैं: "कैसे वाक्यों को सार्थक कहते हैं?" वह इसका उत्तर देने के लिये विभिन्न प्रकार के ऐसे वाक्यों को देखेगा जो उसे स्पष्ट रूप से सार्थक प्रतीत होते हैं, और ऐसे वाक्यों को भी देखेगा प्रथम दृष्टि में सार्थक वाक्यों जैसे हैं किन्तु वास्तव में स्पष्टरूप से निरर्थक हैं। इसके पश्चात् वह सार्थक वाक्यों की परिभाषा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देने का प्रयत्न करेगा। अब यह परिभाषा ऐसी नहीं है जैसी "आसावरी राग=अमुक-अमुक स्वर संस्थान," क्योंकि वाक्य की सार्थकता उस प्रकार से आविष्कृत नहीं की गई है जिस प्रकार से आसावरी राग-अमुक अमुक स्वरों से आविष्कृत किया गया है। किन्तु सार्थक वाक्य की परिभाषा, और इस प्रकार की अन्य परिभाषाएं, केवल विस्तृत निरीक्षण के पश्चात् प्रस्तुत विवरण भी नहीं हैं, यह परिभाषेय पद के अस्पष्ट प्रयोग-प्रसंग का ध्यान रखते हुए इसको स्पष्टता, निश्चितता तथा नोकीलापन देना है; यह परिभाषेय की विलक्षणताओं को प्रकाश में लाना तथा इनका प्रयोग-प्रसंग इस नवीन प्रकाश में अधिक निश्चित करना है। इस परिभाषा को हम स्पष्ट अथवा व्याख्यात्मक परिभाषा की संज्ञा दे सकते हैं। यह ठीक है कि यह परिभाषा आनुभविक नहीं है, क्योंकि यह वास्तव वाक्य प्रयोगों के सम्बन्ध में प्रकथन नहीं है; और न ही यह पुनरुक्त्यात्मक है, किन्तु यह इस अर्थ में निर्णयात्मक (स्टिपूलेटिव) भी नहीं है कि यह मात्र सुविधापेक्षी (आरबिट्रेरी) कही जा सके। इसकी पृष्ठभूमि में जबकि निरीक्षण - अनुचिन्तन आदि हैं, यह प्रस्थापित प्रागनुभविक सिद्धान्त के समान होती है, क्योंकि यह स्पष्टतः निर्धारित करती है कि "यह अन्तर्विरोधपूर्ण है कि कुछ अ है किन्तु इ नहीं है"। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि परिभाषा सत्य अथवा असत्य होती है।

किन्तु यह 'अ' तथा 'इ' की अनिवार्य सत्यता किस प्रकार उपलब्ध होती है? उदाहरणतः 'प्रत्येक विवाहित व्यक्ति गृहस्थ है' किस प्रकार अनिवार्यतः सत्य है? इसका उत्तर प्रथम दृष्टि में स्पष्ट है— कि 'विवाहित' तथा 'गृहस्थ' विधेय एक ही वर्ग का निर्धारण करते हैं, किन्तु 'भोर का तारा' तथा 'संध्या का तारा,' '५' तथ '२+३,' 'मनुष्य' तथा 'पक्ष रहित द्विपद' पद—युगल भी एक ही वर्गों का निर्धारण करते हैं। तो इनकी अभिन्नता के प्रतिपादक वाक्य अनिवार्यतः सत्य कहे जा सकते हैं? अब इस में कोई संदेह नहीं कि ये अनिवार्यतः सत्य हैं, क्योंकि एक ही वर्ग का निर्धारण करने वाले दो पदों का अभेद-प्रतिपादन परिभाषया सत्य है, सन्दिग्ध केवल इनकी विश्लेषणात्मकता (एनेलिटीसिटी) है। किन्तु यदि दो वाक्यों में अभेद-प्रतिपादक वाक्य अनिवार्यतः सत्य है तो इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह इन विधेयों की समानार्थकता को भी लागू करता है। इस प्रकार, जब कि हम यह कह सकते हैं कि "यह अन्तर्विरोधपूर्ण है कि 'कुछ अ है किन्तु इ नहीं है'" हम यह नहीं कह सकते कि यह वाक्य तथा "यह अन्तर्विरोधपूर्ण है कि 'कुछ अ है किन्तु अ नहीं है'" वाक्य एक ही प्रकार के हैं, क्योंकि जबकि द्वितीय वाक्य हमें कोई जानकारी नहीं देता, प्रथम वाक्य हमें जानकारी देता है।

किन्तु व्याख्यात्मक परिभाषा-वाक्य इनमें से किसी भी प्रकार के नहीं हैं, क्योंकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्याख्यात्मक परिभाषा द्वारा हम अभेद चिह्न '=' के दोनों ओर के वाक्यों में निर्देश की अभिन्नता (आइडेंटिटी आफ डिनोटेशन) का प्रकथन नहीं करना चाहते प्रत्युत बाईं ओर वाक्यों के अस्पष्ट अभिप्राय (सेंस) को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहते हैं। तब क्या परिभाषित और परिभाषा वाक्य परस्पर अर्थ के भाग हैं और इस प्रकार 'अ=$_P$इ'* विश्लेषणात्मक वाक्य है? यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आसावरी राग'=$_P$' अमुक अमुक स्वर संस्थान' में दाईं ओर का वाक्य बाईं ओर के वाक्य के अर्थ में उस प्रकार प्रदत्त नहीं है जिस प्रकार 'पंखों वाला प्राणी' 'पक्षी' के अर्थ में प्रदत्त है। इस प्रकार परिभाषा न आनुभविक है, न अनिवार्यतः सत्य है और न विश्लेषणात्मक है।

विश्लेषणात्मक दर्शन में परिभाषा का कार्य, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, परिभाषेय पद के प्रयोग-प्रसंग का उद्घाटन है और यह उद्घाटन परिभाषेय पद के परिभाषा पदों द्वारा स्थानान्तरण (रीप्लेसमेंट) के रूप में, अथवा कहें, परिभाषा पद द्वारा निर्दिष्ट वस्तु (एंटिटी) के मूल पदों द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं में स्थानान्तरण के रूप में, सम्पन्न होता है। इस प्रकार हम 'इसे स्थानान्तरण विश्लेषण' भी कह सकते हैं।

यहां आपत्ति की जा सकती है, और बहुतों ने यह आपत्ति की भी है, कि स्थानान्तरण विश्लेषण व्याख्यात्मक परिभाषा का पर्याय किस प्रकार है? उदाहरणतः 'यह मेज़ है' वाक्य लें। अब इस वाक्य की परिभाषा '=मूलवाक्य व$_1$ · · · · वन', किस प्रकार व्याख्यात्मक है जबकि '=' के दाईं ओर के वाक्य स्थानान्तरण-विश्लेषण वाक्य हैं? यहां इस का उत्तर देने से पूर्व एक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। व्याख्यात्मक परिभाषा आवश्यकरूप से एक ही नहीं होती, एक पद की दो या अधिक परिभाषाएं भी हो सकती हैं और वे कुछ भिन्न प्रयोग-प्रसंगों की उद्घाटक हो सकती हैं। किन्तु इन भिन्न परिभाषाओं के लिये यह आवश्यक है कि ये किसी स्थान पर परस्पर अनुरूप हों। किन्तु ये दोनों परिभाषाएं व्याख्यात्मक होनी चाहियें और प्रसंगानुसार इन दोनों का उपयोग संभव होना चाहिये। इस प्रकार परिभाषेय तथा परिभाषा वाक्यों की समता स्वीकृति (डिसीयन) द्वारा स्थापित की जाती है यद्यपि यह समता पूर्वविद्यमान समताओं पर आधारित होती है। इस स्पष्टीकरण के पश्चात् 'यह मेज़ है' की मूलवाक्यों में परिभाषा का कार्य स्पष्ट हो जाता है। इस वाक्य की परिभाषाएं अन्य भी हो सकती हैं, जो इसके कुछ प्रयोग-प्रसंगों का उद्घाटन कर सकती हैं, किन्तु मूलवाक्यों में इसकी परिभाषा इसके प्राकरणिक प्रयोग-प्रसंगों का उद्घाटन करती है। उदाहरणतः 'यह मेज़ है' की परिभाषा कि "यह इतना लम्बा चौड़ा है, इसकी चार टांगें हैं, यह कुछ वस्तुएं रखने के काम में आता है" आदि उचित है, किन्तु ज्ञानमीमांसा की चर्चा के प्रकरण में यह उपेक्ष्य है।

*'=$_P$' 'परिभाषया समान' का संकेत है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद

किन्तु स्थानान्तरण विश्लेषण के आलोचकों की दूसरी, और अधिक गंभीर, आपत्ति अन्य है। उनका कहना है कि "स्थानान्तरण विश्लेषण यह पूर्वकल्पित करता है कि वह स्थानान्तरित के सम्पूर्ण प्रयोग-प्रसंगों का समावेश करता है, जबकि ऐसा वह नहीं कर सकता।" यह आलोचना इस दृष्टि से उचित है कि अनेक विश्लेषणवादियों ने ऐसा समझा कि वे परिभाषा द्वारा वास्तव में किसी वस्तु का स्थानान्तरण कर रहे हैं। किन्तु विश्लेषण के ठीक उद्देश्य को समझ लेने पर यह भ्रम दूर हो जाना चाहिये। जैसाकि हम कह चुके हैं, परिभाषा प्रयोग-प्रसंग का उद्घाटन है और स्थानान्तरण अस्पष्ट प्रयोग प्रसंग का स्पष्ट तथा नियत प्रयोग-प्रसंग द्वारा होता है। इस प्रकार, विश्लेषण द्वारा यह अभीष्ट नहीं है कि विश्लेष्य के स्थान पर संवेदों को रख दिया जाय, प्रत्युत यह कि 'मेज़' द्वारा व्यक्त अस्पष्ट और अनियत प्रयोग-प्रसंग का मूलवाक्यों के रूप में स्पष्ट तथा नियत प्रयोग-प्रसंग द्वारा स्थानान्तरण कर दिया जाय। इसमें कुछ कठिनाइयां हैं, किन्तु विश्लेषण का उद्देश्य उपर्युक्त प्रकार से समझ लेने पर ये कठिनाइयाँ किसी भी प्रकार से अनिराकरणीय नहीं हैं। उदाहरणतः किसी 'वस्तु वाक्य' के अपसारण के लिये असीम मूलवाक्य आवश्यक हैं। अब असीम मूलवाक्य घटित नहीं हो सकते, अतः यह विश्लेषण असंभव है। किन्तु वास्तव में असीम मूलवाक्यों का चरितार्थन अभीष्ट भी नहीं है, संवेद वाक्यों का वास्तव में परिगणन संवेदों के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (साईंटीफीक थीयरी आफ सेंसा) का कार्य है, दार्शनिक विश्लेषण का कार्य केवल प्रयोग-प्रसंग का संकेत करना है और इसका यह कर्त्तव्य 'असीम' तथा 'मूलवाक्य' का अर्थ तथा प्रसंग आप को बता कर समाप्त हो जाता है। दार्शनिक विश्लेषण की समस्या वास्तव निर्धारण (मैटीरियल कंडीश्नल) तथा उभयविध निर्धारण (बाई कंडीश्नल) आदि की समस्या है और इस समस्या का सुलंझाव समस्या को समझ लेने में है। उदाहरणतः,यदि 'यह मेज़ है' वाक्य असीम संवेदों को लागू करता है तो यह कभी भी पूर्णतः प्रमाणीय (और अतएव सन्देहोपरि) नहीं है। हमें इस परिणाम से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह परिणाम व्याख्यात्मक परिभाषा से सम्बद्ध है, यह हमें अपनी बैठक में विद्यमान मेज़ के प्रति सन्देहशील नहीं बनाता। जैसाकि हमने सार्थकता निबन्ध में देखा है, हम वस्तु-पदों को अपनी अवधारणात्मक योजना में 'आरोपित' (पोज़िट) के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, और यह प्रतिपादन विश्लेषण के वास्तव अभिप्राय को और भी स्पष्ट कर देता है।

इसी प्रकार, रसल का संख्या पदों का विश्लेषण, [कोई प्राकृतिक संख्या (नैचुरल नंबर) व्यष्टियों के 'अनुरूप वर्गों का वर्ग' है] यह प्रतिपादित नहीं करता कि संख्याएं नहीं हैं, यह केवल संख्या-पदों के प्रयोग-प्रसंग को स्पष्ट करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

किन्तु विश्लेषण की अवधारणा एक कठिन समस्या प्रस्तुत करती है, जिसकी ओर हम पहले भी संकेत कर चुके हैं। वह यह है कि विश्लेषण जबकि उचित प्रयोग–प्रसंग का उद्घाटन करता है, यह उचित प्रयोग-प्रसंग तथा अनुचित प्रयोग-प्रसंग के ज्ञान को पूर्वकल्पित करता है। अर्थात् किसी अवधारणा के विश्लेषण से पूर्व हमें यह पता होना चाहिये कि इसका उचित प्रयोग-प्रसंग क्या है, केवल तभी हम यह कह सकते हैं कि अमुक इसका उचित प्रयोग-प्रसंग नहीं है। यह हमें एक अभेद्य चक्र में डाल देता है: विश्लेषण किसी अवधारणा (पद) के उचित प्रयोग-प्रसंग का उद्घाटन करता है, किन्तु साथ ही यह मान कर चलता है कि हम उचित प्रयोग-प्रसंग को जानते हैं। हेर ने अपने निबन्ध "फिलासफीकल डिस्कवरी" में यह एक रूपक द्वारा बहुत विस्तार से दिखाया है। वास्तव में कभी कभी तो विश्लेषण-पूर्व की यह समानार्थकता स्वयं प्रस्थापित की जाती है। हम परिभाषा की शर्तें पहले तय कर लेते हैं और तब परिभाषेय और परिभाषा वाक्यों को समीकरण चिह्न के दायें-बायें रख देते हैं। आर्थर पैप से उदाहरण लेते हुए, यदि नीत्शे के समान अरिस्टोक्रैट्स 'शिव' पद का प्रयोग ऐसी संस्थाओं तथा व्यापारों के लिये करने में उचित हैं जो समाज की हानि करके भी अभिजात वर्ग के स्वार्थों की सिद्धि में सहायक होते हैं, तो ह्यूम का 'य शिव है' का 'य बहुमत द्वारा स्वीकृत है' में विश्लेषण अनुचित है। और दूसरी ओर, यदि प्रजातन्त्रवादी विश्लेषण ठीक है तो अरिस्टोक्रैट्स द्वारा इस विधेय का प्रयोग अनुचित हो जाता है"[१३]। वास्तव में यह अधिकांश दार्शनिक विश्लेषणों के लिये सत्य है। ये विश्लेषक पूर्वप्रतिज्ञाओं की स्थापना ही इस प्रकार करते हैं कि परिणाम केवल पुनरुक्ति हो कर रह जाता है। इन परिभाषाओं की विशेषता इस बात में नहीं है कि इनके परिणाम क्या हैं, प्रत्युत इसमें है कि ये पूर्वप्रतिज्ञाओं के लिए क्या औचित्य प्रस्तुत करती हैं।

किन्तु यही आपत्ति हमारे "वस्तु–पदों" आदि के विश्लेषण पर भी की जा सकती है: यह कहा जा सकता है कि हमारा इन पदों का उपर्युक्त विश्लेषण अनुभव को आधार मान लेने से स्वतः अनुगत होता है। एक सीमा तक यह ठीक है; क्योंकि यह परिभाषा मात्र के लिये ठीक है, जैसाकि हमारे पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। किन्तु अनुभववादियों का यह दावा है कि उनका विश्लेषण (१) हमारी भाषा के प्रयोग-प्रसंगों (कांटेक्स्ट ऑफ यूज़) तथा (२) हमारे ज्ञान की प्रकृति से निर्धारित होता है। किन्तु यह स्वीकृति विश्लेषण की उपयोगिता को सन्देहास्पद बना देती है, क्योंकि इसका अभि–प्राय है कि विश्लेषण पूर्वतः विद्यमान समानार्थकता (साइनोनिमी) का प्रकथन मात्र

12. R.M. Hare - Philosophical Discovery, Mind, April 1960.
13. Elements of Analytic Philosophy, P. 460.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान का परिणाम है।

हमारे विचार में हमें प्रथम परिणाम स्वीकार करना चाहिए: हमारे दार्शनिक वाक्य विश्लेषण-पूर्व स्थापित समानार्थकता पर आधारित होते हैं, अन्यथा मुझे नहीं मालूम कि 'प्रयोग-प्रसंगों के स्पष्टीकरण' को किस प्रकार अर्थ दिया जा सकता है। किन्तु विश्लेषण सृजनात्मक भी है, यह कुछ गुप्त को सम्मुख लाता है तथा नवीन प्रयोग-स्थितियों और सम्भावनाओं की ओर संकेत करता है।

किन्तु दूसरा परिणाम कुछ अधिक समस्यात्मक है, यद्यपि यह अनुभववाद का आधार कहा जा सकता है। यहां समस्या यह है कि ज्ञान के स्रोतों तथा प्रकृति की परीक्षा वैज्ञानिक का कार्य है, यह कार्य दार्शनिक का नहीं है। अन्यथा या तो दार्शनिक अपने समय के वैज्ञानिक अनुसन्धान को यथावत् स्वीकार करते हुए उस पर अपनी नियमनात्मक प्रणाली का निर्माण करे अथवा वह 'ज्ञान की प्रकृति' के सम्बन्ध में आग्रह ही छोड़ दे।

हमारे विचार में प्रथम रास्ता कोई रास्ता नहीं है, यह हमें कहीं नहीं पहुँचाएगा। हम प्रतिदिन नवीन निगमनात्मक प्रणालियों (Deductive Systems) का निर्माण नहीं करते रह सकते। दार्शनिक वैज्ञानिक के वाक्यों का विश्लेषण करके उनके अर्थ तथा अवधारणात्मक संस्थान (स्कीम, पैटर्न) का निश्चय कर सकता है, यह 'विज्ञान का दर्शन' कहलाएगा। किन्तु वह वर्गसां के समान कुछ वैज्ञानिक खोजों को अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा बना कर यदि चलता है तो वह केवल घपले की सृष्टि करता है। वह समझता है कि वह किसी आत्यन्तिक सत्य का अनुसन्धान कर रहा है जिसे वैज्ञानिक अपनी सीमाओं की संकुचितता के कारण नहीं कर सकता। किन्तु वास्तव में वह परिभाषाओं की सृष्टि ही करता है, जो उसका भाग्य है।

दार्शनिकों ने "ज्ञान की समस्या" का विश्लेषण कभी वैज्ञानिक समस्या के रूप में नहीं किया। उदाहरणतः व्याघात की समस्या विशुद्धतः तार्किक समस्या है और यह ज्ञान की तार्किक समस्या का आधार है। अनुभववादियों तथा तत्ववादियों के बीच विवाद भी पूर्णतः दार्शनिक है और हमारे विचार में इसमें अनुभववादी उचितरूप से श्रेष्ठतर होने का दावा कर सकते हैं। उदाहरणतः अनुमान तथा भ्रम के प्रश्न को लें। हम धूएं से आग का अनुमान करते हैं। हमारे नैयायिकों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि हम सृष्टि से ईश्वर का अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार, संवेदों से पदार्थ के अनुमान का औचित्य स्थापित किया गया। वेदान्तियों ने रस्सी में सांप के भ्रम के सहारे दृश्यमात्र को भ्रम प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। किन्तु धूम्र से आग का अनुमान तथा संवेद से वस्तु का अनुमान सर्वथा भिन्न प्रकार के अनुमान हैं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्योंकि ये अनुमान संवेद्य से संवेद्य के हैं जबकि दूसरा संवेद्य से असंवेद्य का है। यह निर्णय विशुद्ध रूप से तार्किक निर्णय है। अब अनुभववादी को यह दावा नहीं करना चाहिये कि ज्ञान केवल पंचेन्द्रियों के द्वारा ही होता है, और उसने अब ऐसा कहने में निहित भूल को समझना आरम्भ कर दिया है। दार्शनिक को अपना कार्य विभिन्न प्रमाणों तथा अवधारणाओं के तार्किक प्रकार निर्धारित करने तक सीमित रखना चाहिये। हमारे विचार में यह उसे 'रक्त, यहां, अब' तथा पीड़ा, यहां, अब,'' जैसे मूलवाक्यों को उचित मूलवाक्य स्वीकार करने को बाध्य करेगा। किन्तु वह अन्य प्रकार के मूलवाक्यों के लिये अपने द्वार खुले रख सकता है। अन्य प्रकार के मूलवाक्यों का प्रवेश उसकी सामान्य निगमनात्मक योजना (डिडक्टिव सिस्टम) को खण्डित नहीं करेगा, यह केवल उसकी सामान्य अवधारणात्मक योजना को विस्तृत करेगा अथवा उसमें व्यवस्थान्तरण (री-एडजेस्टमेंट) को आवश्यक करेगा। मूलवाक्यों का क्षेत्र सीमित करने में मुझे इसके सिवाय और कोई तुक दिखाई नहीं देती कि यह सीमा हमारी अवधारणात्मक योजना (कांसेप्चुअल स्कीम) द्वारा लागू होती है, किन्तु हमारी अवधारणात्मक योजना हमारे विशेष समय के ज्ञान की सापेक्ष है। दर्शन के पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि वह हमारे मूलवाक्यों का क्षेत्र नियत कर सके। दार्शनिकता सम्भावनाओं के प्रदर्शन में है।

इस स्थिति को कभी कभी ग़लत समझा गया है। उदाहरणतः यह कहा गया है कि दार्शनिक विश्लेषण केवल वैज्ञानिक क्षेत्र में उपयुक्त है, तत्वमीमांसा के क्षेत्र में नहीं।* और इस प्रकार, मानो तत्वमीमांसा ऐसा क्षेत्र है जो समानरूप से तर्क-प्रतिष्ठित है, केवल यह दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में नहीं आता। यह समझना कठिन है कि उनका इससे ठीक-ठीक क्या अभिप्राय है; क्योंकि तत्वमीमांसा का प्रत्याख्यान तार्किक आधार पर है। तत्वमीमांसा (अनुभवातीत के अर्थ में) तर्कतः अकथनीय का कथन करती है, यह वर्गणा दोष (कैटेगोरी मिस्टेक) का शिकार है। यद्यपि अनुभवों के सम्बन्ध में कथन भी आनुभविक नहीं हैं, किन्तु वे कथन अनुभव के सम्बन्ध में होने से उसी क्षेत्र के (वर्ग के नहीं) हैं। जैसे हमने "मूलवाक्य" में प्रमाणीकरण पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि मूलवाक्य प्रमाणीय नहीं हैं किन्तु वे प्रमाणीकरण के क्षेत्र में हैं, क्योंकि प्रमाणीकरण-प्रसंग उनका अनिवार्यतः समावेश करता है।

जहां तक दार्शनिक वाक्यों के "संश्लेषणात्मक-विश्लेषणात्मक" की सीमा के अन्तर्गत न समा सकने का सम्बन्ध है, इससे तत्त्वमीमांसा की संभावना को बल नहीं मिलता और न ही, जैसाकि हमारे विवेचन से स्पष्ट है, ये इससे अर्थहीन हो जाते हैं। रसल ने

* द्रष्टव्य–अनुभववाद पुस्तक में डा. मसीह तथा प्रो० मूर्ति के निबन्ध। इसी प्रकार अन्य अनेक दार्शनिकों का मत भी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आनुभविक वाक्यों के सम्बन्ध में वाक्यों का कथन करने के लिये द्वितीय स्तरीय भाषा का विधान किया है। अब मान लीजिये कि वह उपयुक्त व्याख्या नहीं है, तब भी उससे यह स्पष्ट है कि वह समस्या किस प्रकार की है, जैसे मीनांग की समस्या से यह स्पष्ट होना चाहिये था कि स्वर्ण पर्वत के अस्तित्व की समस्या किस प्रकार की है। जैसे मीनाँग की समस्या के आधार पर स्वर्ण पर्वत को विलक्षण-प्रकार का अस्तित्व मानना भूल थी उसी प्रकार ऐसे वाक्यों की समस्या से तत्वमीमांसा की संभावना को स्वीकार करना भूल है।

हम विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक के द्वैधीभाव (डिकोटोमी) को छोड़ कर इनके साथ प्रतिपादनात्मक (विधानात्मक) वाक्यों को तीसरी प्रकार के वाक्य स्वीकार कर सकते हैं, और इस प्रकार "विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक-प्रतिपादनात्मक' के त्रैधीभाव (ट्रिकोटोमी) को स्वीकार कर सकते हैं, और यह किसी प्रकार से भी अनुभववाद द्वारा स्वीकृत स्थिति को हानि नहीं पहुंचाता। इस त्रैधीभाव का स्वीकार किसी प्रकार से असीम निवर्तन (इन्फिनीट रीग्रेस) दोष को भी जन्म नहीं देता, क्योंकि प्रतिपादनात्मक वाक्यों के प्रतिपादनात्मक वाक्य उतने ही प्रतिपादनात्मक हैं जितने अनुभव के प्रतिपादनात्मक वाक्य प्रतिपादनात्मक हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्धृत ग्रंथ-सूची

1. Ayer , A.J. — Language. Truth and Logic. Landon: Gollancz, 2nd Ed. 1946.
2. „ „ „ „ — The problem of knowledge, Macmillan & Panguin Books, 1956.
3. Bergmann, Gustav. — Meaning and existance, University of Visconsin Press, 1960.
4. „ „ „ „ — Metaphysics of Logical Positivism, London: Longman Green, 1954.
5. Bergson, H. — Creative Evolution Eng. Translation, Macmillon, New Yark.
6. Broad, C.D. — The Mind and its place in nature London: Kegan Paul, 1937.
7. Carnap, R. — Logical syntax of language London: Kegan Paul, 1937.
8. „ „ „ „ — Unity of Science, London: Paul, 1934
9. Pap, A. — Elements of Analytic Philosophy, New Yark, Macmillan, 1949.
10. Popper, Karl — Logic of Scientific discovery, London: Hutchinson, 1958.
11. Price, H.H. — Thinking and experience, london, Hutchinson, 1953.
12. Quine, W.V.O. — From a Logical point of View, Cambridge, Harvard University Press, 1953.
13. „ „ „ „ — Methods of logic, London : Kegan Paul, 1953.
14. „ „ „ „ — Mathematical Logic Cambridge : Harvard Univ. Press.
15. Russel B — The problems of Philosophy, Home University Press, 1912.
16. „ „ — Our Knowledge of the External World, London, Allen & Unwin 1926, 2nd Ed.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

17. Russell,B. — Introduction to Mathematical Philosophy, London: Allen & Unwin 1921.

18. „ „ „ — The Analysis of Mind, London: Allen and Unwin 1921.

19. „ „ „ — An Outline of Philosophy, London: Allen and Unwin 1927.

20. — An Inquiry into Meaning and Truth London: Allen and Unwin 1940.

21. „ „ „ „ — Human knowledge: Its scope and limits, London Allen & Unwin, 1948.

22. „ „ „ — Logic and Knowledge, Essays 1901–1950. London, Allen and Unwin, 1956.

23. Ryle, G. — The Concept of Mind. London, Hutchinson, 1949.

24. Santayana, — Sceptisism and Animal Faith

25. „ „ — Essays in Critical Realism.

26. Urmson, J. O. — Philosophical Analysis. Oxford, Clerandon press, 1956.

27. Warnock, G. J. — English Philosophy since 1900. Oxford University Press, 1958.

28. Wittgenstein, L. — Tructatus Logico Philosophicus, London: Kegan Paul, 1922.

29. „ „ „ „ — Philosophical investigations Oxford: Blackwell, 1953.

30. Yash Dev shalya (सं) — मनस्तत्व हिन्दोस्तानी एकेडमी, इलाहबाद।

COLLECTIONS.

1, Ayer, A.J. (Ed.) — Logical positivism Free Press, Illinois; Allen & Unwin London, 1959.

2. Linsky, L. (Ed.) — Semantics and the Philosophy of Language, Urbana: University of Illinois, 1952.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

3. Flew, A.G.N. (Ed.) — Logic and Language, 2nd Series Oxford: Blackwell, 1953.

4. Yash Dev shalya — अनुभववाद अखिल भारतीय दर्शन परिषद, फरीदकोट १९६०.

उद्धृत लेख-सूची

1. Adam — Inadiquacy of Phenomenalism, (Phil. and Phenomenalogical Research, September, 1958)

2. Adam — The Nature of the Sense Datum Theory. (Mind, April, 1958.)

3. Ayer, A. J. — Experience and Verification (Logical positivism)

4. Ayer, A. J. — Indivuals. (Mind, July, 1952)

5. Bergmann, G. — Ineffability, Ontology, and method. (Philosophical Review, Jan, I960)

6. Carnap, R. — Psychology in Physical Laguage. (Logical Positivism).

7. ,, ,, ,, — Testability and Meaning (Philosophy of Science, Oct. 1936-Jan. 1937).

8. ,, ,, ,, — Elimination of Metaphysics. (Logical Positivism)

9. ,, ,, ,, — On the Cheracter of Philosophical Problems (Phil. of Science, Jan. 1934)

10. Findley, John — Some Reflections on Meaning (Indian Journal of Philosopy, April, 1960)

11. Geash, P.T. — Subject & Predicate (Mind, Oct.1950)

12, Goodman, N. — On Likeness of Meaning (Semantics and the Philosophy of Language).

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

13. Hemple — Empirical Criterion of Meaning (Logical Positivism)

14. Hare — Philosophical Discovery (Mind, April, 1960)

15. Jane Austin — A Plea for Excuses (Proceedings of Aristotalion Society, 1956-57)

16. Murty, J R.L.S. — तर्कात्मक भाववाद द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान (अनुभववाद).

17. Masih, Y. — तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान (अनुभववाद).

18. Paul Ziff — About Behaviourism (Analysis, June, 1958)

19. Paul, E. J. — Is There a Problem of Sense-data ? (Logic and Language, II series)

20. Pravas Jivan Chaudhury — Vedanta as Transcendantal Phenomenalogy (Phil. and– Phenomenalogical Reasarch Dec. 1959)

21. Radha Krishnan. S. — Inaugural Address (Proceedings of Indian Philosophical Congress, 1950).

22. Sellers — Sensations as Guides to Perceiving (Mind, Jan. 1959)

23. Stace — Some Misinterpretations of Empiricism (Mind, July, 1958)

24. Suresh Chandra — Defending Scepticism (unpublished).

25. Yash Dev Shalya — संवेद और भौतिक विषय दार्शनिक, अप्रैल १९५८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पारिभाषिक शब्दावली
इंगलिश पर्याय

अकथनीयता	Ineffability
अगमन	Induction
अनिश्चित	Variable
अनुमान	Inferance
अनुभवातीत	Transcendental
अपरिभाषेय	Undefinable
अभ्युपगम	Hypothesis
अर्थीय निर्देश	Propositional-Designata
आरोपित	Posit
अवधारणा	Concept
अवगति	Awareness
अस्तित्वमीमांसा	Ontology
उदाहरण	Instance
उदाहरित करना	To instantiate
ज्ञानमीमांसा	Epistemology
तथ्य	Fact
तर्कवाक्य / वाक्यीय प्रतिज्ञा	Proposition
तर्कवाक्यीय व्यापार	Propositional-function
तार्किक प्रकार	Logical Type
निगमन	Deduction
निर्देशात्मक प्रकार	Indicative-Mood
निर्मध्यता सिद्धान्त / मध्यन्तर निषेध का सिद्धान्त	Law of-Excluded-Middle
निरूपण	Description
निश्चित	Constant
पुनरुक्ति	Tautology
पुनारचनावाद	Reconstruc-tionism
पुष्टि	Confirmation
प्रकथन	Statement
प्रदत्त	Given
प्रस्तुत	Given / Presented
प्रविधि	Method
प्रदृष्ट प्रकार के	of observable-Type
प्रागनुभविक	A Priory
प्रातिभ	Intuition
भाव	Intention or Meaning
भाववाद	Positivism
भावात्मक भाषा	Intentional-Language
भौतिक भाषावाद	Physicalism
मिश्र	Complex
मूल वाक्य	Basic Sentance
रचना	Construction
रूप	Form
रूपात्मक तर्क	Formal Logic
लिपिरूपवाद	Inscriptionism
वर्ग	Class
वर्णन	Description
वस्तु	Content
वस्तु	Thing
वाक्य-रचना	Syntax

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक्य घटना	Sentance-Token
वाक्य प्रकार	Sentance Type
वाक्यीय व्यापार	Sentantial-function
विशिष्ट	Particular
विश्लेषणात्मकता	Analyticity
विस्तार	Extention
विस्तारात्मक भाषा	Extentional-Language
व्यष्टि	Individual
संक्रमणात्मक	Transitive
समात्मक	Symetrical
समानार्थकता	Synonimy
संश्लिष्ट	Complex
सरल	Simple
सारूप्य	Indenity

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुद्धि पत्र

पुस्तक में कुछ अधिक अशुद्धियां रह गयी हैं। यहां सब अशुद्धियां नहीं दी जा रही हैं। प्रेस के कम्पोज़ीटरों ने व तथा व में भेद करना आवश्यक नहीं समझा, अतः व के बजाय व बहुत स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। हमने भी अब यही उचित समझा है कि हमारा भी इसे अशुद्धि न मानने में ही कल्याण है। कुछ और अशुद्धियां भी कम महत्त्व की समझ कर छोड़ दी गयी हैं। उसके लिये हम पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। पंक्ति-संख्या के साथ ऊ तथा नी का प्रयोग क्रमशः 'ऊपर से' तथा 'नीचे से' के लिये है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
सद्यः अनुभव के विषय से	सद्यः अनुभववाचक पद से	१३	५ ऊ
वक्राय	वाक्य	१४	८ ऊ
वाक्य	वाक्य	१४	१८ ऊ
अन्तर है दूसरी श्रेणी में	अन्तर है; दूसरी श्रेणी में	१६	७ नी
संज्ञा)	(संज्ञा)	२०	१ ऊ
किसी भी त्रिषय यथा रक्त	किसी भी विषय, यथा रक्त,	२६	१ ऊ
सार्वजनिुक	सार्वजनिक	३०	१ ऊ
अण्ड वृत्ताकार हो,"	अण्डवृत्ताकार हो,	३१	१७ ऊ
१–सन	स१-सन	३६	४ ऊ
पूर्व प्रामाण्य	पूर्ण प्रामाण्य	३७	५ नी
है, यह कभी	है, हम यह कभी	३७	१ नी
रुचि	रुचि	४०	५ ऊ
संदिग्धत	सन्दिग्धता	४२	१२ नी
⊂	⊃	५६	१५ नी
- - -	• • • • • • •	५६	१४ नी
अतः "ग१ (ग१) " तथ्य	अतः "ग१ (अ)" तथ्य	५७	७ ऊ
अप्रासंगिक होगा	अप्रासंगिक न होगा	६३	७ ऊ
वास्तव स्टाउट	वास्तव में स्टाउट	६८	७ ऊ
बर्णस्थान	वर्ण संस्थान	६६	६–७ ऊ
(तर्कवाक्यीय व्यापारों–	(तर्कवाक्यीय व्यापारों)	७१	६ नी
-तर्कवाक्यीय व्यापारों)	(तर्कवाक्यीय व्यापारों)	७१	८ नी
'०मनुष्य है'	' ① मनुष्य है'	७२	७ ऊ
(य7)	(7य)	७७	३ ऊ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(य) म (य) ⊃ (य)	(य) म (य) ⊃ प (य)	७७	१० नी
प्रर्याय	पर्याय	८५	१० नी
अवधारात्मक	अवधारणात्मक	८८	४ ऊ
आवश्यक्ता	आवश्यकता	६२	७ नी

पृष्ठ १०८ पर फुट नोट छपना रह गया है, वह फुट नोट है–प्रोब्लम आफ नोलेज पृ० १८७-१६७

वाक्यीय व्यापार	वाक्य	११७	१५ ऊ
‘यहां’ कोई	‘यहां कोई’ ...	११६	१० ऊ
‘ ∽ (∃य) यहां (म)	‘∽ (∃ य) यहां (य)’	११६	१० नी
विध्यात्मक अर्थ	प्रकथनात्मक अर्थ	१२१	८ नी
न यह हैं	न यह प्रमाणीय है	१२३	८ नी
संगति	संगत	१३२	१३ ऊ
“लेखक” का अर्थ है “लेखक”	‘लेखक’ का अर्थ है “लेखक”	१४५	१४ नी
प सत्य है	(प) सत्य है	१५०	१२ नी
अस्तय	असत्य	१५२	३ ऊ
एव	अब	१५२	१३ ऊ
पृर्थक	पृथक्	१७७	८ ऊ
ब्रह्य	ब्रह्म	१७६	५ ऊ
प्रज्ञिाओं	प्रतिज्ञाओं	१७६	१२ नी
और	ओर	१६०	११ ऊ
मनोवैज्ञानिक को	दार्शनिक विश्लेषक को	१६५	३ नी
न्यूरथ	न्यूरथ	१६५	१३ नी
रहस्यावेषी	रहस्यान्वेशी	१६७	७ नी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

अकथनीयता—५५।
अनुभववाद (व्याख्या)–१६४-६६।
अनुभवातीत—१६, १७, ४५–४६, ६०, ७६, १२६-२८, १५७।
अन्य मन—१०४-१०८, १५२-१५४, १५७-१५८।
अपूर्ण प्रतीक—२०, २६।
अभिधान (अभिधानात्मक, अभिहित करना)-३५, ४७-४८, ५१-५४, ५७, १६३।
अरविन्द (योगी) १७७, १७६।
अर्थ (द्रष्टव्यः सार्थकता)
–प्रज्ञानात्मक—१५२-५३।
–और संकेत (अथवा निर्देश)—१०१-१०२, १४३-४७, १६०-७४, १८६।
अवगति वाक्य—६४-१०१, १६०-६७, १७०।
अवधारणात्मक योजना—१६, २२, ३६, ५०, ७३, ८३-६६, ११०, १२८, १४२, १५२, १५४, १५८, १५६, १७४-७६, १८१, १८४-८६, २०५-६।
अस्तित्व—३१-३२, ४७-४८, ५१, ५४, ५७ ५६-८२, १२२, १५७, १६१, १८७–८८, १६१-६३।
अस्तित्वमीमांसा—४७-५८, ७३, १४६, १६२, १७६, १६१।
अस्तित्ववादी—१७८।
आईंस्टीन (अल्बर्ट १३३।
आक्सफोर्ड सम्प्रदाय—१८०-८१, १६०-६१।
आरोपित (पोज़िट्स)–१३१-१३४, २०३।
आस्टिन (द्रष्टव्यः जेन आस्टिन)।
इन्द्रियविषयातीत (द्रष्टव्यः अनुभवातीत)।
उद्देश्य (और विधेय)—४८-५६, ६०-६२, ६८-१००, १६२, १८६।
उभय भाषावाद—६०।
उर्मसन—३३।
एडाम—४१, १३३-३५, १६२।
एयर—१६, १७, २१, ३३, ३५, ४१-४३ ४५, ७६, ६१, १०८-११०, १२७, १४६, १५६, १६५।
ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद—१६६।
कांट—१८६।
कार्नप—१६, २०, २६, ६५, ६३-६४, १०२-१०३, ११३, ११६, १२०, १२५-२८, १६३, १६०, १६५।
कार्नेपियन—१५८।
किश्होल्म—१६२।
क्वाइन—६२, ७१-७४, ७६, ८०, ८६, १२४, १२८, १२६, १४६, १६५, १७१' १७४।
गीश—६२, ६४।
गुण—४८-५२, ५७, ६०, ६१।
गुडमान—१६६-७०, १७२।
जेन आस्टिन—१८०, १८२, १६०।
जेम्ज़—१८३।
ज्ञानमीमांसा—२७, ६०, ६७, ७५, ६०, ६३ ६४, १६८, १६६, १६२।
–और अनुभववाद–१६२-६३।
डेकार्ट—१६२।
तत्वमीमांसा (आलोचना)—१८६, १८२-८८।
तथ्य—१५, ४७-५८, ७४, ८५, १८५।
तथ्य अस्तित्ववाद—४६-५५, ५७।
तर्कवाक्यीय व्यापार—७१-७३, ७४।
तार्किक संगति (का सिद्धान्त)–११६-२७, १५४, १५८-५६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

दार्शनिक वाक्य—२००-२०७।
दार्शनिक विश्लेषण—१७७-२०७।
निरूपण—१६-२०, ७७, ८०।
निर्मध्यता सिद्धान्त—१५४-५५, १५८-५६, १७४।
नैयायिक—८७, २०५।
न्यूटन—१३३।
न्यूरथ—१६, १२०, १६०, १६५।
परिभाषा—२०-२१, ८५-८६, ६०, २००-२०६।
पाप्पर—२६-२८।
पाल (जी. ए.) ४१।
पाल जिफ्फ—१०६।
पावलाव—२६।
पुटनम—१०१, १०२।
पुनरुक्ति—६२, १०३, १६५, १७१, १८६, १६६-२०७।
पुनारचना—५४-५५, ६३, ८२, ८६-६०, ६४, ६८, १००,१०५, १६४, १६७, १७१, १६१-६२।
पुष्टीकरण—१५-१६।
पैप—४१, १४५, १४८-४६, १५०, २०४।
प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमद्—३५, ११७, १३४-३६।
प्रत्यय—८५।
-वाद—१७३।
प्रदृश्यतावाद—६७,१०८, १३४-१३५,१६२।
प्रमाणीकरण—३७-३८, ४२, ४५-४६, ७६, १०२, १०७, ११२,११६, १२१, १२६-२७, १२६-३३, १३६-४०, १५३-५८, १६५।
प्रमाणीकरणवादी—१५३, २००।
प्रवास जीवन चौधरी—१६७।
प्राइस—१६, ४१, ६६, १२५।
प्रागनुभविक—१६, २१, २०१।
प्लेटो—६३, ७३, ८०।
फिंडले—११७।
फ्रेज—१६५-६६, १८६।
बर्कले—१८२, १८३।
वर्गमान—४८-६२, ५४, ५६-५७, ७१, १४५, १६२, १७३।
वर्गसां—१८३, २०५।
वर्लिन—३५-३६, १३५, १६२।
ब्राड—१६, ४१, ६३, ६६, १००।
ब्रैडले—१८७।
ब्रैडलियन—१५६।
भाव और निर्देश (द्रष्टव्यः अर्थ और संकेत)।
भाववादी—१६-१७,२६, ११२-१३, १२६-२७, १३८-३६, १७६-८२।
भाषा—२३-२४।
-भौतिक वस्तु के रूप में—१६६-६७।
-भावात्मक—१४२-४६, १६०-७६।
-विस्तारात्मक—१२१, १४३, १४६, १६१।
-व्यक्तिगत—२३-२४।
-विश्लेषणवाद १६०-६२।
भूत—८५।
भौतिक—८२-१११।
भौतिक भाषावाद—६०, १००,१०२,१६३।
भौतिक विषय-वाक्य—२०-४५, १३१-३६ १६२।
भ्रम—१५, १८, ३४, ७६, ६५, १६८-६६, २०५-२०६।
मध्यन्तर निषेध का सिद्धान्त (द्रष्टव्यः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

निर्मंध्यता)।
मन—८२, १८६।
मसीह (य.)—२०६।
मानसिक—८२-१११, १८६।
—व्यापारवादी—६७।
मीनांग—१८६-८७।
मूलवाक्य—१३-५७, ७४, ७८, ७६, ८७-६६,१०२, १२०, १२८-१३४, १५४, १६२, १६४-६५, २०२, २०३, २०६।
मूर—१६, ३८, ४१, ६७, ६६,१७७,१८०, १६१।
मूर्ति, ज. र. ल. स.—२०६।
यथार्थ (का विश्लेषण)—१७८।
रचना—१६-२१, ६०, ६२, १०२, ११०, १४६।
रचनावाद—२१।
रसल—२६, ४२-४५, ५६, ६३-६५, ७१, ७२, ७४, ११६, ११८, ११६, १२१,१२५, १३५, १३६, १३८, १३६, १४२, १४७, १५०, १५३, १५५, १६३, १६८, १७७-७६, १८७, १६१।
रहस्यवादी—१६८।
राइल—१६, १७, ३०, ३१, ४१, ६८, १००, १८१, १८२, १६०।
राधाकृष्णन—११२ १३, १६६।
लाइब्नीज़ीयन—१५६।
लिपिरूपवाद (अथवा ध्वनिरूपवाद)—१६८-१७१।
वस्तु—७०-७२।
वस्तु—४७-५५, ६०।
—अस्तित्ववाद—४६-५५।
वाक्य-घटना और वाक्य-प्रकार—१२२-२३, १४२।
वानोक—३३, १६०।
विधेय—(द्रष्टव्यः उद्देश्य)।
विधेयन ४५-५५, ५६।
विघटन-
—वाक्य—१०४-१०५, ११८-११६, १२८, १६३, १६२, १६४, १६५।
—वाद—१०४-१०५, १२८, १६५-६६।
विटगिंस्टाइन—१६,२३-२४, ४८-५०, ५४, ५६-६०, ७६, ११२, १६२-६३, १७६, १८२, १६०-१६१, २००।
विशिष्ट—४८, ४६, ५१, ५२, ५५, ५६-८१, १८७, १६२।
विश्लेषणात्मकता—१६०-१७६, १७६, १६६-२०७।
वीन पाल-१६६, १६६।
वेदान्त—१५८, १७८, १८२, २०५।
-प्रदृश्यतावाद - १६७।
व्यक्तित्व-सारूप्य—१०८-१११।
व्यवहारवाद—१७, ८६, १०२-१०८, १५७-१५८ १६६।
व्यष्टि—४८, ४६, ५२।
शंकर (शंकराचार्य)—८५, ८७, १८३, १६०
शैफ्फर—१६८-१६६।
शोध्यता (और अशोध्यता)—४२-४५।
शोपेनहावर—१६०।
श्लिक—११०, १२०, १२५।
सत्य—५५-५८, ७२, ७५, ७६-८०, ८८, १०६, १२४, १२७, १२६, १३३-३४, १४१-५६, १६०-७६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक विश्लेषण

सत्य मूल्य—१४६, १५१।
सत्यापन—१०४-१०७, ११७-११८, १२१-२२, १३६-३७, १५२-५४।
सद्यः (प्रदत्त)—१३, १४, ४७-५२, ५५-५७, ६४, ६६-६७, १०४, १०६, १०८-१०९।
सन्तयाना—६३।
सब्स्टांस—५२।
समानार्थकता ११६-२३, १२७-२८, १४२, १४५-४७, १६१-७६, २०१-२०२, २०४-२०५।
सम्बन्ध—१८७।
संवेद वाक्य (द्रष्टव्यः मूलवाक्य)।
सामान्य—१६, २४, ५१, ५३, ५४, ५६, ५७, ५६-६१, ११७, १२२, १४७।
सार्थकता—५५, ५६-५८, ७७-८०, ८६, १०२, १०६, ११२-१४०, १४२, १४४-१५५, १७६, १६४, १६६।
सुरेश चन्द्र—३८।
सैल्लर्ज़—१७।
संज्ञा—१३, १४, १६, ४८, ५०, ५२, ७१, ७५, ८६, १६५।
सांख्य—६५।
स्टाउट—६७-६८।
स्टैबिंग (मिस)—१६।
स्ट्रासन—१६२।
स्थानान्तरण-विश्लेषण—२०१-२०३।
स्थानित—५०, ६७।
हेगल—८५, ८७, १८६।
हेतुहेतुमद्वाक्य (द्रष्टव्यः प्रतितथ्यात्मक हेतुहेतुमद्वाक्य)।
हैम्पल—१२७, १३६।
ह्यूम—१७०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai